५

आनन्द-प्रवचन

आचार्य श्री आनन्द ऋषि

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रस्तुत कृति : विद्वानों की दृष्टि में

'आनन्द-प्रवचन' में श्रद्धेय महामहिम आचार्य देव श्री आनन्दऋषिजी म. के धीर-गम्भीर वचनों का सुन्दर प्रवाह 'प्रवचन' के रूप में प्रस्तुत हुआ है। वे आकृति से भी महासागर की तरह प्रशान्त, कान्त प्रतीत होते हैं और प्रकृति से भी। उनके मन की निर्मलता, सरलता, सौम्यता और भद्रता उनकी वाणी में पद-पद पर प्रस्फुटित होती परिलक्षित होगी।

लगता है, आचार्य श्री जिह्वा से नहीं, हृदय से बोलते हैं, इसलिए उनकी वाणी मन पर सीधा असर करती है।

उनके अन्तर में वैराग्य की जो पावन धारा बह रही है, वाणी में उसका शीतल-स्पर्श सहज अनुभव किया जा सकता है।

—उपाध्याय अमर मुनि

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भाग ५

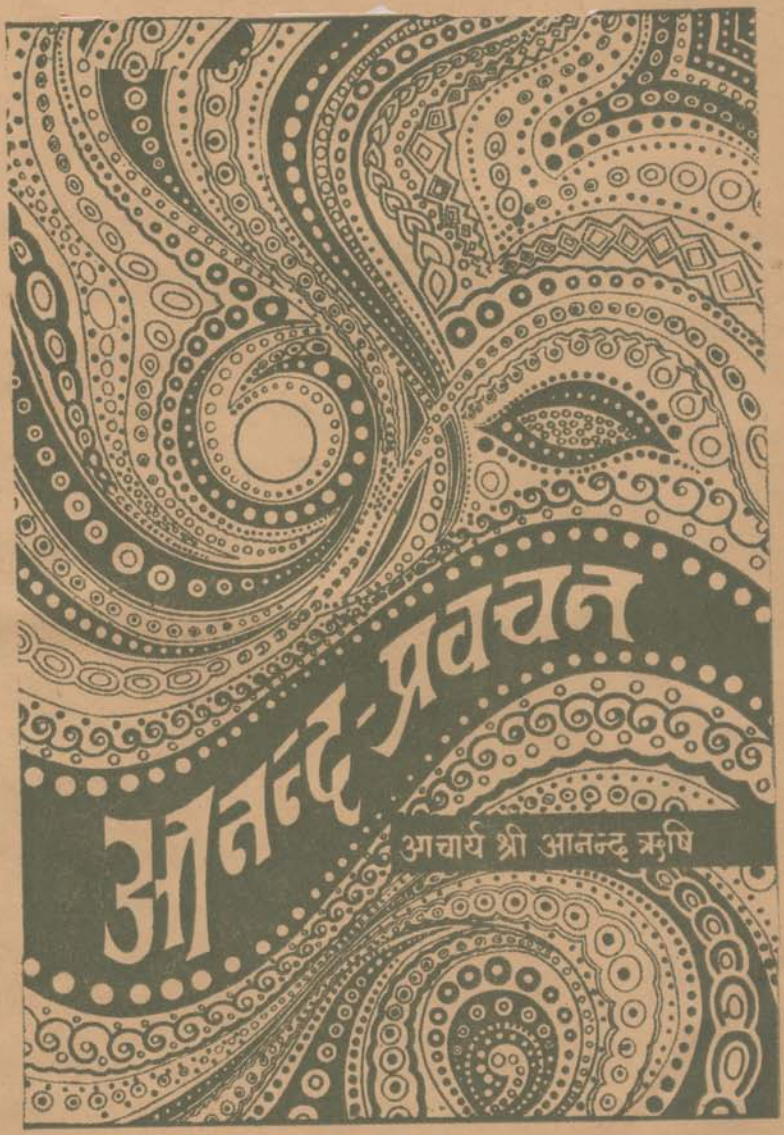

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आनन्द प्रवचन

[पांचवां भाग]

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भगवान श्री महावीर की २५वीं निर्वाण शताब्दी के उपलक्ष में प्रकाशित

आनन्द प्रवचन

[पांचवां भाग]

प्रवक्ता

आचार्य प्रवर श्री आनन्द ऋषि जी

संपादिका

कमला जैन 'जीजी' एम० ए०

प्रकाशक

श्री रत्न जैन पुस्तकालय, पाथर्डी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आचार्यप्रवर श्री आनन्द ऋषि अमृतमहोत्सव प्रसंग पर प्रकाशित

प्रकाशक :
श्री रत्न जैन पुस्तकालय
पाथर्डी, जि० अहमदनगर (महाराष्ट्र)
पृष्ठ : ३६०
प्रथम बार :
वि० सं० २०३१ पौष
जनवरी १९७५
मुद्रक :
श्रीचन्द सुराना 'सरस' के लिए
श्री विष्णु प्रिंटिंग प्रेस, आगरा

मूल्य १५-०० रुपये सिर्फ (बाहर के ग्राहक ८) आठ रुपये

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रकाशकीय

धर्म प्रेमी पाठको !

आपके करकमलों में हम 'आनन्द-प्रवचन' का यह पांचवां भाग उपस्थित कर रहे हैं। अतीव हर्ष का विषय है कि जैनधर्म दिवाकर आचार्य श्री आनन्द ऋषि जी महाराज के प्रभावोत्पादक प्रवचनों को पाठकों ने पसन्द किया है और इसलिए हम उनको संग्रहित करके क्रमशः भागों के रूप में प्रकाशित कर रहे हैं।

आचार्य देव के प्रवचनों का सम्पादन सुश्री कमला जैन 'जीजी' कर रही हैं जिनकी लेखनी विषयों को व्यवस्थित करने में तथा भाषा आदि सभी को सुन्दर रूप देने में सफल साबित हुई है। आपका कठिन परिश्रम और सेवा अविस्मरणीय तथा सराहनीय है।

हम राजस्थान के गौरव पंडितरत्न श्री मिश्रीमल जी महाराज 'मधुकर' के भी कृतज्ञ हैं जिन्होंने 'आनन्द प्रवचन' की प्रस्तावना के रूप में अपने सुन्दर विचार प्रकट किये हैं तथा पुस्तक का महत्व बढ़ाया है।

'आनन्द-प्रवचन' के सभी भागों का प्रकाशन श्रीचन्द जी सुराणा 'सरस' के द्वारा हो रहा है। आपकी मुद्रण व्यवस्था अत्यन्त सुन्दर, आकर्षक एवं प्रभावशाली है, जिसका योगदान पाकर संस्था आभारी है।

हमें विश्वास है कि जीवन के सभी क्षेत्रों का मार्मिक विश्लेषण करने वाले आचार्य श्री के इन प्रवचनों का श्रद्धालु पाठक स्वागत करेंगे तथा इनसे अधिकाधिक लाभ उठाकर अपने जीवन को श्रेष्ठ बनाएंगे।

मंत्री

श्री रत्न जैन पुस्तकालय

पाथर्डी (अहमदनगर)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आभार-दर्शन

[प्रस्तुत पुस्तक के प्रकाशन में अर्थ सहयोग देने वाले सज्जनों की शुभ नामावली]

११०१) पुखराज जी रांका मु० खुशालपुरा
१००१) खुशालचन्द जी पूसाराम जी भुरट—घोडनदी
१००१) मंगलचन्द जी रांका मु० पारसिवनी
६०१) अंगूरीदेवी सूरजभान जी जैन—बड़ौत
५०१) श्री मायादेवी, धर्मपत्नी हंसराजजी जैन—चंडीगढ़
५०१) श्री संतोषदेवी- धर्मपत्नी प्रेमसागर जी जैन—गोविंदगढ़
५०१) मनोहरलाल जी जैन मु० शाहादरा—देहली
५०१) कुलजसराज एण्ड सन्स—देहली
५०१) श्री मैनादेवी, धर्मपत्नी इन्दरचन्द जी सोनी—देहली
५०१) जुगमन्दरदास जी ओमप्रकाश जी जैन—मोतियाखान—देहली
५०१) पुखराज जी चौथमल जी ओस्तवाल—बड़नेरा
५०१) सरोज जैन—बम्बई
५०१) चम्पालाल जी मिट्ठूलाल जी संचेती—जालना
५०१) जम्बूकुमार जी जैन—देहली
५०१) रोशनलाल जी भोजराज जी जैन—मोतियाखान—देहली
२५१) धरमचन्द जी नथमलजी भंडारी—मलकापुर
२०१) घेरीलाल जी घासीलाल जी जैन—मुम्बई
२०१) बिमलनाथ जी जैन—देहली

हम उक्त सज्जनों के उदार सहयोग के लिए हृदय से आभारी हैं।

मंत्री

श्री रत्न जैन पुस्तकालय, पाथर्डी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्राक्कथन

प्रस्तुत पुस्तक 'आनन्द-प्रवचन' का पांचवां भाग है। इसके पूर्व 'आनन्द-प्रवचन' के चार भाग प्रकाश में आ चुके हैं। वे सभी भाग काफी अच्छे लोक-प्रिय बने हैं। स्वाध्याय एक अन्तरंग तप है। प्रवचन (धर्मकथा) उसका एक अन्तिम अंग है।

प्रवचनों का महत्व सर्वत्र सदा से है। भारतवर्ष में तो जितने ऋषि-महर्षि हुए हैं प्रायः सभी ने प्रवचन के माध्यम से ही अपनी विचार-धारा संसार के सामने रखी है। आज भी यत्र-तत्र सर्वत्र यही सिलसिला ऋषि-महर्षियों का चल रहा है।

जैन-जगत् में तीर्थंकर-पद सर्वतः उच्च पद है। अतीत, अनागत व वर्तमान के सभी तीर्थंकरों का एक ही क्रम होता है। वे सभी साधना काल में मौन-सेवी होते हैं। जब उन्हें कैवल्य की उपलब्धि होती है तो वे सर्व-प्रथम प्रवचन ही देते हैं। तीर्थ-स्थापना व संघ-व्यवस्था आदि कार्य बाद में होते हैं।

तीर्थंकरों का जहां भी समवसरण होता है, वहां पर अपार भीड़ लग जाती है। वह भीड़ ही परिषदा मानी गई है। उस परिषदा में देव, मानव, पशु, पक्षी आदि सभी सम्मिलित होते हैं। उक्त परिषदा में प्रवचन के माध्यम से ही तीर्थंकर भगवान जन-जन में नैतिक जागरण व आध्यात्मिक उत्थान करते हैं।

गणधर तीर्थंकरों के प्रधान शिष्य होते हैं। वे उनके प्रवचनों को संकलित करते रहते हैं। उनका वह संकलन ही जैन जगत् का श्रुत-साहित्य माना गया है।

प्रवचन देने की परम्परा आज भी मुनि जनों में चल रही है। सुदूर दिशाओं में विचरण कर मुनिजन आज भी अपने प्रवचनों द्वारा स्व-पर हित-साधन करते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सुदूर अतीत में प्रवचन-संकलन की ओर किसी का भी ध्यान नहीं जैसा ही रहा। अब इस युग में इस ओर जनता का ध्यान पुनः केन्द्रित हुआ है।

जहाँ पर मुनिजन नहीं पहुँच पाते ऐसे क्षेत्रों में मुनिराजों के संकलित प्रवचन पहुँच सकते हैं। सिर्फ यही एक साधन है कि वहां के लोग जिसके द्वारा अपनी प्रवचन-श्रवण-पिपासा को प्रशान्त कर सकते हैं।

जहाँ तक मेरी जानकारी है, स्थानकवासी समाज में प्रवचन-संकलन की प्रथा के पुनरुत्थान का श्रीगणेश स्वर्गीय आचार्य श्री जवाहरलाल जी महाराज के भक्तजनों की ओर से किया गया। उसी का यह सुपरिणाम रहा कि आचार्य श्री जी जैसे प्रभावशाली पुरुषों के प्रतिभा-पूर्ण प्रवचन जन-जन के करकमलों में पहुँच सके।

प्रवचन-संकलन की प्रणाली अब काफी विकसित हुई है। 'आनन्द-प्रवचन' भी उस लड़ी की एक कड़ी है।

'आनन्द-प्रवचन' में महामहिम आचार्य-सम्राट श्री आनन्द ऋषिजी महाराज के प्रवचन संकलित किए गए हैं।

आचार्य श्री जी स्वयं एक सुमधुर संतजन हैं। उनके प्रवचन भी उतने ही मधुरतम व रोचक हैं— यह एक तथ्य उक्ति है।

आचार्य श्री जी संस्कृत, प्राकृत व अन्य भाषाओं के विशिष्ट विज्ञाता हैं। अतः उनके प्रवचनों में यत्रतत्र श्लोक, गाथाएँ व अन्य कविताएँ भी बिखरी पड़ी हैं।

'आनन्द-प्रवचन' की सम्पादिका हैं श्रीमती कमला जैन 'जीजी' एम० ए०। आनन्द-प्रवचन को पहले के चार भागों का सम्पादन भी जीजी ने ही किया है।

'जीजी' एक कुशल सम्पादिका है। जैन समाज के सुप्रसिद्ध पंडित श्री सोभाचन्द्र जी भारिल्ल की सुपुत्री होने का सौभाग्य 'जीजी' को मिला है। विद्वान पिता की विदुषी पुत्री—यह एक मंगलमय अभिसंबन्ध है।

स्वयं पण्डित जी ने अनेक ग्रन्थों का सम्पादन किया है। पंडित जी से ही 'जीजी' को पैत्रिक-संपत्ति के रूप में यह सम्पादन कला मिली है। 'जीजी' ने इससे पूर्व भी 'आत्ममंजरी', 'अन्तर की ओर', 'अर्चना और आलोक' आदि अनेक पुस्तकों का सप्रतिभ सम्पादन किया है। आनन्द-प्रवचन में भी 'जीजी' की सम्पादन-प्रतिभा सर्वतोमुखी मुखरित हुई है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

और भी एक बात है। परम-विदुषी सतीजी श्री उमरावकुंवर जी 'अर्चना' का पथ-प्रदर्शन जीजी' को समय-समय पर मिलता रहता है। जीजी के लिए यह स्वर्ण में सौरभ जैसी बात है। प्रस्तुत सम्पादन में भी 'जीजी' को सतीजी का पथ-प्रदर्शन सुचारु रूप से मिला है।

'जीजी' का सम्पादन और भी अधिक से अधिक लोक-प्रिय बने और जन-जन के लिये सुपाठ्य सामग्री बने—बस, इसी शुभाशा के साथ विराम····

जैन स्थानक
पाली
२८।२।७४

मधुकर मुनि

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सम्पादकीय

बंधुओ !

श्रमण संघ के द्वितीय पट्टधर १००८ श्री आनन्द ऋषि जी महाराज की वाणी को अपने में समेटे हुए 'आनन्द-प्रवचन' का यह पंचम पुष्प आपके समक्ष प्रस्तुत हो रहा है ।

मुझे अतीव हर्ष है कि एक दीर्घकालीन साधना के साधक की प्रवाहित होती हुई वचन-गंगा में से मैं कुछ अंजुलियाँ भरकर आपको प्रदान करती हूँ और आप उस पावन एवं तपः पूत जल से अपनी आत्मा को निर्मल करने का प्रयत्न करते हैं ।

संत-वाणी की महिमा बताते हुए किसी ने यथार्थ कहा है—

वेदशास्त्र की अनुभूति तपस्या का जिसमें संचय है,
संतों का वर वरद वचन वह मङ्गलमय निर्भय है ।
क्यों बैठा कर्तव्यमूढ़ नर बन चिन्ता का वाहन !
संत वचन के सुधा-सिन्धु में करले नित अवगाहन ।

वस्तुतः संतों के वचनों में असंभव को संभव करने की असाधारण शक्ति होती है । आप विचार करेंगे कि क्या शास्त्रों का तथा धर्मग्रन्थों का पठन-पाठन करके हम अपनी आत्मा को उन्नत नहीं बना सकते ? उत्तर में यही कहा जा सकता है कि उपरोक्त कार्य भी हमारी आत्मा को शुद्ध बनाने में सहायक होते हैं, किन्तु सन्त में कुछ ऐसी वर-प्रदायिनी एवं उत्कट शक्ति होती है कि वह मन पर अपना तीव्र एवं अद्भुत प्रभाव डालते हैं ।

इसका कारण यही है कि संत-पुरुषों के विचार, वचन और क्रिया में एकता होती है । वे जैसा सोचते हैं, वैसा ही कहते हैं और जैसा कहते हैं, वैसा ही करते

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हैं। इस प्रकार उनके विचार, वचन और क्रिया विभिन्न मार्गों में विभाजित न होकर एक ही उद्देश्य-सूत्र में समन्वित रहते हैं तथा इस एकता के कारण वाणी में अद्वितीय शक्ति छिपी रहती है।

आपको याद होगा कि संत कबीर गोविन्द अर्थात् भगवान और गुरु दोनों में से किसे नमस्कार करें, इस असमंजस में कुछ काल रहते हैं किन्तु यह ध्यान आते ही कि गुरु ही गोविन्द की प्राप्ति कराते हैं वे चट से उन्हें अधिक महान् मानकर नमस्कार कर बैठते हैं।

कबीर का यह कृत्य सभी के समक्ष आदर्श रूप है। हम भी यह सहज ही समझ सकते हैं कि भगवान की वाणी में जहाँ शाश्वत का भाव है, वहाँ संत की वाणी में सत्य का सौन्दर्य। भगवान की वाणी में प्रभाव और संत की वाणी सद्भाव होता है। भगवान की वाणी से लोहे का सोना बन सकता है किन्तु संतों की वाणी हमें सोना बनाने वाले पारस के रूप में ला सकती है।

इसीलिये आवश्यक है कि प्रत्येक मुमुक्षु इस संत-वाणी का स्वागत करे इसका आदर करे और पूर्ण विश्वास तथा श्रद्धापूर्वक इसे आत्मसात् करके अपने जीवन को सर्वांग सुन्दर बनाये।

मुझे आशा है कि आचार्य श्री आनन्द ऋषि जी जैसे सरल, उदारमना, तपस्वी, कर्मठ एवं चिर-साधक संत के वचनों का जिस प्रकार अपने पूर्व चार भागों के द्वारा स्वागत किया है उसी प्रकार इस पाँचवें भाग को भी ग्रहण करेंगे तथा इसे अपने साधना-मार्ग का पथ-प्रदीप मानकर इसके प्रकाश में अपने कदम बढ़ायेंगे।

'आनन्द-प्रवचन' के इस पाँचवें भाग की प्रस्तावना विद्वत्वर्य पंडित रत्न मुनि श्री मिश्रीमल जी महाराज 'मधुकर' ने लिखी है। इसके लिए मैं बहुत आभारी हूँ। वैसे भी दीर्घकाल से मैं समय-समय पर आपके संपर्क में आई हूँ और सच पूछा जाय तो आपकी प्रेरणा एवं उत्साह-वर्धन से ही मैंने लेखन-सम्पादन आदि साहित्य सेवा के मार्ग पर कदम बढ़ाया है। आपके द्वारा संचालित "मुनि श्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन" संस्था का प्रारम्भिक सहयोग मेरे लिये संबल बना और इसप्रकार सुमधुर एवं प्रभावशाली व्यक्तित्व के धनी बहुश्रुत मुनि श्री 'मधुकर' जी महाराज का मुझपर दोहरा अनुग्रह है।

काश्मीर प्रचारिका एवं परमविदुषी महासती जी श्री उमरावकुंवर जी महाराज 'अर्चना' की भी मैं आभारी हूं, जिनके द्वारा मुझे सतत प्रेरणा एवं मार्ग-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दर्शन प्राप्त होता है तथा मेरा संपादक काल का काफी भाग उनके सानिध्य में व्यतीत होता है।

अन्त में केवल यही कि 'आनन्द-प्रवचन' के पिछले चार भागों के समान ही पाठक इसे भी पसंद करेंगे तथा इसमें रही हुई त्रुटियों को क्षमा करते हुए राजहंस के समान सार-तत्व को ग्रहणकर अपना जीवन बनाएँगे। तभी मैं अपना परिश्रम सार्थक समझूँगी।

कमला जैन 'जीजी' एम० ए०

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अनुक्रमणिका

१	दृष्टिपूतं न्यसेत् पादम्	१
२	तौल कर बोलो	१०
३	मधुकरी	१८
४	विवेको मुक्ति साधनम्	२८
५	धोबीड़ा, तू धोजे मनतूं धोतियो रे	३७
६	चोखूं तू करजे मननो चीर रे	४७
७	जन्मदिन कैसे मनाया जाय ?	६०
८	सफलता के बहुमूल्य सूत्र	७१
९	चिन्तन का महत्व	८५
१०	चिन्तामणि रत्न—चारित्र	९४
११	आत्मा की विभिन्न अवस्थाएँ	१०४
१२	वचने का दरिद्रता	११३
१३	देहस्य सारं व्रतधारणं च	१२१
१४	भोजन किया न जाय	१३५
१५	कटिबद्ध हो जाओ !	१४७
१६	समझ सयाने भाई !	१५५
१७	असली और नकली	१६३
१८	कर्तव्यमेव कर्तव्यं	१७५
१९	कं बलवन्तं न बाधते शीतम् ?	१८७
२०	वही दिन धन्य होगा	१९९
२१	उष्णता को शीतलता से जीतो !	२१३
२२	क्षण विध्वंसिनी काया	२२२

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

२३	शत्रु से मित्रता रखो !	२३०
२४	शरीर को कितने वस्त्र चाहिए	२३८
२५	चिन्ता को चित्त से हटाइये	२४५
२६	प्रबल प्रलोभन	२५४
२७	तीन लोक की संपदा रही शील में आन	२६४
२८	साधु तो रमता भला दाग न लागे कोय	२७५
२९	महल हो या मसान....?	२८७
३०	मिलें कब ऐसे गुरु ज्ञानी	२९६
३१	स्वागत है पर्वराज !	३०५
३२	नीके दिन बीते जाते हैं	३१८
३३	सच्चे महाजन बनो !	३२९

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आनन्द प्रवचन

[पांचवां भाग]

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सव्व जग जीव रक्खण दयट्ठयाए,
भगवया पावयणं सुकहियं।

—प्रश्नव्याकरण

जगत के समस्त जीवों की दया एवं रक्षा के लिए भगवान ने प्रवचन किया है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

१ | दृष्टिपूतं न्यसेत् पादम्

धर्मप्रेमी बंधुओ, माताओ एवं बहनो !

हमारे भारतीय महर्षियों तथा विचारकों ने सदा यही कहा है कि हमें यह दुर्लभ मानव-जीवन बड़ी कठिनाई से प्राप्त हुआ है और इसलिये हमें उसे पूर्णतया सार्थक बनाने का प्रयत्न करना चाहिये। पर ऐसा तभी हो सकता है, जबकि हम अपनी आत्मा को उत्थान की ओर ले जाने के लिए सदा प्रयत्नशील रहें तथा यह पतन की ओर अग्रसर न हो, इस विषय में सतत सजग और सावधान रहें।

अब प्रश्न उठता है कि आत्मा को पतन की ओर ले जाने वाले कारण कौन-कौन से हैं और उनसे आत्मा को किस प्रकार बचाया जा सकता है ? इस प्रश्न के उत्तर में सहज ही यह कहा जा सकता है कि आत्मा को मलिन और दूषित बनाकर दुर्गति की ओर ले जाने वाले मुख्य कारण क्रोध, मान, माया तथा लोभ ये चारों कषाय हैं। इन चारों कषायों में बड़ा संगठन है। जहाँ एक कषाय ने मन पर कब्जा किया कि बाकी तीनों भी चुपके से उसका पीछा करते हुए अपना स्थान बना लेते हैं।

इसलिये मोक्षमार्ग की साधना करके आत्मकल्याण करने की अभिलाषा रखने वाले साधक को अपनी आत्मा की इन कषायों से सदा रक्षा करनी चाहिये तथा इन्हें आत्म-गुणों का लुटेरा मानकर इनसे बचना चाहिये।

प्रौढ़ कवि, शास्त्रविशारद पंडित श्री अमीऋषि जी महाराज ने अपने एक भजन में कहा है—

गाफ़ल मत रह बनजारा, मारग में बसे हैं ठगारा।

भजन की इस प्रथम पंक्ति में कवि ने जीवात्मा को बनजारे की उपमा दी है तथा क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष तथा मोह आदि को ठग बताया है, क्योंकि

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ये कषाय आदि ही आत्मिक गुणों को नष्ट करते हैं। अतः कहा है—अरे जीवात्मन्! तू अपने ज्ञान, दर्शन, एवं चारित्र रूपी धन का संरक्षण करने के लिये सावधान रह, गाफिल मत हो, क्योंकि तेरी साधना के मार्ग में इस धन को लूटने वाले अनेक ठग हैं। अनन्त काल से ये आत्मा को लूटते और हानि पहुँचाते चले आ रहे हैं। न इन्होंने अपनी आदत छोड़ी है और न जीवात्मा ही सावधान हुआ है। परिणाम यही हुआ कि जीव को चौरासी लाख योनियों में नाना प्रकार के दुःख सहते हुए भटकना पड़ा है।

यही बात कहते हुए कवि ने आगे के लिये चेतावनी दी है—

भव अटवी में भटकत आया,
बड़ा शहर मनुष्य भव पाया जी।
अब कर ले यहाँ व्यापारा,
मारग में बसे हैं ठगारा।

भव अटवी यानी संसार रूपी अरण्य। इसमें भटकते-भटकते जीव इस मनुष्य जन्म रूपी बड़े नगर में आया है। नगर का महत्व आप सभी समझते हैं। प्रायः देखते भी हैं कि छोटे-छोटे गाँवों में रहने वाले व्यक्ति वहाँ पर कोई कमाई न होने के कारण नागपुर, पूना, मद्रास, कलकत्ता तथा बम्बई आदि बड़े-बड़े शहरों में चले जाते हैं और वहाँ पर बड़े-बड़े व्यापार करके लखपति और करोड़पति बन जाते हैं।

मनुष्य जन्म को भी बड़ा शहर बताते हुए कवि ने बड़ी सुन्दरता और चतुराई से जीवात्मा को प्रतिबोध दिया है—भोले जीव! तू चौरासी लाख योनियों में भटका है, किन्तु वे सभी योनियाँ ऐसे छोटे गाँव साबित हुई हैं जहाँ तू कुछ भी आत्मा के लिये कमाई नहीं कर सका। पर अब अनन्त पुण्यों के उदय से तुझे मानव-जन्म रूपी यह बड़ा भारी शहर प्राप्त हो गया है और अब प्रयत्न करे तो चाहे जितनी कमाई तू यहाँ कर सकता है।

वस्तुतः अन्य योनियों में जीव कुछ नहीं कर पाता। नरक, निगोद आदि निकृष्ट पर्यायों में न जीव में ज्ञान होता है न बुद्धि और न विवेक की ही प्राप्ति होती है। पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि जीवों को आप देखते ही हैं। क्या वे अपनी आत्मा के हित और अहित को समझ सकते हैं? नहीं, यहाँ तक कि हाथी और सिंह जैसा विशाल तथा शक्तिशाली शरीर पाकर भी जीव बुद्धि और विवेक के अभाव में अपनी आत्मा के स्वरूप को नहीं समझ सकता तथा अपने आत्म-कल्याण का कोई प्रयत्न नहीं कर सकता। उनका विशाल शरीर और अपार बल भी निरर्थक चला जाता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यहाँ आप विचार करेंगे कि नरक तथा तिर्यंच गति में न सही पर देवगति में तो जीव चाहे जो कुछ कर सकता होगा, क्योंकि मनुष्य भी तो स्वर्ग पाने की अभिलाषा रखते हैं।

आपका यह विचार करना अनुचित नहीं है। नरक और तिर्यंच गति की अपेक्षा देवगति श्रेष्ठ है। वहाँ मृत्युलोक की अपेक्षा जीव अधिक सुख प्राप्त करता है तथा भोगोपभोगों में निमग्न रहता है। किन्तु वह सब उसे अपनी आयु के समाप्त होने तक ही प्राप्त रहते हैं। अपने ज्ञान के द्वारा जब वह जान लेता है कि मेरी आयु संपूर्ण होने को है तो वह बहुत आर्तध्यान करता है तथा कर्मों का बंधन करके वहाँ से निकलकर पुनः दुःख भोगने और जन्म-मरण करने लगता है। इसके अलावा वहाँ पर जीव जितने काल तक रहता है, केवल पुण्य कर्मों के फलस्वरूप प्राप्त भोगों को भोगने में ही इतना लीन रहता है कि आत्मा को कर्म-मुक्त करने का कोई प्रयत्न नहीं करता। स्वर्ग में रहकर आत्म-कल्याण के लिये कुछ भी त्याग अथवा साधना नहीं की जा सकती।

इसीलिये कवि ने मनुष्य-जन्म को ही सबसे बड़ा और ऐसा नगर बताया है, जहाँ पर जीव धर्माराधन का बड़े से बड़ा व्यापार करके उसके फलस्वरूप मोक्ष रूपी नफा भी हासिल कर सकता है।

स्थानांग सूत्र में कहा गया है कि देवता भी तीन बातों के लिये लालायित रहते हैं—

तओ ठाणाइं देवे पीहेज्जा
माणुसं भवं, आरिए खेत्ते जम्मं, सुकुलपच्चायाति।

देवता भी तीन चीजों की इच्छा करते हैं—मनुष्य जीवन, आर्यक्षेत्र में जन्म और श्रेष्ठ कुल की प्राप्ति।

ऐसा क्यों? इसलिये कि जीव मानव-पर्याय पाकर ही त्याग, नियम, प्रत्याख्यान, तपस्या एवं संयम साधना कर सकता है। और किसी भी गति या किसी भी योनि में यह संभव नहीं है। तो देवता भी जब मानव जन्म पाने के लिये व्याकुल रहते हैं तो क्यों नहीं इस जन्म को सर्वश्रेष्ठ और कवि के शब्दों में सबसे बड़ा शहर कहाजायेगा।

यही वह स्थान है जहाँ से मनुष्य निकृष्ट कर्म करके अधोगति में जा सकता है और श्रेष्ठ कर्म करके सदा के लिये संसार-मुक्त होकर मोक्ष की प्राप्ति भी कर सकता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इसलिये बंधुओ प्रत्येक मनुष्य को अपने इस दुर्लभ जीवन की महत्ता को समझना चाहिये तथा उसके द्वारा अपने उत्तम और इच्छित लक्ष्य को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये। ऐसे अमूल्य भव को पाकर भी अज्ञान के कारण और भोगोपभोगों में डूबे रहकर अगर हमने इसे व्यर्थ कर दिया तो इससे बढ़कर मूर्खता हमारी और क्या होगी ?

एक छोटा शिशु जो कि अज्ञानी होता है, उसे भले ही हाथ में हीरा दे दिया जाय, वह उसका मूल्य नहीं समझता और किसी व्यक्ति के द्वारा दो पैसे का रंग-बिरंगा मिट्टी का खिलौना लेकर ही वह हीरा उसे दे देता है या एक ओर फेंक देता है।

अगर कोई मनुष्य अज्ञानी है तो वह भी ठीक उस शिशु के समान ही है। वह भी अपने अमूल्य मानव-जन्म रूपी हीरे की कोई कद्र नहीं कर पाता तथा भोगोपभोग रूपी मिट्टी के रंग-बिरंगे खिलौनों के बदले अपने मानव-जन्म रूपी अमूल्य रत्न को व्यर्थ गँवा देता है और जब वे भोग-रूपी मनमोहक खिलौने टूट जाते हैं तो फिर अन्त में पश्चात्ताप करता है। किन्तु तब क्या हो सकता है ? बीता हुआ समय तो पुनः लौटकर आता नहीं, केवल पछतावा ही हाथ लगता है।

वीतरागों की वाणी सुनाने वाले हमारे शास्त्र इसीलिये बार-बार प्राणियों को आगाह करते हैं तथा उन्हें समझाते हैं कि अपने इस दुर्लभ जीवन का लाभ उठाओ और प्रत्येक क्षण का सदुपयोग करो ताकि यह निरर्थक न चला जाय।

कहा भी है—

स्वर्णस्थाले क्षिपति स रजः पाद शौचं विधत्ते ।
पीयूषेण प्रवरकरिणं बाह्यत्यैन्धभारम् ॥
चिन्तारत्नं विकिरति कराद् वायसोड्डायनार्थं ।
यो दुष्प्राप्यं गमयति मुधा मर्त्यजन्म प्रमत्तः ॥

—सिन्दूर प्रकरण ५

—जो व्यक्ति आलस्य अथवा प्रमाद के वश मनुष्य जन्म को निरर्थक गँवा रहा है, वह अज्ञानी पुरुष मानो सोने के थाल में मिट्टी भर रहा है, अमृत से पैर धो रहा है, श्रेष्ठ हाथी पर ईन्धन ढो रहा है और चिन्तामणि रत्न को कौए उड़ाने के लिए फेंक रहा है।

वस्तुतः ऐसा करने वाला व्यक्ति महामूर्ख और अज्ञानी बालक के सदृश है। पर बालक फिर भी अपनी अज्ञानता के लिये क्षम्य है, क्योंकि अल्पायु होने के कारण

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उसकी बुद्धि विकसित नहीं होती, विवेक जागृत नहीं होता तथा वह ज्ञानप्राप्ति भी नहीं कर पाता।

किन्तु मनुष्य जो अपनी जिन्दगी के कई वर्ष बिता चुकता है, उसके लिये तो यह बात है नहीं। क्योंकि उसकी बुद्धि परिपक्व हो जाती है, विवेकपूर्णता प्राप्त कर लेता है तथा ज्ञान की प्राप्ति के लिये भी उसे बहुत समय मिल चुकता है। आवश्यकता उसे केवल इतनी ही रहती है कि वह प्रमाद का त्याग करके सम्यक् ज्ञान को प्राप्त करे, मिथ्यात्व से होने वाली हानियों को शास्त्र एवं सद्गुरु के उपदेशों से समझता हुआ उसका त्याग करे और अपनी बुद्धि तथा विवेक को सही मार्ग पर ले जाए। बुद्धि, ज्ञान और विवेक सभी में होता है किन्तु उसका सही उपयोग सब नहीं कर पाते।

आप जानते हैं कि एक डॉक्टर के हाथ में भी शरीर को चीर देने वाले तेज अस्त्र होते है तथा एक डाकू के हाथ में भी वैसे ही अंग-भंग कर देने वाले हथियार रहते हैं। किन्तु डॉक्टर अपने अस्त्रों का सही उपयोग करने के कारण प्राणी को जीवन-दान देता है और डाकू अपने हथियारों का दुरुपयोग करने के कारण जीवन का खात्मा कर देता है। हथियार दोनों के ही हाथ में होते हैं किन्तु एक उनका सदुपयोग और दूसरा दुरुपयोग करता है।

इसी प्रकार अपवाद रूप कुछ पागल अथवा ऐसे ही इने-गिने व्यक्तियों को छोड़कर बाकी सभी मानवों के पास बुद्धि, विवेक, ज्ञान एवं आत्म-शक्ति होती है। किन्तु वे इन चीजों का सदुपयोग नहीं करते, इन्हें आत्म-कल्याण की साधना में नहीं लगाते। उलटे भोगों के साधन जुटाने में, परिग्रह बढ़ाने में अथवा सांसारिक संबंधियों के प्रति घोर ममत्व रखते हुए उनके लिये नाना प्रकार के कुकर्म और अनीतिपूर्ण व्यापारों को करने में लगा देते हैं। परिणाम यह होता है जो साधन उन्हें आत्म-कल्याण में सहायता दे सकते हैं, वे ही उन्हें पतन की ओर ले जाने में सहायक बनते हैं।

इसलिये बंधुओ, हमें जबकि यह मानव-जन्म मिल गया है, पाँचों इन्द्रियाँ भी परिपूर्ण मिली हैं, संतों की संगति से वीतराग की वाणी सुनने का भी अवसर मिल रहा है तो इन समस्त साधनों का लाभ उठाने में ही हमारी बुद्धिमानी है। जो कुछ हम सुनते हैं, धर्मग्रन्थों में पढ़ते हैं, उसे जीवन में उतारना भी चाहिये। अन्यथा सुनने और पढ़ने से कोई लाभ नहीं हो सकेगा।

जिस प्रकार आप कपड़े की दुकान पर पहुँचते हैं, और विभिन्न प्रकार के कपड़े देखते हैं तथा उनके भाव आदि भी सब पूछ लेते हैं किन्तु केवल कपड़ों की

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

किस्में जान लेने से और उनकी कीमत पूछ लेने से ही क्या होगा ? कपड़ा न आपका कहलायेगा और न ही आपके उपयोग में आएगा। जब तक आपने दुकानदार से फाड़ने के लिये नहीं कहा, तब तक वह दुकानदार का ही कहलाएगा न ?

इसी प्रकार आपने ज्ञान, दर्शन और चारित्र के विषय में पढ़ लिया तथा उनके भेद-प्रभेदों को भी संतों से जान लिया, किन्तु जब तक वह आपके जीवन में नहीं उतरे यानी आपने उन्हें अमल में नहीं लिया, तब तक वह ज्ञान कपड़े की किस्में जानने और उनके केवल भाव पूछ लेने के समान ही है। वह ज्ञान आपको कोई लाभ नहीं पहुँचा सकता।

इसलिये कवि ने आगे कहा है—

शुद्ध सत्तावन संवर के,
लेना पोथी माल संग भर के।
संत हित बयाल, होशियारा,
मारग में बसे हैं ठगारा॥

कहते हैं—यह मनुष्य-जन्म रूपी शहर अनेक योनिरूप वनों को पार करने के पश्चात् मिला है और यहाँ पर हम सभी तरह की कमाई कर सकते हैं। जीव के पाँचसौ त्रेसठ भेद हैं। वह इस शहर से प्रत्येक स्थान पर जा सकता है। ऐसी बात नहीं है कि वह यहाँ से केवल स्वर्ग या नरक में ही जाता है। केवल स्त्रियाँ छठे नरक तक ही जाती हैं अतः इनके लिये दो भेद कम हैं अर्थात् पाँचसौ इकसठ ही हैं।

तो इस जन्म से जीव नर्कगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति और देवगति ही नहीं पाँचवीं मोक्षगति तक भी जा सकता है तो फिर उसे नरक और तिर्यंच गति का उपार्जन करके इस अमूल्य जन्म को क्यों व्यर्थ जाने देना चाहिये ? उसकी बुद्धिमानी इसी में है कि वह मोक्ष की प्राप्ति का ही प्रयत्न करे। और इसके लिये संवर के सत्तावन भेदों का ज्ञान करके उनके अनुसार साधनापथ पर बढ़ना चाहिये। पांच समितियों का पालन करना भी साधक के लिये परम आवश्यक है। इन समितियों का पालन करने पर ही साधक का चारित्र शुद्ध और दृढ़ बन सकता है। पाँच समितियों में पहली समिति 'ईर्यासमिति' कहलाती है।

ईर्यासमिति

ईर्यासमिति का अर्थ है—भली-भांति देखकर चलना। प्रत्येक प्राणी को सदा देखकर चलना चाहिये। मनुस्मृति में कहा भी है—

"दृष्टिपूतं न्यसेत् पादम्।"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दृष्टि से पवित्र हुई भूमि पर कदम रखो और उसके पश्चात् बिना देखे मत चलो। बिना देखे चलने से अनेक प्रकार की हानि होती है। प्रथम तो सूक्ष्म जीवों की हिंसा होती है अतः कर्मों का बन्धन होता है, दूसरे कांटा चुभ जाने से अथवा पत्थर आदि की ठोकर लगने से शरीर को कष्ट होता है।

एक राजस्थानी पद्य में बड़े मधुर ढंग से कहा गया है—

नीचे जोयां गुण घणां, पड़ी वस्तु मिल जाय।
ठोकर की लागे नहीं, जीव जन्तु बच जाय।

यानी, नीचे देखकर चलने से कई लाभ होते हैं। एक तो यह कि कभी-कभी मूल्यवान वस्तुएँ भी अगर जमीन पर पड़ी हुई हों तो मिल जाती हैं, दूसरे कभी ठोकर भी नहीं लगती, तीसरे छोटे-छोटे निरपराध प्राणियों की हिंसा से भी व्यक्ति बच जाता है।

दूसरे शब्दों में न आत्म-विराधना होती है अर्थात् स्वयं के शरीर को चोट नहीं लगती और न पर-विराधना होती है क्योंकि दूसरे प्राणियों की हिंसा भी नहीं होती। अहिंसा का महत्त्व केवल हिन्दू ही नहीं मानते अपितु अन्य सभी धर्म समान भाव से मानते हैं।

मुस्लिम धर्म भी कहता है—

"जेरे कदम हजार जानस्त।"

अर्थात् पैर के नीचे हजारों जानवर हैं, अतः देखकर चलो।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रत्येक धर्मग्रन्थ में धर्म के मूल सिद्धान्त मान्य हैं। संवर के सत्तावन भेदों में प्रथम पाँच भेद पाँच समितियाँ हैं और पाँच समितियों में पहली है ईर्यासमिति। यानी देखकर चलना। इस बात का कितना महत्त्व है, यह केवल जैनधर्म में ही नहीं अपितु मनुस्मृति और मुस्लिम ग्रन्थ के उदाहरण से भी आपको ज्ञात हो गया होगा।

ईर्यासमिति का पालन करना केवल साधु के लिये ही नहीं, वरन् प्रत्येक श्रावक और प्रत्येक स्त्री-पुरुष के लिये आवश्यक है। हमारी बहनें प्रायः गन्दा पानी तथा जूठन वगैरह ऊपर की मंजिल की खिड़कियों से सड़क पर डाला करती हैं। अनेक बार उनके छींटे हम लोगों को भी लगते हैं और सड़क पर चलने वाले व्यक्तियों को भी लगते होंगे।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ऐसा करना भी ईर्यासमिति का ध्यान न रखने से ही होता है। प्रथम तो यह असभ्यता का सूचक है, दूसरे जिस व्यक्ति पर राख व जूठन आदि का गन्दा पानी गिरता है वह व्यक्ति सज्जन हुआ तो चुपचाप आगे बढ़ जाता है, अन्यथा गाली-गलौज की नौबत आती रहती है। कभी-कभी तो देखकर चलने या देखकर कार्य न करने से बड़ा अनर्थ भी घट जाता है।

सूर्पनखा का पुत्र शंबुक चन्द्रहास खड्ग की सिद्धि करने के लिये बारह वर्ष तक घोर जंगल में बाँस की एक झाड़ी में तपस्या करता रहा था। बारह वर्ष पूर्ण हुए और दैविक ज्योति से जगमगाता हुआ चन्द्रहास खड्ग झाड़ी के समीप आकर गिरा।

किन्तु शंबुक का ध्यान भंग होता और वह उसे उठाता, उससे पहले ही संयोगवश लक्ष्मण घूमते-घामते उधर आ निकले और उनकी दृष्टि चन्द्रहास पर पड़ गई। देखकर चकित हुए, उसे उठाया और यह देखने के लिये कि इस सुन्दर खड्ग में धार भी है या नहीं ? उन्होंने समीप की झाड़ी पर ही उसका वार किया। लक्ष्मण ने देखा नहीं कि घनी झाड़ी में भी कोई प्राणी हो सकता है। परिणाम यह हुआ कि उस झाड़ी में शंबुक जिस चन्द्रहास खड्ग के लिये पूरे बारह वर्षों से घोर तपस्या कर रहा था, उसी खड्ग से उसका मस्तक धड़ से अलग हो गया और लक्ष्मण इसका कारण बने। तो यह भयंकर कृत्य बिना देखे झाड़ी पर वार करने से ही घटा था।

इसलिये संवर के सत्तावन भेदों में पहले पाँच समितियाँ बताई गई हैं और पाँच समितियों में भी सबसे पहला स्थान ईर्यासमिति अर्थात् देखकर चलना चाहिये, देखकर प्रत्येक कार्य सम्पन्न करना चाहिये, इसे दिया गया है।

मैंने अनुभवी और ज्ञानी पुरुषों से सुना है कि ईर्यासमिति के शुद्ध होने पर ही व्यक्ति को चौदह पूर्व का ज्ञान हो सकता है। इसका कारण यही है कि देखकर चलने से असंख्य जीवों की हत्या से बचा जा सकता है और इस प्रकार अहिंसा का पालन होता है। धर्म का मूल अहिंसा ही है। अहिंसा के अभाव में कोई भी धर्म-क्रिया अपना शुभ फल नहीं देती।

बड़े-बड़े आलीशान मकान नींव के सुदृढ़ होने पर ही टिक सकते हैं, इसी प्रकार अहिंसा रूपी नींव के मजबूत होने पर ही धर्म का विशाल भवन खड़ा किया जा सकता है और वह सुदृढ़ बना रह सकता है। पर यह तभी संभव हो सकता है,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जबकि चलना-फिरना और अन्य कार्य भी देख-भालकर किये जायं। इस विराट विश्व में ऐसे-ऐसे सूक्ष्म जीव भी हैं जो सुई की नोंक के समान छोटे होते हैं और इतना ही नहीं ऐसे भी जीव होते हैं जोकि आँखों से दिखाई भी नहीं देते। किन्तु बंधुओ ! हमें जहाँ तक बने प्राणियों की विराधना से बचना चाहिये। आप चाहे जितनी सामायिकें करें, प्रवचन सुनें, शास्त्र पढ़ें, पर जीवों की विराधना से बचें तो वह आपका सबसे बड़ा धर्मकार्य होगा।

इसलिये सर्वप्रथम ईर्यासमिति को महत्त्व दिया गया है और प्रत्येक को इसका पालन करना चाहिये।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

२ | तोल कर बोलो !

धर्मप्रेमी बंधुओ, माताओ एवं बहनो !

कल हमने शास्त्रविशारद, सुप्रसिद्ध कवि श्री अमीऋषि जी महाराज के एक भजन के आधार पर यह जाना था कि जीव एक बनजारे के समान है, जो अनेक योनियों में भटकते-भटकते इस मनुष्य जन्म-रूपी बड़े शहर में आ पहुँचा है। इसके मार्ग में कषाय रूपी बड़े-बड़े लुटेरे बैठे हैं जो कि समय-समय पर इसके ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र रूपी धन को लूटते रहे हैं। यद्यपि अभी भी उन लुटेरों ने जीव का पीछा नहीं छोड़ा है, किन्तु कवि का कहना है कि इस जीवन में सौभाग्य से इसे विशिष्ट बुद्धि, ज्ञान और विवेक प्राप्त हो गया है तो उसे अपने आत्मिक धन को सुरक्षित रखने के लिये धर्म का सुदृढ़ गढ़ तैयार कर लेना चाहिये।

कवि ने आगे भी कहा है कि धर्म-रूपी सुदृढ़ किले का निर्माण तभी हो सकता है जबकि संवर की आराधना की जाय। सवर के सत्तावन भेद होते हैं। जिनमें सर्व प्रथम पांच समितियाँ होती हैं और उनमें से पहली समिति ईर्यासमिति है, जिसके विषय में कल बताया गया है। ईर्यासमिति के पश्चात् भाषासमिति आती है। भाषासमिति दूसरी है और उसीके विषय में आज हमें विचार करना है।

समिति में 'सम्' उपसर्ग और इति शब्द में 'इन्' धातु है। अच्छी तरह से गमन करना समिति कहलाता है। मोक्षमार्ग में अच्छी तरह गमन करना यही समिति से आशय है।

भाषासमिति

मन के अन्दर जो भाव, जो विचार आते हैं, उन विचारों को स्पष्ट करने के लिये जो शब्द जबान पर आते हैं, वही भाषा कहलाती है। मन में चाहे जितने

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

और चाहे जैसे विचार हों, वे जब जबान के द्वारा बाहर आएँगे तभी अन्य व्यक्तियों को उनके बारे में मालूम हो सकेगा। इस प्रकार विचारों का आदान-प्रदान में शब्द सहायक होते हैं और व्यवस्थित रूप से भावों को प्रकट करने वाले शब्द ही भाषा कहलाती है।

भाषा हमारे सांसारिक व्यवहार में भी काम आती है और मोक्षमार्ग में भी व्यवहृत होती है। पर वह तभी लाभकारी होती है जबकि समिति-युक्त बोली जाय। बोलते सभी हैं। आपको भी बोलना पड़ता है, और हमारा भी बिना बोले कार्य नहीं चलता। फर्क यही है कि हमें अपनी भाषा पर पूर्ण काबू रखते हुए बोलना होता है।

दशवैकालिक सूत्र के सातवें अध्याय के अंत में भी कहा गया है कि मुनियों को सावद्य अर्थात् पापसहित भाषा नहीं बोलना चाहिये।

साधक के लिये स्पष्ट कहा है—

दिट्ठं मियं असंदिद्धं, पडिपुन्नं विअंजियं।
अयंपिरमणुव्विग्गं, भासं निसिर अत्तवं॥

—दशवैकालिक सूत्र ८।४६

आत्मवान् साधक दृष्ट, परिमित, संदेहरहित, परिपूर्ण और स्पष्ट वाणी का प्रयोग करे। किन्तु यह ध्यान में रहे कि वह वाणी भी वाचालता से रहित तथा दूसरों को उद्विग्न करने वाली न हो।

कहने का अभिप्राय यही है कि मुनि को न तो निश्चयकारक भाषा बोलनी चाहिये और न ही असत्य भाषण करना चाहिये। दशवैकालिक सूत्र में असत्य-भाषण के चार कारण बताए गये हैं। वे कारण हैं— क्रोध, मान, माया और लोभ।

इनके कारण ही लोग झूठ बोलते हैं। क्रोध के कारण बाप-बेटे से और भाई-भाई से अनेक झूठ बोल जाते हैं। जब बँटवारा होता है तो हम प्रायः देखते हैं कि प्रत्येक भाई दूसरे से जहाँ तक होता है धन-माल छिपाने की कोशिश करता है और प्रत्यक्ष रूप में ही यही कहता है अमुक वस्तु मेरे पास है ही नहीं। अहंकार के वश में होकर भी व्यक्ति ख्यातिप्राप्ति के लिये अपने न किये हुए भी अनेक उत्तम कार्य गिना देता है, ताकि लोग उसकी प्रशंसा करें और वह गर्व से मस्तक ऊँचा रख सके। तीसरा कारण माया अथवा कपट है, जिसकी तो नींव ही असत्य होती है। अर्थात् कपट के कारण व्यक्ति मन में कुछ विचार करता है और जबान से कुछ कहता है। इनके अलावा लोभ के विषय में तो आप जानते ही हैं कि दुकानदार या व्यापारी चार रुपये की चीज के आठ बताता है और थोड़े-थोड़े लाभ के लिये भी ईश्वर की,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

धर्म की सौगन्ध खा लेता है। कोर्ट-कचहरियों में तो झूठ का बोलबाला ही रहता है। दो पक्ष होते हैं। उनमें से अगर एक सच्चा होता है तो दूसरा निश्चय ही गलत होता है। किन्तु वह स्वयं झूठी बातें कहता है, झूठी गवाहियां दिलाता है और उसके वकील भी उस असत्य को सत्य सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। यह सब केवल लोभ के कारण ही होता है। मुकदमा लड़ने वाला किसी के धन, मकान अथवा खेत पर कब्जा करना चाहता है, या अपने किसी अपराध को छिपाना चाहता है। और वकील अपनी फीस के लोभ में उसकी पैरवी करता है। इन सभी बातों के मूल में लोभ ही है।

इन सबके अलावा लोग प्रायः हँसी-मजाक में भी झूठ बोलते हैं। यद्यपि मजाक में बोला हुआ झूठ अधिक कषाय पर आधारित नहीं होता, किन्तु उससे अनेक बार व्यक्तियों का मन दुःखी अवश्य होता है। अतः हंसी-मस्करी से भी झूठ नहीं बोला जाना चाहिये।

मराठी भाषा में कहा गया है—

"अशी ही बट्टा, भलभत्याला लावला बट्टा।"

हँसी में असत्य बोलने से भी पाप-कर्म की पोटली तो बँधती ही है। अतः असत्य तो किसी भी अवस्था में नहीं बोलना चाहिये।

मनुष्य को अनेक पुण्यों के फलस्वरूप तो पहले जीभ प्राप्त होती है और उसके पश्चात् भी जब अनन्त पुण्य-कर्मों का उदय होता है तो जीभ के द्वारा स्पष्ट बोलने की अर्थात् अन्य व्यक्ति उसे समझ सकें, ऐसी भाषा बोलने की क्षमता प्राप्त होती है।

तो बुद्धिमान् पुरुष बड़ी भारी कीमत देने पर प्राप्त हुई भाषा-शक्ति को निरर्थक ही नहीं गंवा देता अपितु उससे नवीन पुण्यों का संचय कर लेता है। हमारे शास्त्रों में पुण्य के नौ भेद किये जाते हैं। उनमें से एक भेद वचन-पुण्य भी है। अतः स्पष्ट है कि विवेक के द्वारा बोलने से अनन्त पुण्यों का संचय किया जा सकता है। आवश्यकता है केवल अपनी भाषा और वचनों पर काबू रखने की। बहुत सोच-समझ कर बोलने पर ही वाणी का लाभ उठाया जा सकता है।

स्थानांग सूत्र के छठे अध्याय में कहा भी गया—

इमाइं छ अवयणाइं वदित्तए—
अलियवयणे, हीलियवयणे, खिसित वयणे,
फरुसवयणे, गारत्थियवयणे,
विउसंवितं वा पुणो उदीरेत्तए।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात् छः प्रकार के वचन नहीं बोलना चाहिये। वे हैं—असत्य वचन, तिरस्कारयुक्त वचन, झिड़की भरे वचन, कठोर वचन एवं शान्त हुए कलह को पुनः भड़काने वाले वचन।

इस प्रकार भाषा के विषय में हमारा धर्म बड़ी सावधानी रखने की आज्ञा देता है। चाहे व्यक्ति श्रावक हो या साधु। दोनों को ही भाषा का प्रयोग अत्यन्त संयम पूर्वक करना चाहिये। आप लोगों के लिये चेतावनी है—

"श्रावक जो थोडा बोले, काम पड्या सूं बोले।"

ऐसा क्यों कहा गया है ? इसलिए कि आप अगर कम बोलेंगे तो अपनी भाषा पर अधिक ध्यान रख सकेंगे तथा उसमें संयम की मात्रा बनी रहेगी। वाचाल पुरुष जब अनर्गल बोलते हैं तो उन्हें वाणी पर संयम नहीं रहता और वे असत्य बोलने के साथ-साथ कटु और अप्रिय भी बोल जाते हैं। इसलिये प्रत्येक पुरुष को चाहिये कि वह कम-से-कम बोले, आवश्यकता होने पर ही परिमित वचनों का प्रयोग करे।

भगवान ने मुनियों के लिये तो भाषा पर पूरा प्रतिबन्ध लगाया है। पाँच महाव्रतों में दूसरा व्रत है—सत्य बोलना। यह साधना की डोरी में पहली गाँठ है। पाँच समितियों में दूसरी भाषासमिति है। यह दूसरी गांठ है। इसके पश्चात् तीन गुप्तियों में एक वचनगुप्ति है यह तीसरी गाँठ है।

आप किसी भी वस्तु को धागे से बाँधते हैं तो एक गाँठ पर विश्वास न करते हुए दूसरी भी लगाते हैं और निश्चिंत हो जाते हैं कि अब धागा खुल नहीं सकता। किन्तु भगवान ने साधु की साधना को मजबूत बनाने के लिये सत्य की दो गाँठों पर भी विश्वास न करके तीन-तीन गाँठें लगाई हैं। संतों के लिये तो असत्य ही क्या, सत्य भी अप्रिय, कटु और अहितकारी हो तो नहीं बोलना चाहिये। निश्चयकारक भाषा का बोलना भी वर्जित है। कभी-कभी इससे बड़ा अनर्थ हो जाता है। एक उदाहरण से यह बात आपकी समझ में आ जाएगी।

निश्चयात्मक भाषा से अनर्थ

किसी गांव में एक सन्त का चातुर्मास था। उसी गाँव में एक राजपूत स्त्री रहती थी। स्त्री बड़ी धर्मात्मा थी, अतः संत के दर्शन करने और उनका प्रवचन सुनने को प्रतिदिन आया करती थी। किन्तु वह सदा उदास दिखाई देती थी, अतः एक दिन मुनि ने उससे पूछा—"बहन ! तुम सदा अत्यन्त उदास रहती हो, इसका क्या कारण है ?

स्त्री बोली—"भगवन् ! मेरे पति बारह वर्ष से घर नहीं आए हैं। वे युद्ध

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

में गये थे किन्तु अब तक लौटे नहीं, न ही बहुत दिनों से उनके कोई समाचार ही मुझे मिले हैं।"

संत ज्ञानी और सिद्ध पुरुष थे। उन्होंने कह दिया--"तुम्हारा पति कल आ जाएगा।"

यद्यपि साधु को सत्य होने पर भी निश्चयकारी भाषा कभी नहीं बोलनी चाहिये, किन्तु उनसे भूल हो गई और उन्होंने स्त्री को निश्चयात्मक वचनों से दिलासा दे दी।

राजपूत रमणी को मुनि पर असीम श्रद्धा और विश्वास था। उसने संत की बात को पूर्ण सत्य माना और अपार खुशी से विह्वल होकर घर चली गई। घर पहुँचते ही उसने पति के स्वागत की तैयारियाँ प्रारम्भ कर दीं। सम्पूर्ण घर को उसने साफ किया, सजाया और घर दीपावली के त्यौहार पर जिस प्रकार सुन्दर लगता है, उसी प्रकार जगमगाने लगा। वह दिन उसने घर की काया-पलट में लगाया और अगले दिन स्वयं अपने शरीर को सजाने में लग गई। उबटन लगाकर स्नान किया तथा सुन्दर वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होकर पति की प्रतीक्षा करने लगी।

संत के कथनानुसार सत्य ही स्त्री का पति दिन के तीसरे प्रहर में घोड़ी पर बैठकर अपने घर लौट आया। राजपूत स्त्री प्रसन्नता से पागल-सी होकर पति के स्वागत के लिये बाहर आई।

किन्तु राजपूत युवक अपनी पत्नी को देखकर चकित रह गया। वह अपने हृदय में विचार करता हुआ आया था कि उसकी न जाने कैसी दशा होगी ? दुःख के कारण उसका चेहरा मुर्झाया हुआ और अत्यन्त क्लांत होगा, उसे न खाने का ध्यान होगा, न पहनने का ही होश रहा होगा। पर जब घर आकर उसने देखा कि सम्पूर्ण घर सजावट से जगमगा रहा है और उसकी स्त्री के चेहरे पर दुःख या चिंता का लेश भी नहीं है, उलटे वह वस्त्राभूषणों से लदी हुई परम प्रसन्न नजर आ रही है तो वह संदेह से भर गया कि उसकी पत्नी अवश्य ही दुराचारिणी है।

घोड़ी से उतरते ही उसने क्रोध से पूछा—

"यह सब शृङ्गार और सजावट किसके लिये हैं ?"

पति की बात सुनते ही स्त्री कुछ क्षणों तक स्तंभित-सी खड़ी रह गई। पर फिर अपने को संभालकर नम्रता पूर्वक बोली—"यह सब कुछ आपके लिये ही है। यहाँ पर जिन मुनि का चातुर्मास है, उन्होंने मुझे बताया था कि आप आज आएँगे।"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

"यह सब झूठ है। क्या कोई ऐसी भविष्यवाणी कर सकता है ? तू अपने पापों पर परदा डालने के लिये ही बातें बना रही है।" क्रोध से आग-बबूला होकर राजपूत बोला।

पति-पत्नी की यह बातें हो ही रहीं थी कि इतने में संत उधर से आ गए। उन्होंने पिछले दिन निश्चयपूर्वक एकदम कह तो दिया था कि—"तेरा पति कल आ जाएगा।" किन्तु बाद में उन्हें अपनी भूल का ज्ञान हुआ और यह विचार कर कि उस स्त्री का पति आया या नहीं, कहीं मेरी बात असत्य तो नहीं साबित हुई है ? ऐसा विचार करके अपनी बात की प्रतिक्रिया जानने के लिये सहज उत्सुकतावश उधर आ निकले।

जब स्त्री ने मुनिराज को पधारते हुए देखा तो पति से बोली—"इन्हीं गुरुदेव ने मुझे आपके विषय में बताया था कि आज आप आ जाएँगे।"

पति का क्रोध उतरा नहीं था, अतः उसने मुनि से पूछा—"अगर आप भविष्य में होने वाली बात बता सकते हैं, तो बताइये कि मेरी यह घोड़ी जो कि गर्भवती है, इसके क्या होगा ?"

संत बड़े पशोपेश में पड़े। किन्तु उत्तर न देने पर उस दंपति में कलह बढ़ जाता और स्त्री अविश्वास की पात्र बनती, अतः उन्होंने उत्तर दिया —

"इसके बछेरा होगा।" यह सुनते ही राजपूत युवक ने अपनी तलवार कमर से निकाली और संत के हाँ-हाँ ···कहते-कहते भी अविलंब घोड़ी का पेट चीर दिया और उसके पेट से बच्चे को निकालकर देखा। बच्चा बछेरा ही था।

पर संत ने अपने शब्दों का जब यह भयंकर परिणाम देखा तो महान पश्चात्ताप करते हुए अपने स्थान पर जाकर चारों आहारों का त्याग कर समाधिमरण स्वीकार कर लिया। इधर स्त्री ने जब यह सुना तो घोड़ी और उसके बच्चे की हत्या के दुःख से तो वह पहले ही दुखी थी, पर अब संत के अकाल देहावसान का कारण भी अपने को मानकर घर में गई और अपने कमरे का दरवाजा बन्द कर गले में फंदा डालकर छत की कड़ी से झूल गई।

राजपूत ने जब यह सब देखा कि बच्चे समेत घोड़ी मरी, संत ने संथारा ले लिया और इधर स्त्री भी फांसी लगाकर मर गई तो उसने भी स्त्री के गले का फंदा निकालकर अपने गले में डाल लिया।

इस प्रकार केवल 'तेरा पति कल आ जाएगा' संत के इन निश्चयात्मक शब्दों के कारण पाँच प्राणियों की जान गई। इसलिये साधु के लिये निश्चयात्मक भाषा का प्रयोग करना भगवान के आदेशानुसार सर्वथा वर्जित है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भाषा का तो प्रत्येक व्यक्ति को बड़ी सावधानी से प्रयोग करना चाहिये। चाहे साधु हो या श्रावक, बिना विवेक रखे बोलने से अनेक बार अप्रिय प्रसंग उपस्थित हो जाते हैं। इसलिये बुद्धि और विवेक की तुला में तौले बिना कभी भी शब्दों का उच्चारण नहीं करना चाहिये। कहा भी है—

पुव्विं बुद्धीए पासेत्ता, तत्तो वक्कमुदाहरे।
अचक्खुओवनेयारं, बुद्धिमन्नेसए गिरा॥

—व्यवहार भाष्य, पीठिका ७६

पहले बुद्धि से परखकर फिर बोलना चाहिये। अन्धा व्यक्ति जिस प्रकार पथ-प्रदर्शक की अपेक्षा रखता है, उसी प्रकार वाणी बुद्धि की अपेक्षा रखती है।

तो बंधुओ, आप समझ गए होंगे कि वाणी का उच्चारण करने से पहले कितनी सतर्कता रखने की आवश्यकता है। वह तभी रह सकती है जबकि भाषा के गुणों के साथ-साथ उसके दोषों को भी समझ लिया जाय। आप शरीर में व्याधि उत्पन्न होने पर वैद्य के पास जाते हैं और वैद्य दवा देने के साथ ही यह भी बताते हैं, कि अमुक वस्तुओं को खाओ और अमुक वस्तुओं को छोड़ो।

इसी प्रकार मोक्षमार्ग पर चलने वाले के लिये भगवान हेय, ज्ञेय एवं उपादेय का ज्ञान करने का आदेश देते हैं। वे कहते हैं—'अगर तुम्हें अपनी आत्मा का कल्याण करना है तो साधना के पथ पर चलो। भाषासमिति का आश्रय लो तथा कटु बोलना छोड़कर मधुर भाषा का प्रयोग करो।

जो तत्वज्ञानी होता है, वह समझ लेता है कि सदा प्रिय और हितकारी भाषा बोलनी चाहिये। किसी का नुकसान हो, ऐसी वाणी का प्रयोग करना कर्म-बंधन का कारण होता है। नुकसान तो केवल आर्थिक दृष्टि से ही नहीं माना जाता अपितु जिन वचनों से किसी के दिल में दुख होता हो, वैसी भाषा भी नहीं बोली जानी चाहिये।

मराठी में कहा गया है—

बोलावे बहु गोड़ प्राण्या ! बोलावे बहु गोड़।
दुष्ट, दुरुक्ति, दुर्वचना चो, टाकून द्यावी खोड़, प्राण्या....।

कहते हैं—हे जीव ! सत्-चिदानंद आत्मन् ! तू कठोर एवं क्रूर दुर्वचनों का त्याग करके मधुर भाषा को ग्रहण कर। कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं, जिनके वचनों में कठोरता होती है, किन्तु अन्तःकरण कोमल और पवित्र होता है। पर कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते हैं, जो ऊपर से तो बड़ा मधुर बोलते हैं पर उनके अन्तर् में कलुष रहता है तथा वह औरों के अहित की कामना करते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ऐसे व्यक्तियों के बारे में संस्कृत के एक कवि ने कहा है—

परोक्षे कार्य हंतारम्, प्रत्यक्षे प्रियवादिनम् ।
वर्जयेत्तादृशम् मित्रम्, विषकुम्भं पयोमुखम् ॥

अर्थात् —परोक्ष में तो किसी की हानि का प्रयत्न करना, उसका सिद्ध होता हुआ भी बिगाड़ देना, किन्तु प्रत्यक्ष में मधुर बोलते हुए अपने आपको प्रिय मित्र साबित करना बहुत ही हानिकर और भयंकर है। ऐसे मित्र को तो विषकुम्भ के समान मानकर त्याग देना चाहिये जिसमें ऊपर दूध भरा हुआ हो किन्तु अन्दर हलाहल जहर हो।

तो बंधुओ ! दुष्टतापूर्ण, कठोर एवं कर्कश भाषा बोलना अनुचित है तथा 'मुँह में राम बगल में छुरी' इस कहावत को सार्थक करने वाली कपट भाषा भी निषिद्ध है। भाषा वही उत्तम है जो ऊपर से मधुर हो और बोलने वाले के अन्तर् में भी मधुरता तथा अन्य के हित की भावना हो। जैसा कि कहा गया है—

"अंतर बाहिर न बाधे साखर
सेवी सुखाची कोड़ - प्राण्या ·····।

जिस प्रकार शक्कर बाहर से मीठी होती है और अन्दर से भी मीठी होती है, वैसा ही मनुष्य को बनना चाहिये। उसका हृदय और वाणी दोनों में ही मधुरता हो, तभी वह अपने व्यवहार को शुद्ध और साधनामय बना सकता है।

ऐसा करने पर ही भाषासमिति का पालन होता है और आत्मा मुक्ति-मार्ग पर अग्रसर हो सकती है। भाषासमिति पर अंकुश रखना ही संवर की ओर बढ़ने का सच्चा प्रयास है। अतः प्रत्येक व्यक्ति को, प्रत्येक श्रावक को और प्रत्येक साधु को इस तत्त्व की ओर ध्यान देना चाहिये तथा बड़ी सावधानीपूर्वक अपने वचनों का प्रयोग करना चाहिये। तभी वह अपने गन्तव्य की ओर बढ़ सकेगा तथा इच्छित फल की प्राप्ति करने में समर्थ बनेगा।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

३ | मधुकरी

धर्मप्रेमी बंधुओ, माताओ एवं बहनो !

मैंने पिछले दिनों में बताया है कि इस जीवात्मा का उद्धार करने वाला एकमात्र मार्ग संवर का है। संवर शब्द का अर्थ है—संव्रियते, अर्थात् रोकना। बहते हुए पानी के प्रवाह को रोकने के लिये जिस प्रकार बाँध बनाया जाता है, उसी प्रकार पाप-रूपी जल के प्रवाह को रोकने के लिये भी संवर-रूपी बाँध बनाया जाता है।

संवर के सत्तावन भेद किये गए हैं और उन भेदों में सर्वप्रथम पाँच समितियां बताई गई हैं। पाँच समितियों में भी पहली ईर्यासमिति और दूसरी भाषासमिति है। इनका वर्णन हम संक्षेप में कर चुके हैं। आज तीसरी 'एषणासमिति' के विषय में हम विचार करेंगे।

एषणा को दूसरे शब्दों में हम शुद्ध गवेषणा भी कह सकते हैं। इससे तात्पर्य यह है—साधु-साध्वी जब भिक्षा के लिये निकलें तो शुद्ध गवेषणा करके निर्दोष आहार ग्रहण करें। हमारे शास्त्र बताते हैं कि साधु को एकसौ छः दोषों से बचाव करते हुए आहार-पानी लेना चाहिये। इन एकसौ छः में भी बयालीस दोष मुख्य हैं। इन सबके विषय में अभी विस्तृत बताया नहीं जा सकता, अतः यही कहा जा रहा है कि समस्त दोषों को टालकर निर्दोष आहार ही मुनि ग्रहण करे। सदोष या अग्राह्य आहार लेना संयम के मार्ग पर चलने वाले साधक के लिये निषिद्ध है। क्योंकि सदोष या तामसिक आहार लेने से उसके जीवन और मन पर अशुद्ध प्रभाव पड़ता है और मन के अशुद्ध होने पर संयम की साधना भी शुद्ध कैसे हो सकती है ? आप कहते भी हैं —

जैसा अन-जल खाइये, तैसा ही मन होय।
जैसा पानी पीजिये, तैसो वानी होय॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कबीर जी का यह कथन यथार्थ है और हम प्रयोग करके सहज ही इसकी सत्यता का अनुभव कर सकते हैं। हम देखते हैं कि तामसिक आहार करने वाला अर्थात् अण्डे, मांस, मछली, मदिरा अथवा ऐसी ही सर्वथा निष्कृष्ट वस्तुएँ खानेवाला व्यक्ति क्रोधी, क्रूर और निर्दयी होता है तथा सात्विक भोजन करने वाला सरल, दयालु, स्नेहशील और अहिंसक प्रवृत्ति रखता है।

मेरे कहने का आशय यही है कि साधक को न जीभ-लोलुपता के लिए आहार ग्रहण करना है, और न शरीर की पुष्टि के लिये। उसे केवल शरीर को चलाने के लिये आहार ग्रहण करना है, क्योंकि मोक्षमार्ग की साधना का माध्यम शरीर ही है। शरीर के द्वारा ही वह आन्तरिक एवं बाह्य तपादि करके कर्मों की निर्जरा करता है। जिस प्रकार मक्खन में से घी निकालने के लिए मक्खन को सीधा आप अग्नि में नहीं डाल सकते, वरन किसी बर्तन में रखकर बर्तन के माध्यम से उसे तपाते हैं, और घी निकालते हैं। उसी प्रकार आत्मा में रहे हुए सम्यक्ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र-रूप आत्मिक एवं शुभ गुणों को अपने उज्ज्वल रूप में प्राप्त करने के लिये उसे शरीर-रूपी पात्र में रखते हुए तपस्या की अग्नि में तपाते हैं और ऐसा करने पर ही आत्मा शुद्ध होती है तथा पापकर्म रूपी मैल उससे अलग होता है।

निशीथभाष्य में भी कहा गया है—

मोक्खपसाहण हेतू, णाणादि तप्पसाहणो देहो ।
देहट्ठा आहारो, तेण तु कालो अणुण्णातो ॥

ज्ञानादि गुण मोक्ष के साधन हैं, ज्ञान आदि का साधन देह है, और देह का साधन आहार है। अतः साधक को समयानुकूल आहार की आज्ञा दी गई है।

तो समय पर निर्दोष भिक्षा लाकर परिमित मात्रा में ग्रहण करना ही एषणा-समिति का अर्थ है।

भिक्षा कैसी हो ?

साधु को भिक्षा किस प्रकार और कैसे लानी चाहिये, यह भी बड़ी महत्त्व-पूर्ण और जानने योग्य बात है। भिक्षा के पात्र लेकर रवाना हुए और किसी एक ही घर में जाकर पात्र खाद्य पदार्थों से भर लाये, यह साधु के लिये सर्वथा वर्जित है। अगर वह ऐसा करता है, यानी किसी एक गृहस्थ का भार बनता है तो गृहस्थ की अश्रद्धा का पात्र तो बनेगा ही, साथ ही उसके स्वयं के चारित्र में भी भारी दोष या कलंक लगेगा।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आपको ज्ञात होगा कि भिक्षा को 'मधुकरी' अथवा 'गोचरी' भी कहा जाता है। ऐसा क्यों ? क्योंकि इन शब्दों के पीछे भी बड़ा महत्त्वपूर्ण भाव है। भिक्षा को मधुकरी क्यों कहते हैं, इस विषय में दशवैकालिक सूत्र के प्रथम अध्याय की दूसरी गाथा में कहा गया है—

जहा दुमस्स पुप्फेसु, भमरो आविय‌इ रस ।
ण य पुप्फं किलामेइ, सो य पीणेइ अप्पयं ।।

अर्थात् जिस प्रकार द्रुम यानी वृक्ष पर लगे हुए फूल पर भ्रमर आकर बैठता है और रसपान करता है। किन्तु वह पुष्प को तनिक भी कष्ट नहीं पहुँचाता तथा अपनी आत्मा को भी तृप्त कर लेता है। उसी प्रकार साधु को भी गृहस्थ रूपी फूल से इसी प्रकार थोड़ा-थोड़ा आहार लेना चाहिये, जिससे गृहस्थ को किसी प्रकार की कमी महसूस न हो और उसे भार न लगे। यद्यपि भँवरे में इतनी शक्ति होती है कि वह चाहने पर काष्ठ में भी छेद कर देता है किन्तु पुष्प को कष्ट नहीं पहुँचाता। यही भावना मुनि की होनी चाहिये कि वह एक ही गृहस्थ के यहाँ से ढेर-सा आहार लेकर उसे किसी भी प्रकार की परेशानी में न डाले।

भिक्षा के लिये दूसरा शब्द 'गोचरी' आया है, जिसका शाब्दिक अर्थ है—गौ-चरी, यानी गाय के समान चरना। तो बंधुओ, भिक्षा को गौचरी ही क्यों कहा गया ? अश्वचरी या गर्दभचरी क्यों नहीं कहा ? इसलिये कि गधे और घोड़े जब चरते हैं तो घास के न निकलने पर उसे जड़समेत उखाड़ कर खा जाते हैं। किन्तु गाय ऐसा नहीं करती। वह जब घास चरती है, घास के ऊपरी हिस्से को ही साव-धानी से खाती है, उसे जड़ से नहीं उखाड़ती। यही कारण है भिक्षा को गौचरी कहने का तथा अश्वचरी, गर्दभचरी या पशुचरी न कहने का।

आपके मन में प्रश्न आएगा कि गोचरी को संवर में कैसे लिया गया है ? अरे भाई ! शरीर को चलाने के लिये अन्न-पानी तो लेना ही पड़ता है। इनके अभाव में शरीर चल नहीं सकता। किन्तु साधारण व्यक्तियों के आहार में और साधु के आहार करने में बड़ा भारी अन्तर है। साधारण व्यक्ति खाने के लिये जीता है और साधु केवल जीवित रहने के लिये खाता है। खाते दोनों हैं, किन्तु दोनों की भावनाओं में जमीन-आसमान का अन्तर है।

अधिकतर व्यक्ति जिह्वा की तृप्ति करने के लिये अत्यन्त गृद्धता और लोलुपता पूर्वक भोजन करते हैं। अमुक वस्तु स्वादिष्ट बनी है और अमुक वस्तु बेस्वाद, यही विचार करते हुए और कहते हुए संतुष्ट अथवा असंतुष्ट होकर खाना खाते हैं। उनके लिये मधुर, पौष्टिक और स्वादिष्ट खाना ही महत्त्वपूर्ण है। यह

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बात उनके ध्यान में नहीं आती कि खाना किसलिये चाहिये ? खाना ही जीवन का उद्देश्य है अथवा खाने से किस उद्देश्य की पूर्ति करनी चाहिये ? उनके जीवन का सबसे बड़ा उद्देश्य केवल शरीर को भोगोपभोगों से सुख पहुँचाना है और उनमें से एक है, खूब स्वादयुक्त पदार्थों का भोजन करना।

लेकिन संत-मुनिराजों के लिये यह बात नहीं है। उनके जीवन का उद्देश्य अच्छा और मधुर खाना नहीं, अपितु जीवन के सर्वोत्तम उद्देश्य मोक्ष-प्राप्ति के लिये साधना करने में सहायक शरीर को थोड़ी खुराक देते रहना है। उनके लिये भगवान ने कई प्रतिबन्ध लगाये हैं, जिनका पालन न करते हुए आहार करने से दोषों का भागी बनना पड़ता है।

शास्त्रों में वे कारण मुख्य रूप से पाँच कहे गये हैं—

संजोयणा, पम्माणा, इंगाले, धूमे, कारणे।

(१) इन पाँच कारणों में से पहला कारण 'संजोयणा' अर्थात्—संयोग मिलाकर आहार करना। उदाहरण स्वरूप अगर मुनि मांडले पर बैठ जाय यानी आहार करने के लिये बैठ जाय, पर खीर चखने पर ज्ञात हो कि इसमें शक्कर नहीं है और वह उठकर शक्कर लावे तो उसे संयोग का दोष लगता है।

(२) दूसरा कारण 'पम्माणा' है। इसका अर्थ है प्रमाण के अनुसार ही साधु को आहार करना चाहिये। अगर वह अधिक आहार करता है तो शरीर में प्रमाद की अधिकता होती है और ज्ञानाभ्यास, स्वाध्याय अथवा साधना की अन्य क्रियाओं में बाधा पड़ती है।

(३) तीसरी बात कही गई है 'इंगाले'। अगर मुनि आए हुए स्वादिष्ट आहार की प्रशंसा अथवा सराहना करते हुये उसे ग्रहण करे तो मानो वह अपने संयम के कोयले करता है।

(४) चौथा है 'धूमे'। आए हुए नीरस पदार्थ की निंदा और अप्रशंसा करता हुआ साधु उसे ग्रहण करे तो वह अपने संयम का धुंआ कर देता है।

(५) पाँचवां बताया गया है 'कारण'। कारण के बारह भेद हैं, जिनमें से छः कारणों से साधु आहार करता है और छः कारणों से आहार का त्याग करता है। तो जिन कारणों से आहार ग्रहण करता है, वे हैं—क्षुधा वेदनीय सहन न होने के कारण, वैयावृत यानी सेवा करने के लिये, ईर्यासमिति के लिये, संयम का निर्वाह करने के लिये जीवों की रक्षा के लिये, और धर्मकथा यानी धर्मोपदेश देने के लिये।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तो बंधुओ आप समझ गए होंगे कि संत-मुनिराज कितने संयम पूर्वक आहार करते हैं तथा सेवा, धर्मोपदेश तथा जीवों के रक्षण आदि की कैसी उत्तम भावनाओं को लेकर ही शरीर को खुराक देते हैं।

संतों के लिये आहार के सरस और नीरस होने का कोई महत्त्व नहीं होता, वे उसका उपयोग केवल शरीर को कायम रखने के लिये करते हैं।

भगवान महावीर के चौदह हजार शिष्य थे। एक बार महाराजा श्रेणिक ने भगवान से सहज ही पूछ लिया—"भगवन्! आपके चौदह हजार शिष्यों में से कौन-सा शिष्य आपको अधिक प्रिय है?"

भगवान ने उत्तर दिया—"राजन्! मेरे सभी शिष्य संयम-साधना में सतर्क और योग्य हैं, किन्तु सबसे उत्कृष्ट करणी करने वाला धन्ना मुनि है, वही मुझे अत्यधिक प्रिय है।"

धन्ना-मुनि के विषय में आज ही हम गाते हैं—

धन्ना मुनि धन मानव भव पायो।
बार इक्कीसे जल मांहि धोई,
ते अन्न खाइ जल पीयो।
ऐसो तप सुणता उर कंपे,
धन धन थांरो जीयो—धन्ना मुनि ...।

भगवान के शिष्य धन्ना मुनि सदा बेला अर्थात् दो दिन उपवास करते थे और दो उपवासों के पश्चात् पारणे के दिन आयंबिल किया करते थे। किन्तु आयंबिल भी कैसा? वे जिस अन्न को लाते थे उसे इक्कीस बार जल से धोकर तत्पश्चात् खाते थे। पशु-पक्षी भी जिस अन्न को न खा सकें, वैसे अन्न को दो उपवासों के पश्चात् खाना क्या साधारण बात है? केवल भव्य आत्माएँ ही ऐसा कर सकती हैं। श्री धन्ना मुनि ने केवल नौ माह तक संयम का पालन किया। किन्तु अपनी उत्कृष्ट साधना से उस अल्प-समय में ही उन्होंने सर्वार्थसिद्धि प्राप्त कर ली।

तो बंधुओ, श्री धन्नामुनि का उदाहरण देने से मेरा आशय यही बताना है कि सच्चा संत कभी आहार के सरस, नीरस या कम-ज्यादा होने की परवाह नहीं करता। वह जैसा भी मिल जाय उसे निस्पृह भाव से ग्रहण करता है। ध्यान केवल इस बात का रखता है कि आहार सदोष न हो, पूर्णतया निर्दोष हो। निर्दोष भिक्षा ही वह शरीर को देता है ताकि शरीर चलता रहे और साधना में किसी प्रकार की बाधा न पड़े।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

संत कबीर ने भी कहा है—

कबिरा काया कूतरी, करत भजन में भंग ।
ताको टुकड़ा डारि के, भजन करो उमंग ।।

कबीर ने शरीर को अत्यन्त तिरस्कृत करते हुए उसे कुतिया की उपमा दी है और कहा है कि यह भजन में बाधा डालती है अतः रोटी का टुकड़ा डाल दो ताकि यह चुपचाप बैठ जाय और हम निश्चित होकर भगवान का भजन कर सकें ।

दोहे के शब्दों में कोई रस, अलंकार या ऊँचे शब्द नहीं हैं, किन्तु इसके अन्दर भाव बड़े ऊँचे हैं । शरीर को कुतिया की उपमा देना यह जाहिर करता है कि साधक या भक्त को अपने शरीर के प्रति तनिक भी मोह-ममत्व नहीं होता ।

जहाँ साधारण व्यक्ति शरीर को पुष्ट बनाने में और इन्द्रियों को तृप्त करने में ही अपने जीवन के उद्देश्य को पूर्ण हुआ समझते हैं तथा इन्हीं कार्यों के लिये जीवन भर परिश्रम करते हैं, वहाँ साधक इस शरीर को तुच्छ मानता है तथा इसके भोजन माँगने के कारण झुंझलाता हुआ इसे कुत्ते की उपमा देता है । उसके लिए जीवन का उद्देश्य भगवत् प्राप्ति या समस्त कर्मों से मुक्त हो जाना होता है । अच्छा-अच्छा पहनाकर शरीर को सजाना और पौष्टिक पदार्थ खा-खाकर इसे पुष्ट करना नहीं । इसीलिये इसके भोजन माँगने पर वह क्रोधित होता है और उस समय को निरर्थक गया हुआ समझता है ।

रामायण के रचयिता संत तुलसीदास जी भी कहते हैं—

मगन भये तुलसी रामा प्रभु गुण गाय के ।
कोई खावे लड्डू पेड़ा, दूध दही मंगाय के,
साधु खावे रूखा-सूखा रंग में रंगाय के ।।

तुलसीदास जी का कथन है कि सच्चा भक्त तो भगवान के गुण-गान करके ही मगन हो जाता है । उसकी भूख आत्मिक होती है, शारीरिक भूख को वह महत्व नहीं देता ।

गृहस्थ तो दूध-दही, लड्डू-पेड़े और अन्य नाना प्रकार के स्वादिष्ट पदार्थ बनवाकर या मँगाकर खाते हैं । किन्तु साधु तो रूखा-सूखा जो भी मिल जाय, उसे ही ग्रहण कर लेता है । भक्ति के रंग से रंगे हुए होने के कारण उसे भोज्य-पदार्थों के स्वाद का पता ही नहीं चलता ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अगर कोई साधु भी गृहस्थ के समान भोज्य-पदार्थों में रुचि रखता है तो वह सच्चा साधु नहीं कहला सकता। अभी मैंने आपको बताया था कि भिक्षा लाते समय मुख्य रूप से ब्यालीस दोषों के न लगने का पूर्ण ध्यान साधु को रखना चाहिये। ब्यालीस में से सोलह दोष तो गृहस्थ की ओर से लगते हैं, सोलह साधु की ओर से तथा दस दोष दोनों मिलकर लगाते हैं। इस प्रकार कुल ब्यालीस दोष होते हैं, जिनका ध्यान रखना साधु के लिये अनिवार्य है।

कहने का अभिप्राय यही है कि इन समस्त दोषों को बचाने पर जो भी रूखा-सूखा या नीरस आहार मिल जाय, वही साधु को पूर्ण संतोष और समता पूर्वक ग्रहण करना चाहिये। हमारे बुजुर्ग कहते हैं—

"कभी तो घी घणा, कभी मुट्ठी भर चना और कभी वो भी मना।"

साधु को ये सब अनुभव होते ही रहते हैं। आप जैसे श्रीमंतों के यहाँ चातुर्मास काल में आहार के लिये जाने पर स्वादिष्ट पदार्थ प्राप्त होते हैं, पर जब विहार करते हुए छोटे-छोटे गाँवों में ठहरना पड़ता है तो कभी एक रोटी, आधी रोटी या वह भी नहीं मिलती। कहीं मक्की या बाजरी की रोटी मिल गई तो शाक नहीं मिलता और शाक मिल गया तो रोटी प्राप्त नहीं होती। जिन क्षेत्रों में वर्षा काफी होती है, वहाँ तो वर्षाकाल में कई फाके भी हो जाते हैं। किन्तु हमें ऐसे अवसरों पर भी बड़े आनन्द और संतोष का अनुभव होता है। कभी खाना न मिला तो क्या? शरीर चला तो जाता नहीं, उलटे आत्मा मजबूत बनती है!

तो आहार का शुभा-शुभ फल भावनाओं पर निर्भर होता है। अगर मुनि गृद्धतापूर्वक आहार ले तथा सदोष आहार लेकर आए तो शास्त्रों में बताया गया है कि वह अपने कर्मों के बंधनों को निविड़ अर्थात् मजबूत बना लेता है, और केवल शरीर को भाड़ा देने का विचार रखते हुए निरासक्त भाव से निर्दोष आहार लाता है तो उससे अनेकानेक कर्मों की निर्जरा होती है। इसीलिये 'एषणासमिति' को संवर में लिया गया है।

यद्यपि भिक्षा के लिये जाना बड़ा कठिन होता है। अगर आप लोगों से अभी एक दिन भी हमारे समान भिक्षा लाकर खाने के लिये कह दिया जाय तो आप अपनी हेठी समझेंगे तथा इसे बड़ी भारी मान-हानि का कारण मानेंगे। किन्तु बड़े-बड़े राजा-महाराजा, चक्रवर्ती अथवा करोड़पति भी जब दीक्षित हो जाते हैं तो उन्हें भिक्षा के लिये जाना पड़ता है। आज भी यही बात है। प्रायः लोग अवश्य कह देते हैं कि कमाया नहीं जाता या परिवार का पालन-पोषण नहीं किया जाता तो अकर्मण्य

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

व्यक्ति साधु बन जाया करते हैं। किन्तु जानकारी करने पर उन्हें सहज ही मालूम पड़ सकता है कि आज भी अधिकतर संत उच्च घराने के, उच्च विचारों के और समृद्धि-शाली कुलों के दीपक हैं जो कि अपने धन को ठोकर मारकर और स्वजनों के मोह को छोड़कर मुनि बनते हैं। न वे परिवार के आग्रह की, उनके आँसुओं की और अंत में उन्हें नाना प्रकार के परीषह दिये जाने की भी परवाह करते हैं। लाख प्रयत्न करने व रोकने पर भी उन पर चढ़ा हुआ वैराग्य का रंग नहीं उतरता और वे दीक्षित होकर आत्म-कल्याण करते हैं।

ध्यान में रखने की बात है कि जो व्यक्ति गृहस्थावस्था में अकर्मण्य होता है, वह कायर संयम ग्रहण करके भी क्या कर सकता है? संयम का मार्ग फूलों का नहीं, कांटों का है। इस पर कमजोर और कायर कदापि नहीं चल सकते। गृहस्थावस्था में कितना भी कष्ट क्यों न हो, वह संयमपथ के कष्टों की तुलना नहीं कर सकता। इसलिए ऐसा विचार करना और कहना कि अकर्मण्य व्यक्ति साधु बनते हैं, सरासर गलत है। साधु बनने पर ही इस बात का अनुभव हो सकता है कि संयम के मार्ग की कठोरता में गृहस्थावस्था का कष्ट सौवाँ हिस्सा भी नहीं है। दूसरे, साधु बनने के लिये धनी होना या निर्धन होना कोई महत्व नहीं रखता। महत्व केवल विरक्ति का है। जिसका मन जितना अधिक संसार से विरक्त है वही सबसे अधिक धनवान होता है और वही साधु बनने के काबिल होता है।

साधु संसार में सबसे अमीर व्यक्ति होता है। सांसारिक धन-वैभव कितना भी अधिक क्यों न हो, वह अनित्य होता है, इस देह के साथ ही छूट जाने वाला होता है और उसकी एक सीमा होती है। किन्तु साधु के पास जो आत्मिक गुण, ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र होते हैं तथा संतोष एव शांति रूपी धन होता है, वह इस लोक में भी कभी समाप्त नहीं होता तथा परलोक में भी अक्षय सुख के रूप में बदल जाता है।

आशा है आप समझ गए होंगे कि मुनिवृत्ति सहज नहीं है, जिसे कोई भी अकर्मण्य व्यक्ति स्वीकार करके आनन्द से अपने जीवन-यापन का साधन बना ले। श्री उत्तराध्ययन के उन्नीसवें अध्ययन में बताया गया है—

जवा लोहमया चेव, चावेयव्वा सुदुक्करा।
जहा भुयाहि तरिउं, दुक्करं रयणायरो।
जहा तुलाए तोलेउं, दुक्करो मन्दरोगिरी।

अर्थात्—मुनिवृत्ति मोम के दांतों से लोहे के चने चबाना है या भुजाओं से

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अथाह सागर को तैरकर पार करना है अथवा गिरिराज सुमेरु को करतल पर धर कर तोलना है।

वस्तुतः यह वृत्ति ऐसी करनी ही है, जिस पर मनुष्य के धैर्य, साहस, सहनशीलता, संयम, शांति, सन्तोष एवं दृढ़ता की परख होती है। चोखे सोने के समान खरे और वीर व्यक्ति ही इस पर पूरे उतरते हैं। कायर व्यक्ति प्रथम तो इसे ग्रहण कर ही नहीं सकते और कदाचित् ग्रहण कर लें तो उस पर चल नहीं सकते, मार्ग में ही भ्रष्ट हो जाते हैं। इसलिये इस वृत्ति को सरल और आनन्दमय कहना निरा अज्ञान है। ऐसा कहने वाले व्यक्ति की बातों का उत्तर यही है कि उनसे कहा जाय—"अगर साधुवृत्ति अत्यन्त सरल और आनन्दमय है तो तुम भी इस जीवन को अपनाकर इसका अनुभव कर लो।" मैं समझता हूं कि ऐसा कहते ही उनकी समस्त उछल-कूद बंद हो जायगी और भविष्य में ऐसा प्रलाप करने का वे सर्वथा त्याग कर देंगे।

तो बंधुओ, हमारा आजका मुख्य विषय तो 'एषणासमिति' है। जिसका अर्थ है शुद्ध आहार की गवेषणा करना। निर्दोष आहार लाना संवर का एक भेद है जो कर्मों की निर्जरा करता है। प्रत्येक संत चाहे वह निर्धन कुल से आया हो या धनी कुल में से, समान है और समान भाव से प्रत्येक को निर्दोष आहार की खोज करके उसे लाना चाहिये तथा निरासक्त भाव से बिना उसकी सरसता या नीरसता पर ध्यान दिये केवल शरीर को खुराक देना है, इस बात को ध्यान में रखते हुए उसे ग्रहण करना चाहिये।

भिक्षाचरी निर्जरा का कारण तभी बनती है जब मानापमान का खयाल किये बिना जहाँ जैसा आहार मिले उसे साधु लेकर आए और समता व संतोषपूर्वक ग्रहण करे।

स्वामी रामदास जी एक बड़े भारी संत हुए हैं। उनका एक शिष्य एक बार किसी गृहस्थ के यहाँ भिक्षा लेने गया। गृहस्थ ने आहार तो नहीं दिया किन्तु बदले में बहुत-सी गालियाँ दीं। शिष्य ने गालियाँ शांति से सुन लीं और एक कपड़े में कई गांठें लगाकर उसे झोली में डाल लिया। अपने स्थान पर जब वह लौटा तो भिक्षा गुरु को दिखानी चाहिये अतः उसने कपड़े में बँधी हुई गांठें गुरुजी को बता दीं। गुरुजी ने चकित होकर पूछा—"यह क्या है?" शिष्य ने बताया कि गुरुदेव! आज गालियों की ही भिक्षा मिली है, अतः ले आया हूं।

गुरुजी अपने शिष्य की समता पर अत्यन्त प्रसन्न हुए और उसे बताया कि साधु का यही धर्म है कि प्रत्येक स्थिति में वह शान्ति और सहिष्णुता रखे।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्यपाद श्री त्रिलोकऋषि जी महाराज जी जब प्रथम बार घोड़नदी पधारे और भिक्षा के लिये गये तो एक गृहस्थ ने पहले तो तिरस्कारपूर्वक कह दिया—"यहाँ कुछ नहीं है।" किन्तु जब महाराजश्री शांतिपूर्वक दस-पाँच कदम आगे बढ़ गए तो पुनः बुलाकर कहा—"देखो! घर में कुछ हो तो ले लो।"

गुरुदेव ने चुपचाप जो मिला ले लिया। न तो उन्होंने दुबारा लौटने में क्रोध या अनिच्छा प्रदर्शित की और न ही गृहस्थ से पूछा कि पहले आपने क्यों इनकार किया था? इसी प्रकार राग-द्वेष रहित होकर आहार लाने और राग-द्वेष रहित होकर सेवन करने से ही कर्मों की निर्जरा होती है तथा एषणासमिति का पालन होता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

४ | विवेको मुक्ति-साधनम्

धर्मप्रेमी बंधुओ, माताओ एवं बहनो !

शास्त्रकारों ने संवर के सत्तावन भेद बताये हैं। उनमें से तीसरा भेद एषणा-समिति है। कल इस पर संक्षिप्त विवेचन किया गया था कि निवृत्ति-मार्ग पर चलने वाले संत महात्मा को शरीर चलाने के लिये आहार-जल लेना पड़ता है, किन्तु वह आहार किस प्रकार लाये और किस प्रकार उसे ग्रहण करे ताकि वह संवर के रूप में आकर कर्मों के आने में बाँध का काम कर सके।

आज संवर का चौथा भेद जो कि चौथी समिति भी है, उसका वर्णन किया जाता है। चौथी समिति है—'आयाणभडमत्तनिक्षेपणा-समिति।'

'आयाण' यानी ग्रहण करना, 'भंड मत्त' यानी उपकरण, चीज-वस्तु, और 'निक्षेपणा' से अभिप्राय है रखना। इस प्रकार कोई भी पात्रादि उपकरण विवेकपूर्वक उठाना और विवेकपूर्वक ही रखना, चौथी समिति कहलाती है।

भगवान ने कहा है कि विवेकपूर्वक चीजों को उठाना और रखना भी संवर है। जो ऐसा नहीं करता अर्थात् चीजों को सावधानी से उठाता और रखता नहीं वह संवर का अधिकारी नहीं बनता, उलटे आश्रव का अधिकारी बन जाता है।

आश्रव का अर्थ है—कर्मों का आना या कर्मों का बँधना। इसके भी बीस भेद या कारण हैं और अंतिम भेद है—

'सुई कुशाग्रे अजयणा सूं लेवे अजयणा सूं देवे।'

अर्थात्—सुई और कुश के अग्रभाग जितना तिनका भी अगर साधक असावधानी से उठाए और असावधानी से रखे तो उसके कर्मों का बंधन होता है। अर्थात्

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कर्मों का आगमन होता है। संवर इससे उलटा है यानी सुई और कुश का अग्रभाग भी अगर सावधानी से उठाए और सावधानी से रखे तो कर्मों का आगमन रुकता है।

तो सावधानी से वस्तु उठाना और सावधानी से रखना जहाँ संवर कहलाता है, वहाँ व्यावहारिक जीवन में सभ्यता और शिष्टता का द्योतक भी होता है। अपने से बड़े व्यक्तियों को अगर कोई वस्तु देनी है तो उसे वहीं से फेंककर देना या उनके पास ले जाकर जोर से पटकना असभ्यता मालूम देती है। अविवेक के कारण ऐसा किया जाता है, किन्तु साधक ऐसा करके संवर का आराधन नहीं कर सकता उलटे आश्रव का सामान जुटाता है।

इस प्रकार संवर और आश्रव में बहुत-थोड़ा फर्क है। तुला पर चीज तौलते समय तनिक-सा भाग भी पलड़े पर ज्यादा हो जाता है, वही झुक जाता है, नल को भी आप जरा-सा इधर करते हैं तो पानी आने लगता है और जरा-सा उधर करते हैं तो पानी का बहना रुक जाता है। यही हाल संवर और आश्रव का है। वस्तु सावधानी से उठाकर रखी तो कर्मों का आगमन बंद और असावधानी से उठाकर रख दी तो कर्मों का आगमन हो जाता है अर्थात् कर्म बँध जाते हैं।

पाप और पुण्य में केवल भावनाओं का भेद अधिक होता है। मन पर संयम रखते हुए क्रियाएँ की जायें तो पुण्य और असंयम के साथ कार्य करने पर पाप का भागी बनना पड़ता है। अतः सच्चा साधक वही है जो पूर्ण सभ्यता और शिष्टता-पूर्वक कार्य करता है तथा अपने उपयोग में आने वाली समस्त वस्तुओं को बड़ी सावधानी से उठाता है, धरता है तथा इधर-उधर बिखरी हुई न छोड़कर व्यवस्थित रूप से उचित स्थान पर रखता है। ऐसा न करने पर साधु को कभी-कभी बड़ी परेशानी का सामना करना पड़ता है। एक उदाहरण से यह समझाया जा सकता है।

एक संत बड़े ज्ञानवान और चारित्र के धनी थे किन्तु उनका शिष्य अविनीत था। संत समय-समय पर उसे शिक्षा देते थे पर वह उन्हें न करके मनमानी किया करता था।

एक बार दोनों विहार करके किसी छोटे से ग्राम में पहुँचे, जहाँ इने-गिने घर ही थे। उस दिन का विहार काफी लम्बा हो गया था अतः गुरु-शिष्य दोनों किसी मकान की खोज करके वहाँ रात्रि को विश्राम करने के उद्देश्य से पहुँच गए। गुरुजी ने कहा—"वत्स, अन्दर जाकर अपने वस्त्र एवं पात्र आदि सावधानी से रख दो।"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पर शिष्य कुछ तो थका हुआ था, दूसरे लापरवाह भी था अतः उसने वस्त्र आदि तो जैसे-तैसे रख दिये पर पात्रों की झोली को असावधानी से किसी ऊँचे स्थान पर जल्दी से रखने ही लगा था कि झोली पात्र समेत लुढ़क गई और नीचे जमीन पर गिर पड़ी।

संत काष्ट के पात्र रखते हैं जो हलके होने के कारण काफी कमजोर भी होते हैं, अतः झोली के लुढ़ककर गिर जाने से वे सभी पात्र फूट गए। शिष्य कुछ क्षण भौंचक्का-सा खड़ा रहा और फिर गुरुजी के पास जाकर बोला—"गुरुजी झोली गिर पड़ी अतः पात्र तो सब फूट गए, अब भिक्षा किसमें लाऊँ।"

गुरुजी सुनकर बड़े असमंजस में पड़े और बोले—"मैं तुमसे बार-बार कहता था कि सभी वस्तुएँ एवं पात्र इत्यादि सावधानी से रखा करो। किन्तु तुमने मेरी सीख नहीं मानी। अब क्या किया जा सकता है? इस छोटे से गांव में तो पात्र उपलब्ध हो नहीं सकते, अतः कल जब हम शहर में पहुँचेंगे, पात्रों की तलाश करके तभी भिक्षा ला सकेंगे।"

शिष्य मन मारकर रह गया। वैसे भी विहार करके आया था अतः भूखा था पर उस दिन उसे उपवास करना पड़ा। किन्तु इस घटना से उसे भविष्य के लिये सीख मिल गई और उसने असावधानीपूर्वक काम न करने के लिये सदा के लिये कान पकड़ लिये।

इसीलिये शास्त्रों में साधु के लिये अत्यन्त सावधानीपूर्वक अपने भंडोपकरण उठाने और रखने का विधान किया गया है और उसे चौथी समिति "आयाणभंड-मत्तनिक्षेपणा-समिति" नाम दिया है। प्रत्येक साधक को संवर-धर्म की आराधना के नाते एवं सभ्यता के नाते भी इसका पूर्णतया पालन करना चाहिये।

अब हम संवर के पांचवें भेद और पाँचवी समिति पर आते हैं। पाँचवीं समिति है—"**उच्चार-पासवण-जल-खेल-संघयण-परिठावणियासमिति।**"

शरीर आहार ग्रहण करता है और उसका रस जब वह ले लेता है तो व्यर्थ की वस्तु को मल-मूत्रादि के रूप में बाहर फेंकता है। साधुभाषा में उसे परिष्ठापना अथवा परठना कहते हैं। अगर इस विषय में ध्यान न रखा जाय तो कभी-कभी भारी विवाद उठ खड़ा होता है। मान लीजिये, अगर आपको थूकना है तो पहले आपको देखना चाहिये कि खिड़की और झरोखे से थूकने पर किसी राह चलते व्यक्ति पर तो वह नहीं गिरता है। असावधानी रखने पर अगर किसी व्यक्ति के शरीर पर गंदगी गिरी तो लड़ाई-झगड़े और मार-पीट तक की नौबत आ सकती है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

साधु को तो साधारण व्यक्तियों की अपेक्षा भी अधिक ध्यान रखने की आवश्यकता है। उसे ख्याल रखना चाहिये कि परठने के स्थान पर भी कोई जीव-जंतु अथवा कीड़ी-मकोड़े के बिल आदि न हों अन्यथा अनेक जीवों की हिंसा होने की संभावना रहती है। साधु के लिये तो कहा गया है कि रात्रि को जिस स्थान पर वह परठने जाय, उस स्थान को दिन रहते ही भली-भांति देख-परख लेना चाहिये। क्योंकि रात्रि के समय उस स्थान को ठीक तरह से नहीं देखा जा सकता।

मेरे कहने का अभिप्राय यह नहीं है कि केवल साधु को ही इन बातों का ध्यान रखना चाहिये, श्रावक को नहीं। ध्यान तो प्रत्येक व्यक्ति को रखना आवश्यक है किन्तु साधु महाव्रतों का धारी होता है अतः उसे सूक्ष्म-से-सूक्ष्म जीव की हिंसा से भी अपने आपको बचाना आवश्यक है और यह सब विवेक पर आधारित है। जो साधक विवेकी होगा वह अपने प्रत्येक कार्य को पूर्ण सावधानी एवं यतना पूर्वक करेगा। चाहे श्रावक हो या साधु हो, ज्ञानी हो या ध्यानी हो, वह अपने जीवन को ऊँचाई की तथा श्रेष्ठता की ओर तभी ले जा सकेगा, जबकि अपनी प्रत्येक क्रिया और आचरण में विवेक रखेगा। हमारे चेहरे पर दो आँखें हैं किन्तु अगर अन्तर् में विवेक-रूपी आँख नहीं है तो ये ऊपरी दोनों आँखें होते हुए भी हम अंधे के समान ही साबित होंगे।

एक गुजराती कवि ने विवेक का महत्त्व बताते हुए एक भजन में लिखा है—

विवेक विना धर्म नहिं पामे,
बिना विवेक समकित नव जामे।
विवेक बिना मन रहे टांचू,
एक वचा बिना सघलूं कांचू।

कहा है—विवेक के अभाव में धर्म की प्राप्ति नहीं हो सकती तथा सम्यक्त्व यानी श्रद्धा भी कभी दृढ़ नहीं होती। हम उपदेश देते हैं और आप सुनते हैं। किन्तु वीतराग की यह वाणी किसके गले से उतरेगी ? यानी कौन इसे अपने जीवन में व्यवहृत करेगा ? वही, जिसमें विवेक होगा। अविवेकी व्यक्ति तो इस कान से सुन लेगा और उस कान से निकाल देगा।

कबीर जी ने भी कहा है—

समझा समझा एक है, अनसमझा सब एक।
समझा सोई जानिये, जाके हृदय विवेक॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वस्तुतः जिसके हृदय में विवेक होता है वही वस्तु-तत्त्व को समझ सकता है और पढ़े हुए, सुने हुए या सीखे हुए ज्ञान का सदुपयोग कर सकता है। किन्तु जो विवेकहीन होता है वह उसी ज्ञान को प्रथम तो उपयोग में लाता ही नहीं और लाना चाहता है तो अपने अज्ञान और मिथ्यात्व के कारण उसका दुरुपयोग कर लेता है।

कवि ने भी कहा है कि विवेक के अभाव में मन कच्चा रहता है। जो विवेकी होता है वह स्वयं तो अपनी सम्पूर्ण क्रियाएँ विवेकपूर्वक करता ही है, औरों को भी क्षणमात्र में परख लेता है।

कहा जाता है कि एक बार एक सेवाभावी सज्जन किसी संस्था का निर्माण करने के लिये चन्दा लेने निकले। घूमते-घामते वे एक मन्दिर के समीप पहुंच गये। वहाँ एकत्रित जनसमूह में उन्होंने अपना उद्देश्य प्रकट किया। परिणामस्वरूप किसी धनी व्यक्ति ने दस हजार रुपये चंदे में लिखाए और यह देखकर एक अति निर्धन वृद्धा ने, जिसके शरीर पर वस्त्र भी पूरे नहीं थे, केवल गद्‌गद् हृदय से उन्हें चार पैसे सेवा कार्य करने वाली संस्था के निमित्त में दिये और वहाँ से चली गई।

सज्जन व्यक्ति ने उसी समय चार पैसे देने वाली वृद्धा का नाम अपनी लिस्ट में ऊपर लिख लिया और उसके नीचे दस हजार रुपये देने वाले व्यक्ति का नाम लिखा। पास में खड़े हुए कई व्यक्तियों ने यह देखा तो बोल पड़े—"वाह साहब ! आपने चार पैसे देने वाली बुढ़िया का नाम पहले लिख लिया और दस हजार देने वाले हमारे सेठजी का नाम उसके नीचे लिखा है, ऐसा क्यों ?"

सज्जन व्यक्ति ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया—"भाइयो ! सेठजी ने दस हजार रुपये जो चंदे में दिये हैं, ये उनके लिये कोई बड़ी बात नहीं हैं, वे चाहें तो सहज ही दस हजार और दे सकते हैं, दूसरे ये रुपये उन्होंने दान-दाता के रूप में अपना नाम छपवाने और यश-प्राप्ति की इच्छा से दिये हैं। किन्तु उस वृद्धा ने जो कि चली गई है, देकर अपना नाम करना नहीं चाहा है और ये चार पैसे उसके लिये बड़े महत्व के हैं। वह दिन भर में चार पैसे ही कमाती है, अतः शायद इनके लिये उसे आज भूखा भी रहना पड़ जाये। फिर आप ही बताइये किसका पैसा अधिक महत्त्व का है ? सेठजी का या उस वृद्धा का ?"

लोग यह बात सुनकर चुप रह गए और सज्जन व्यक्ति के न्याय एवं विवेक-पूर्ण विचारों की मन-ही-मन दाद देने लगे।

ऐसे होते हैं विवेकी पुरुष के विचार। वह व्यक्ति के मनोभावों को और

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उनके कार्यों को विवेक की तुला पर तौलकर सच्ची परख कर लेते हैं। कवि ने आगे कहा है—

बुद्धि थोड़ी ने बहु मरडे,
विण समझ्यां मोटाना वेण मरडे।
समझ्या बिना केम कहेशे सांचूं ?
एक ववा बिना सघलूं कांचूं।

जिसके पास बुद्धि कम होती है वह बकवास अधिक करता है तथा बिना समझे ही बड़ों की बातों में मीन-मेख निकालता है और उन्हें अनुपयुक्त साबित करने की कोशिश करता है। उसकी जिह्वा सदा कैंची के समान चलती है और उसे प्रिय-अप्रिय, उचित और अनुचित वचन कहने का भान नहीं रहता। परिणाम यह होता कि कोई भी व्यक्ति उसकी बातों पर विश्वास नहीं करता और उन्हें महत्व नहीं देता।

स्पष्ट है कि व्यक्ति को कम और विवेक पूर्ण बोलना चाहिये। उसे समझ लेना चाहिये कि अधिक बोलना ही बुद्धिमानी का लक्षण नहीं है। उलटे बुद्धिमानी का लक्षण तो कम और विवेकपूर्वक बोलना होता है।

एक पाश्चात्य विद्वान ने कहा है—

"Silence is one art of conversation"

अर्थात्—मौन बातचीत की महान कला है।

कबीर जी ने अपना विचार व्यक्त किया है—

बोली एक अमोल है, जो कोई बोलै जानि।
हिये तराजू तौल के, तब मुख बाहर आनि॥

कितनी सुन्दर बात है! बोली वास्तव में एक दुर्लभ वस्तु है पर केवल उसके लिए, जो बोलना जानता हो। आप विचार करेंगे, बोलना तो सभी जानते हैं यह कौनसी बात हुई? पर ऐसा नहीं है। बोलना सब जानते हैं यह सत्य है, पर वही बोली उत्तम होती है जो औरों को प्रिय हो और लाभकारी हो। जिस बात का कोई लाभ न निकले, ऐसी व्यर्थ की और बेसिर-पैर की हाँकने को बोली कहना बोली का अनादर करना है। हृदय की तराजू क्या है? विवेक। विवेक की तराजू पर तोलकर ही मनुष्य को अपने विचार जबान से बाहर लाना चाहिये। जो व्यक्ति ऐसा नहीं करता, वह खाली घड़े के समान निरर्थक ही शब्द करता रहता है, ऐसा मानना चाहिये।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वचनों का बड़ा महत्व होता है और वे उसके अर्थ के लिये जिम्मेदार होते हैं। इस जिम्मेदारी को समझ लेना ही विवेकी पुरुष का कार्य है।

आगे कहा गया है—

"लोहवाणियो जिम आ पड़ायो,
जेणे हीरा तजी लोहो वाह्यो।
वोराए जेम नाडुं खांच्यू,
एक वखा बिना सघलूं कांचू॥

राजप्रश्नीय सूत्र में वर्णन आया है कि केशीस्वामी महाराज ने प्रदेशी राजा को आत्मा के विषय में बहुत कुछ समझाया और उसे ग्रहण करने की प्रेरणा दी। किन्तु राजा ने उत्तर दिया—"महाराज! जो मेरे दादा, परदादा से चला आया है, उसे कैसे छोड़ दूं?"

यह सुनने पर स्वामी जी ने कहा—"लगता है कि तुम लोहवाणिये के साथी हो।"

राजा ने जिज्ञासा पूर्वक प्रश्न किया—"लोहवाणिया कौन था और उसका यह नाम कैसे पड़ा?"

केशीस्वामी ने तब दृष्टान्त दिया कुछ व्यापारी धन कमाने के इरादे से साथ-साथ परदेश जा रहे थे।

संयोगवश मार्ग में उन्हें ऐसा स्थान मिला जहाँ लोहे की खान थी। व्यापारियों ने सोचा चलो मुफ्त में लोहा मिल रहा है तो यही ले लें। फलस्वरूप उन्होंने एक-एक गठरी में लोहे के टुकड़े बाँध लिये और आगे बढ़ चले।

चलते-चलते जब वे और कुछ दूर पहुँच गए तो उन्हें तांबे की खान दिखाई दी। व्यापारियों ने विचार किया—लोहे की अपेक्षा तो तांबे की कीमत अधिक होती है। अतः सबने लोहा फेंक दिया और अपनी गठरी तांबे से भर ली। किन्तु एक व्यापारी उनमें ऐसा था जिसने लोहा नहीं फेंका और उसे ही लिये रहा।

अन्य व्यापारियों ने कहा—"भाई! लोहा फेंक दो और तांबा ले लो, यह लोहे से ज्यादा कीमती है।"

पर वह व्यापारी बोला—"वाह इतनी दूर से तो वजन उठाकर लाया हूँ, अब कैसे इसे फेंक दूं।"

उसके न मानने पर व्यापारी सब आगे बढ़ गये। भाग्य से वे ऐसे मार्ग पर चल पड़े थे कि उस रास्ते पर खानें ही खानें आ रही थीं। काफी दूर चलने के

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बाद उन्होंने देखा कि अब एक चांदी की खान आई है। व्यापारी बड़े खुश हुए और सबने अविलम्ब तांबा फेंककर चाँदी की गठरियाँ बाँध लीं। किन्तु वह लोहवाणिया अपनी जिद पर ही अड़ा रहा कि इतनी दूर से लाई हुई वस्तु अब क्यों फेंकूँ।

व्यापारियों का क्या बिगड़ता था, वे सब और आगे चले। जब काफी मील चल चुके तो उन्होंने आश्चर्य से देखा कि आगे सोने की खान है। जहाँ चारों ओर सोना बिखरा पड़ा है। सभी व्यापारियों की प्रसन्नता का पार ही न रहा। उन्होंने चांदी को भी छोड़ दिया और सोने को गठरियों में बाँध लिया। वास्तव में ही सोने को छोड़कर चाँदी कौन रखता? उस लोहवाणिये से भी सबने यहाँ बहुत कहा कि अब तक लोहे का वजन तुमने उठाया तो कोई बात नहीं। पर अब तो सोना बाँध लो, हम सब मालामाल हो जायेंगे। किन्तु वह तो लकीर का फकीर था, जो धुन में आ गई उसे छोड़ा ही नहीं और उस लोहे की गठरी को लिये हुए ही चल पड़ा। साथी बेचारे क्या करते? वे भी उसकी नासमझी पर दुःख करते हुए उसके पीछे चल दिये।

सभी व्यापारी अब सोने की खान से बहुत दूर आ गये। मीलों चल चुके थे। पर उन्हें नहीं मालूम था कि इस बार उनके भाग्य का सितारा बड़ी बुलंदी पर है। इसलिये ज्योंही उनकी दृष्टि एक ओर गई, देखा कि आगे जगमगाते हुए हीरे ही हीरे बिखरे हुए हैं। सभी की आँखें फटी की फटी रह गईं। देखते क्या हैं कि यहाँ तो हीरों की खान है। सब व्यापारियों ने हाथ जोड़कर भगवान को बार-बार प्रणाम किया और अपार प्रसन्नता पूर्वक हीरों की बड़ी-बड़ी पोटलियाँ बाँध लीं।

इस बार उन्होंने लोहवाणिया को बहुत जोर देकर कहा—"मूर्खराज! मूर्खता की भी हद होती है। इस समय तो तुम्हारे सामने ये हीरे ही हीरे पड़े हैं। कम्बख्त लोहे को फेंककर अब तो हीरे समेट लो। लोहा ले जाकर क्या करोगे? एक हीरे के मूल्य में ही इससे अनेक गुना लोहा आ जाएगा। जल्दी फेंको इसे और हीरे समेटो। हम तुम्हारे हितचिंतक हैं, सब साथ आए हैं, अतः सभी का भाग्य खुल जाए यह चाहते हैं।

किन्तु लोहवाणिया भी बनिया था। कुत्ते की पूंछ पकड़ी सो पकड़ी ही। वह टस से मस नहीं हुआ और बोला—"अब मंजिल के समीप पहुंचकर भी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अपनी जबान से फिर सकता हूँ क्या ? मैं तो भगवान के समझाने पर भी अपनी इतनी दूर से मेहनत करके लाई हुई वस्तु को नहीं छोड़ सकता। तुम लोगों को जचे सो करो। मैं तुम्हें मना नहीं करता ? फिर मुझे क्यों तुम लोग परेशान कर रहे हो ?"

व्यापारी बेचारे क्या करते ? उसकी मूर्खता को कोसते हुए और उसकी विवेक रहित बुद्धि पर तरस खाते हुए आगे बढ़ गये।

इसीलिये पाँचवीं समिति में अत्यन्त विवेक पूर्वक परिष्ठापना के लिये भगवान ने आदेश दिया है। पूर्ण विवेक रखने पर ही इसका पालन हो सकता है तथा साधक संवर के पथ पर अग्रसर हो सकता है।

●●

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

५ | धोबीड़ा, तू धोजे मननूं धोतियो रे!

धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एवं बहनो !

मोक्षमार्ग पर अग्रसर करने वाले संवर के सत्तावन भेद हैं, जिनमें से प्रथम पाँच पर हम विचार कर चुके हैं। आज छठे भेद मनोगुप्ति को लेना है। मनोगुप्ति का अर्थ है अशुभ व्यवहारों से मन को हटाना तथा शुभ व्यवहारों में मन को लगाना।

श्री उत्तराध्ययन सूत्र के चौबीसवें अध्याय में भी दिया गया है—

संरम्भसमारम्भे, आरम्भे य तहेव य।
मणं पवत्तमाणं तु, नियत्तेज्ज जयं जई ॥

संरंभ, समारंभ और आरंभ, ये तीन प्रक्रियाएँ हैं, इनमें प्रवृत्त होते हुए मन पर विजय प्राप्त करने वाला ही सच्चा साधक होता है। पाप-क्रियाएँ करने का विचार करना ही मनोगुप्ति के लिये घातक है। क्योंकि अशुभ विचार मन में आते ही आत्मा को पापों से कसने लग जाते हैं। तो अशुभ विचारों में प्रवृत्त होने वाले मन को यतनापूर्वक काबू में रखता हुआ जो साधक मोक्षमार्ग की ओर बढ़े, वही साधु है। कहा भी है—**'मोक्षमार्गे यतते इति यतिः।'**

अर्थात्—जो मोक्षमार्ग के लिये प्रयत्न करे, वह यति है।

जिज्ञासा होती है कि मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति कब होगी ? उत्तर यही दिया जा सकता है कि जब ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप होगा। और ये चारों उसी साधक के पास हो सकते हैं, जो पापों में प्रवृत्त होने वाले मन को काबू में रखता है, पापपूर्ण क्रियाओं से निवृत्त होता है तथा शुभ कार्यों में प्रवृत्ति करता है।

मन अत्यन्त चंचल होता है। इस विषय में श्री उत्तराध्ययन सूत्र में केशीस्वामी और गौतमस्वामी का संवाद दिया गया है जिसमें प्रश्नोत्तर हैं। जिस

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

समय उनका वार्तालाप हुआ, दोनों के पाँचसौ-पाँचसौ शिष्य तथा दर्शक जनसमूह भी उपस्थित था।

गौतमस्वामी श्री केशीस्वामी के समीप पधारे तथा केशीस्वामी ने अत्यन्त स्नेह पूर्वक आसनादि से उनका सम्मान किया। हमें भी इसी प्रकार का आदरपूर्ण व्यवहार सबसे करना चाहिये। किन्तु होता कुछ और ही है। सब सोचते हैं हम दूसरे हैं और वे दूसरे। तथा संयोगवश अगर कभी ऐसे व्यक्तियों का मिलन हो भी जाता है तो वहाँ तमाशबीन पहले ही आकर इकट्ठे हो जाते हैं कि आज यहाँ वाद-विवाद होगा और हमें तमाशा देखने को मिलेगा।

पर यह केवल वहीं होता है, जहाँ अज्ञान होता है। ज्ञानियों के सम्मेलन में ऐसा कदापि नहीं होता। किसी कवि ने कहा भी है—

ज्ञानी से ज्ञानी मिले, करे ज्ञान की बात।
मूरख से मूरख मिले, थापा, मुक्की लात॥

अर्थ स्पष्ट है कि जब एक ज्ञानी दूसरे से मिलता है तो आध्यात्मिक चर्चा करता है तथा जीवन को उन्नत बनाने के विषयों पर भी विचार करता है। किन्तु अगर एक मूर्ख दूसरे मूर्ख से मिलता है तो दोनों बात का बतंगड़ बनाते हुए लड़ना प्रारम्भ कर देते हैं और थप्पड़, घूंसों तथा लातों से बातें करते हैं।

तो केशीस्वामी और गौतमस्वामी दोनों ही ज्ञानी पुरुष और सच्चे सन्त थे, अतः उनमें पारमार्थिक प्रश्नोत्तर हुए। श्री केशीस्वामी ने गौतम स्वामी से पूछा—

अयं साहसिओ भीमो, दुट्ठस्सो परिधावई।
जंसि गोयमा आरूढो, कहं तेण न हीरसि॥

अर्थात्—हे गौतम! यह घोड़ा बड़ा साहसी और भयंकर है, जिस पर तुम चढ़े हो। अत्यन्त चंचल होने के कारण यह इधर-उधर दौड़ता है। क्या तुम इससे पराजित तो नहीं हो रहे हो?

बंधुओ आप समझ गये होंगे कि यहाँ पर 'घोड़ा' शब्द का प्रयोग मन के लिये किया गया है। घोड़ा भी चंचल होता है और मन भी, अतः मन के स्थान पर घोड़ा शब्द दिया गया है।

तो केशीस्वामी के प्रश्न का उत्तर गौतमस्वामी देते हैं—

पधावंतं निगिण्हामि, सुयरस्सीसमाहियं।
न मे गच्छइ उम्मग्गं, मग्गं च पडिवज्जई॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यानी - यह घोड़ा बड़ी तेजी से दौड़ रहा है किन्तु उसे खींचकर पकड़ता हूं। मैं घोड़े के कब्जे में नहीं हूँ अपितु वह मेरे कब्जे में है।

गौतमस्वामी सुन्दर प्रश्न का उत्तर भी बड़े सुन्दर ढंग से देते हैं। वे घोड़े के उदाहरण से ही अपने मन के विषय में कह देते हैं कि मेरा मन यद्यपि अपनी चंचलता के कारण इन्द्रियों के विषयों की ओर उन्मुख होता है, किन्तु मैं सम्यक् ज्ञान रूपी लगाम से इसे पुनः अपनी आत्मा की ओर खींच लेता हूं अतः यह अपनी इच्छानुसार इधर-उधर नहीं जा पाता।

बंधुओ, केशीस्वामी ने प्रश्न किया और गौतमस्वामी ने उत्तर दिया किन्तु वह प्रश्नोत्तर साधारण जनता की समझ में कैसे आता ? जनता प्रश्न और उत्तर में भी 'घोड़े' शब्द से क्या समझती ? अतः फिर से प्रश्न किया गया—

आसे य इइ के वुत्ते, केसी गोयममब्बवी ।
केसिमेवं बुवंतं तु गोयमो इणमब्बवी ॥

गाथा में पूछा गया है—हे गौतम ! जिस घोड़े पर तुम बैठे हो वह कौन-सा है ? उन्मार्ग क्या है ? तुम और हम तो यह समझ गये किन्तु जनता क्या समझेगी ? इस प्रकार पूछे जाने पर गौतमस्वामी ने उत्तर दिया—

मणो साहसिओ भीमो, दुट्ठस्सो परिधावई ।
तं सम्मं तु निगिण्हामि, धम्मसिक्खाइ कंथगं ॥

गौतमस्वामी कहते हैं —हे पूज्य ! आप पूछ रहे हैं कि वह घोड़ा कौन-सा है ? उसका जवाब यह है कि वह घोड़ा मन है। मन रूपी यह दुष्ट अश्व अत्यन्त साहसी, भयंकर एवं चपल है। अपनी चपलता के कारण यह इधर-उधर अर्थात् इन्द्रियों के विषय की ओर दौड़ने लगता है किन्तु मैं इसे धर्म-शिक्षा रूपी लगाम से पुनः खींचकर वश में कर लेता हूँ।

वस्तुतः मन बड़ा चंचल है और यह कभी भी एक स्थान पर स्थिर नहीं रहता। अगर इसे शुभ विचारों और शुभ क्रियाओं की ओर न लगाया जाय तो चूंकि यह क्षण भर के लिये भी खाली नहीं रहता अतः अशुभ प्रवृत्तियों की ओर बढ़ जाता है। साथ ही यह इन्द्रियों को किसी एक पाप में प्रवृत्त करके भी चुप नहीं बैठता। उन्हें एक के बाद दूसरा, दूसरे के बाद तीसरा और इसी प्रकार शनैः-शनैः सभी पापों की ओर बढ़ा देता है।

एक के पीछे अनेक

कहा जाता है कि एक बार राजा भोज कुसंगति के कारण मद्यपान की ओर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आकर्षित हो गये। उनके हितचिन्तक कालिदास ने जब यह देखा तो उनके होश उड़ गए। उन्होंने विचार किया—

'छिद्रेष्वनर्था बहुलीभवन्ति।'

यानी एक सुराख जिस प्रकार हजारों सुराख पैदा कर देता है, उसीप्रकार एक दुर्गुण भी अनेकों दुर्गुणों को जन्म देता है। अतः अगर महाराज को अभी ही सचेत न किया गया तो वे इस एक दुर्गुण के साथ-साथ अन्य अनेकों दुर्गुण भी अपना लेंगे और इस विशाल साम्राज्य को संभालना उनके लिये कठिन हो जाएगा।

इसी कारण कालिदास ने हर-हालत में राजा को मद्यपान की ओर से विरक्त करने का निश्चय किया और उसके लिये एक दिन वह भिक्षुक का वेश बनाकर तथा ऐसी गुदड़ी ओढ़कर राज्यसभा में आया, जिसमें अनेक छिद्र थे।

जब कालिदास ने राज-दरबार में प्रवेश किया, उस समय राजा भोज अपने मंत्रियों, सामंतों व सेनापतियों से घिरे हुए बैठे थे।

भिक्षुक को देखकर वे चकित हुए और उपहास सहित बोले—"वाह! भिक्षुराज तुम्हारी यह कथड़ी तो बड़ी अजीब है। इतनी जीर्ण और सहस्रों छेदों वाली गुदड़ी ओढ़कर तुम राजसभा में कैसे दर्शन देने आ गए?"

भिक्षुक ने हंसकर उत्तर दिया—"महाराज! यह कथड़ी नहीं है। यह तो मछलियाँ पकड़ने का जाल है। इसे देखकर आप समझे नहीं।"

"मछलियाँ पकड़ने का जाल है? क्या तुम मछलियाँ पकड़ा करते हो?" राजा ने आश्चर्यपूर्वक पूछा।

"हां, मछलियाँ पकड़ता हूं। नहीं पकड़ूँ तो फिर खाऊँ क्या?"

"क्या तुम मछलियाँ खाते भी हो?" राजा ने भिक्षु की बात काटकर बीच में ही पूछ लिया।

"जी हां, हुजूर! मछलियाँ खाता हूँ। क्योंकि मैं शराब पीता हूँ। शराब पीने वाले को मांस भी तो चाहिये।"

राजा भोज आश्चर्य से अभिभूत-से हो गये। बोले—"तुम शराब पीते हो, मांस खाते हो, क्या यही भिक्षु का कर्तव्य है।"

"पर महाराज! मैं वेश्याओं के साथ रहता हूँ, वहाँ तो बिना मांस-मदिरा के कुछ आनन्द ही नहीं आता।"

"ओह! भिक्षु होकर भी वेश्यागमन? मांस एवं मदिरा का प्रयोग? तुम

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कैसे भिक्षु हो ? और इन सबके लिये आखिर तुम्हारे पास धन आता कहाँ से है ?" राजा आश्चर्य में डूबा हुआ था।

"धन प्राप्त करना कौनसी बड़ी बात है महाराज ? मैं दिन को जुआ खेलकर पैसा बना लेता हूँ और रात को चोरी करके धन लाता हूँ। फिर आप ही बताइये, धन की क्या कमी रह सकती है मेरे पास ?"

राजा की आंखें मारे आश्चर्य के फटी की फटी रह गईं, वे सोचने लगे— 'एक भिक्षुक के जीवन का इतना पतन ? उसके जीवन में मद्यपान, मांसभक्षण, वेश्यागमन, चौर्यकर्म एवं जुआ खेलना भी। कैसे ये सारे के सारे दुर्गुण इसके जीवन में आ गये।' वे कुछ बोल ही न सके, विचारों में डूबे रहे। इतने में ही भिक्षुक उनका आशय समझ कर बोला—

"महाराज ! इसमें आश्चर्य की क्या बात है ? जब जीवन में एक बुराई आ जाती है तो अन्य बुराइयाँ भी एक-एक करके आती रहती हैं। मैंने सर्वप्रथम मद्यपान करना प्रारम्भ किया था पर धीरे-धीरे अब ये सारे दोष मुझमें आ गये हैं और लाख प्रयत्न करने पर भी मैं अब इन्हें नहीं छोड़ सकता।" भिक्षुक ने गम्भीरतापूर्वक उत्तर दिया।

राजा अवाक् बैठा था। उसे भिक्षुक की एक-एक बात हथौड़े की चोट के समान महसूस हो रही थी। उसे लगा कि इस भिक्षुक ने मानो मेरे सामने एक बड़ा भारी रहस्य उघाड़ दिया है तथा मुझे जीवन का सर्वोत्कृष्ट उपदेश सुनाकर सजग किया है। वह सोचने लगा—"मैंने भी तो मद्यपान प्रारम्भ किया है, तो क्या धीरे-धीरे मुझमें भी ये सब दुर्गुण आने वाले हैं ! ओह, क्या दशा होती मेरी ? अच्छा हुआ इस भिक्षु ने मुझे समय पर सचेत कर दिया, अन्यथा मैं न जाने पतन के गढ्ढे में कितने नीचे तक चला जाता। मन ही मन राजा ने भिक्षुक को धन्यवाद दिया और उसी क्षण से मदिरा की ओर दृष्टिपात करने का भी त्याग कर दिया।

कहने का अभिप्राय यही है कि अगर मन को नियंत्रण में न रखा जाय तो वह एक दुर्गुण की ओर बढ़ने पर अनेक दुर्गुणों को अपनी ओर खींच लेता है तथा जीवन को बुराइयों का घर बना देता है।

समयसुन्दर जी नामक एक संत ने मन के विषय में एक भजन लिखा है। आप बड़े अनुभवी और पुराने कवि थे, अतः आपके भजन में उपमा और उपमेय अलंकार बड़े सुन्दर ढग से दिये गये हैं। भजन की लाइनें इस प्रकार हैं—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

धोबीड़ा ! तू धोजे मननूं धोतियो रे !
रख राख तो मैल लगा रहे,
एणो रे मेले अग मेलो कयो रे ?
धोईने कर उज्ज्वल उदार रे ·····धोबीड़ा'···· ···

पद्य में कहा गया है—"हे आत्मन् ! हे धोबी !! तू इस मन रूपी वस्त्र अथवा धोती को धो डाल।" जिस प्रकार धोबी कपड़ा धोकर उसका मैल छुड़ा देता है, उसी प्रकार आत्मा को भी मन रूपी कपड़े को धोने की प्रेरणा दी है।

आगे कहा है – इस मनरूपी कपड़े पर तनिक भी मैल लगा हुआ मत रहने देना। क्योंकि इसी मैल ने सारी दुनिया को मैली बना दिया है। अतः इस मनरूपी वस्त्र को अब उदारतापूर्वक पूर्णतया साफ कर दे, उज्ज्वल कर दे।

कपड़ा जब साफ हो जाता है अर्थात् उसका मैल धुल जाता है तो वह उज्ज्वल और हल्का हो जाता है। इसी प्रकार जब पाप रूपी मैल आत्मा से छूट जाएगा, उससे अलग हो जाएगा तो आत्मा शुद्ध और हल्की हो जाएगी।

कहा भी है—

अप्पो विय परमप्पो, कम्मविम्मुक्को य होइ फुडं।

आत्मा जब कर्म-मल से मुक्त हो जाता है तो वह परमात्मा बन जाता है।

इसलिये कवि का कहना है कि 'हे आत्मा रूपी धोबी ! तू मन रूपी इस वस्त्र को धोकर साफ तथा शुद्ध कर दे।'

आगे कहा गया है—

मिथ्याते करी ने मन मैलूं थयूं रे,
पापो ना लाग्या थे दास रे।
कालूं थयूं छे विषय कषाय थी से,
दोषो थी उठे छे दुर्वास रे धोबीड़ा तू ····

इस पद्य में कहा गया है कि मनरूपी यह वस्त्र मैला क्यों हुआ ? इसलिये कि मिथ्यात्व के कारण इसने सच्चे को झूठा और झूठे को सच्चा मान लिया है। अर्थात् जो सच्चा पदार्थ है उसे झूठा और संसार के झूठे पदार्थों को सच्चा मान लिया है। इसी झूठेपन के कारण यह मन मैला हो चुका है।

इस मन रूपी कपड़े पर अठारह प्रकार के पापों के दाग लगे हैं। झूठ, क्रोध, कपट, ईर्ष्या, द्वेष, कषाय, गर्व आदि के बड़े चिकने धब्बे इस पर लगे हुए हैं और इसी से यह काला हो चुका है। भगवती सूत्र में रंगों के विषय में बताया गया है कि

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कौनसा रंग शुभ होता है और कौनसा अशुभ। रंग पाँच होते हैं। काला, नीला, लाल, सफेद और पीला। इनमें से काले रंग को अशुभ और सफेद को शुभ माना गया है।

तो कषायरूपी रंगों से मन रूपी कपड़ा मैला हो गया है तथा पाप रूपी दोषों की इसमें से दुर्गंध आ रही है। मन के मैलेपन और दुर्गंधि को दुनिया के व्यक्ति भी अच्छा नहीं मानते तथा पारमार्थिक उद्देश्य भी कोई सिद्ध नहीं होता। इसीलिये मेरा बार-बार आग्रह है कि हे आत्मन् ! तू अपने मन रूपी वस्त्र पर चढ़े हुए कषायों के काले रंग को धो ले तथा इससे पापों की उठती हुई दुर्गन्ध को मिटा डाल।

आगे कहा गया है—

राग ने द्वेषे ए रंगेल छे रे,
निर्मलता थई छे सघली नाश रे।
बाधा छे अनेक दुर्बोध नारे,
ए चीवर मां टेवोनी चीकाश रे·····धोबीड़ा·····

राग और द्वेष के काले रंग से यह मन ऐसा रंग गया है कि इसकी समस्त निर्मलता नष्ट हो गई है। साथ ही इसमें अज्ञान के अनेक दाग भी लगे हुए हैं। इतना ही नहीं, कुटेवों की बड़ी बुरी आदत के कारण इसमें चिकनापन यानी चीकटपना भी बहुत आ गया है, अतः इसे खूब मेहनत और प्रयत्नपूर्वक धोकर शुद्ध बना।

श्री उत्तराध्ययन सूत्र के बत्तीसवें अध्याय में भगवान ने फरमाया है—

"रागो य दोसो विय कम्म बीयं,
कम्मं च मोहप्पभवं वयन्ति।
कम्मं च जाईमरणस्स मूलं,
दुक्खं च जाईमरणं वयंति॥

—राग और द्वेष ये दो कर्म के बीज हैं। कर्म मोह से उत्पन्न होता है। कर्म ही जन्म-मरण का मूल है और जन्म-मरण ही वस्तुतः दुःख है।

वस्तुतः किसी चीज के साथ प्रेम करना और किसी से द्वेष रखना, ये दोनों ही कर्मबन्धन करने वाले कर्मबीज हैं। जिस प्रकार शुभ बीज से शुभ अन्न और अशुभ बीज से अशुभ वस्तु उत्पन्न होती है, उसी प्रकार शुभ कर्मों से शुभ फल और अशुभ कर्मों से अशुभ फल की प्राप्ति होती है। राग-द्वेष अशुभ बीज हैं। अतः

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इनसे शुभ फल की प्राप्ति संभव भी कैसे हो सकती है ? इनसे तो जन्म और मरण रूपी परिणाम ही सामने आता है। इनका मूल कर्म हैं। अशुभ कर्मों के कारण ही जीव को पुनः पुनः जन्म-मरण करने पड़ते हैं।

इस संसार में जन्म और मरण के समान अन्य कोई दुःख नहीं है। अध्यात्म-प्रेमी कविवर श्री दौलतराम जी ने अपनी छहढाला नामक पुस्तक की पहली ढाल में कहा है—

जननी उदर बस्यो नव मास,
अंग सकुच तें पाई त्रास।
निकसत जे दुख पाये घोर,
तिनको कहत न आवे ओर।

इस प्रकार संसार में जन्म लेते समय जीव को घोर दुःख उठाना पड़ता है और मरते समय तो उससे भी अनन्तगुना कष्ट भोगना पड़ता है। पर इन दुःखों का कारण कर्म ही होते हैं जो जीव को पुनः पुनः इन कष्टों को भोगने के लिये बाध्य करते हैं। इसीलए ज्ञानी पुरुष मन को निर्मल रखने के लिए बार-बार प्रेरणा देते हैं ताकि मन की अशुद्धता के कारण कर्मों का बंधन न हो।

मराठी भाषा में संत तुकाराम जी कहते हैं —

नाहीं निर्मल जीवन, काय करील साबणा।
तैसे चित्त शुद्ध नाहीं, तेथे बोध करील काही ?
वृक्ष न धरी पुष्प फल, काय करील वसंतकाल ?

पद्य का भावार्थ है — जब पानी स्वच्छ नहीं होता तो वस्त्र पर साबुन रगड़ने से क्या लाभ हो सकेगा ? ज्ञाताधर्मकथा सूत्र में वर्णन आता है कि खून से सना हुआ वस्त्र खून से ही धोया जाय तो वह कदापि साफ नहीं होगा।

यही बात तुकाराम जी ने कही है कि जब तक जीवन शुद्ध नहीं होगा और मन में कलुषता रहेगी तब तक उपदेश रूपी साबुन का क्या असर होगा ? कुछ भी नहीं। जिस प्रकार चिकने घड़े पर पानी डालने से वह निरर्थक बह जाता है, इसी प्रकार मन के राग-द्वेष से मलिन रहने पर बोध दिया हुआ भी निरर्थक चला जाता है।

एक उदाहरण भी दिया गया है कि—मान लो वसंत ऋतु आती है और वह सम्पूर्ण पृथ्वी को हरी-भरी कर देती है। प्रत्येक वनस्पति पुष्प और फल

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रदान करती है। किन्तु कैर का झाड़ जैसा होता है, वैसा ही बना रहता है। उस पर वसंत ऋतु का कोई असर नहीं होता। ऐसी स्थिति में वसंत क्या कर सकता है ?

कहने का अभिप्राय यही है कि हमें मन को शुद्ध करना चाहिये तथा राग और द्वेष को छोड़ना चाहिये। राग-द्वेष के कारण ही संसार में कलह होते हैं। आप के घर में आप चार भाई हैं। चारों के संतान है। किन्तु आप अपने पुत्र को देखकर प्रसन्न होते हैं, उसे खिलाते हैं, प्यार करते हैं तथा बाजार से मिठाई, खिलौने आदि लेकर आते हैं। पर अपने भाई के पुत्र से द्वेष रखते हैं, उसे साधारण-सी बात पर फटकार देते हैं और गालियाँ देते हैं, तो उसका परिणाम क्या होगा ? यही कि आपका भाई आपसे लड़ेगा और अपने हिस्से का धन लेकर आपसे अलग हो जाएगा।

इसीलिये बंधुओ, हमें राग-द्वेष को अपने मन से हटाकर सांसारिक पदार्थों पर रही हुई आसक्ति को जीत लेना है। क्रोध, मान, माया और लोभ, ये चारों मन को मलिन बनाने वाले दोष हैं। जो भव्य प्राणी इन्हें जीत लेता है, उसका मन ही शुद्ध और स्वच्छ बनता है।

कहते हैं कि एक बार रामकृष्ण परमहंस ने स्वामी विवेकानन्द से कहा--"मैं तुम्हें अष्टसिद्धि प्रदान करना चाहता हूँ। क्योंकि तुम्हें अभी जीवन में बड़े-बड़े कार्य करने हैं, अतः इनसे बहुत सहायता मिल सकेगी। बोलो, लेना चाहते हो इन्हें ?"

कुछ क्षण गंभीरतापूर्वक विचार करने के पश्चात् विवेकानन्द जी ने पूछा—"महात्मन् ! क्या इनसे मुझे ईश्वर की प्राप्ति हो जाएगी ?"

"नहीं, ईश्वर की प्राप्ति तो इनसे नहीं हो सकेगी।" परमहंस ने उत्तर दिया।

यह सुनकर विवेकानन्द जी विरक्त होकर बोले—"जिन सिद्धियों से मुझे ईश्वर-लाभ न होकर केवल सांसारिक यश प्राप्त हो, उन्हें लेकर मैं क्या करूंगा ? मुझे इनकी फिर कोई आवश्यकता महसूस नहीं होती।"

वास्तव में वही प्राप्ति श्रेष्ठ होती है जिसके द्वारा आत्मा कर्म-भार से हलकी होती हुई परमात्मपद को प्राप्त होती है। इसलिये महापुरुष मन की शुद्धि का ही प्रयत्न करते हैं। वे केवल यही संकल्प रखते हैं कि—

'नो उच्चावयं मणं नियंछिज्जा।'

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यानी कैसी भी विकट परिस्थितियाँ क्यों न सामने आएँ, मन को ऊँचा-नीचा, अर्थात् डाँवाडोल नहीं होने देना चाहिये।

जब तक हमारा मन मलिन भावनाओं से भरा रहता है, प्रत्येक कषाय तेजी से अपना कार्य करता है। तुच्छ घटना भी क्रोध का संचार कर देती है, तनिक से धन की प्राप्ति होते ही गर्व की लहरें उठने लगती हैं, पराई उन्नति से ईर्ष्या की आग सुलग उठती है और कुबेर का खजाना पाकर भी लोभ का उदर नहीं भरता। अतः इन सबसे मुक्त होना ही कल्याण का मार्ग है, जिस पर साधक को अग्रसर होना चाहिये।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

६ | चोखू तूं करजे मननो चीर रे !

धर्मप्रेमी बंधुओ, माताओ एवं बहनो !

संवर के सत्तावन भेदों में से छठा भेद 'मनोगुप्ति' है, जिस पर कल विचार किया गया था। अशुभ विचारों का त्याग और शुभ विचारों का ग्रहण करना ही मनोगुप्ति है।

मन के क्षेत्र में जैसा बीज बोया जाता है, उसी के अनुसार फल प्राप्त होता है। हम देखते हैं कि किसान खेतों में मटर का एक बीज डालता है। उस छोटे से बीज से मटर का पौधा अंकुरित होता है और पौधे में से सैकड़ों फलियाँ लगती हैं। उन फलियों में से एक-एक फली में से कई-कई दाने मटर के निकलते हैं।

इसी प्रकार हमारे मन की एक छोटी सी शुभ या अशुभ भावना अपने हजारों शुभ या अशुभ फल पैदा कर देती है। हमारे शास्त्र बताते हैं कि जीव एक समय के सूक्ष्म से सूक्ष्म भाग में ही अनन्तानन्त कर्म परमाणुओं का बंध कर लेता है। किन्तु अगर मन की भावना शुभ हुई तो अनन्तानन्त शुभ परमाणुओं का बंध होगा और भावना अशुभ हुई तो अनन्तानन्त अशुभ कर्म-परमाणु आत्मा से चिपट जाएँगे।

अशुभ कर्म-परमाणु ज्यों-ज्यों बँधते जाते हैं, मन की मलिनता भी बढ़ती जाती है और मन की मलिनता के बढ़ते जाने से आत्मा का अनन्त संसार बढ़ता जाता है। इसलिये मन में शुभ विचारों की उत्पत्ति हो और अशुभ विचारों से उत्पन्न हुई मलिनता दूर हो, यही साधक का प्रयत्न होता है।

इस विषय में कल मैंने कविवर स्वामी श्री समयसुन्दर जी के एक भजन की कुछ कड़ियाँ उसके सामने रखी थीं, जिनमें कवि ने मन को वस्त्र और आत्मा को धोबी की उपमा देते हुए कहा है—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

"अरे धोबी ! तू अपने मन के वस्त्र को, मन की धोती को स्वच्छ धो डाल। उसमें तनिक भी मैल मत रहने दे। क्योंकि वह मैल सारी दुनिया को मैला बना रहा है। मन के मैले होने का कारण कवि ने बताया है – मिथ्यात्व के कारण मन मैला हुआ है और अठारह दोषों की इससे दुर्गन्ध निकल रही है। कषायों के काले धब्बे भी इस पर जगह-जगह लगे हैं अतः इसकी सम्पूर्ण निर्मलता नष्ट हो गई है। परिणाम यह हुआ कि जिन-वचनों के बोध-रूपी साबुन का इस पर कोई असर नहीं होता है अतः तू इस मन रूपी धोती को धोकर पूर्ण स्वच्छ बना।"

आगे इसके लिये उपाय भी बताया है—

जिन शासन सरोवर छे शोभतुं रे,
समकितनी समी तेनी पाल रे।
दान, शील, तप, भावना रे,
चार ए द्वार छे विशाल रे·····।
धोबीड़ा, तू धोजे मननूं धोतियो रे॥

मन को निर्मल बनाने का कितना सुन्दर तरीका बताया गया है ? कहते हैं— अपने मैले मन को तू जिन-शासन रूपी सरोवर पर ले चल। यह सरोवर जिन-वचन रूपी निर्मल जल से भरा हुआ अत्यन्त शोभायमान हो रहा है। इसकी पाल श्रद्धा या सम्यक्त्व से बाँधी गई है। विचार उठता है कि इस सरोवर की पहचान कैसे की जाय और इस तक कैसे पहुंचा जाय ? उसका भी उपाय कवि ने बताया है कि दान, शील, तप और भावना, ये चार ऐसे विशाल द्वार हैं, जिनमें प्रवेश करके तू इस सरोवर पर पहुंच सकता है।

अब देखिये, जिन शासन रूपी सरोवर के विषय में आगे क्या कहा गया है—

तेमा झीले छे मुनिवर हंसला रे,
पीये छे निर्मल जप-तप नीर रे।
शम, दम, क्षमानी शिला ऊपरे रे,
चोखूं तूं करजे मननूं चीर रे····धोबीड़ा···।

कितने सुन्दर भाव हैं ? कहा है—इस जिन-शासन रूपी सरोवर में मुनिराज रूपी हंस कल्लोल कर रहे हैं, रमण कर रहे हैं। हंसों का कार्य क्या होता है ? मोती उठा लेना और कंकर छोड़ देना। इसी प्रकार मुनि रूपी हंस भी यहाँ पर सार-सार ग्रहण करते हैं और असार तत्व को छोड़ रहे हैं। अपने चिंतन और मनन से ये सही

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तत्व की जानकारी कर लेते हैं। कहा भी है—'मननात् मुनिः।' जो मनन करते हैं वही सच्चे मुनि हैं।

आगे कहा है—हंसरूपी मुनि जप और तप रूप निर्मल जल का पान कर रहे हैं। हम अपने शरीर की तृषा मिटाने के लिये जल का प्रयोग करते हैं। मुनि भी करते हैं, किन्तु शरीर की तृषा मिटाने के साथ-साथ वे आत्मा की तृषा शांत करने का भी प्रयत्न करते हैं और उसके लिये जप-तप रूपी निर्मल जल का पान करते हैं।

वह जप-तप भी कैसा ? जिसके बदले में कुछ भी प्राप्ति की कामना नहीं होती। सांसारिक वैभव तो वे नहीं ही चाहते पर देवपद और इन्द्रपद की प्राप्ति की भी इच्छा नहीं रखते। दशवैकालिक सूत्र के नवमें अध्याय में तपस्या के बारे में कहा गया है कि तप आत्म-कल्याण के लिये करो। धन, संतति, स्वर्ग या इन्द्रपद भी प्राप्त करने की आकांक्षा मत रखो। ये सब सांसारिक बंधन हैं। इन्द्र बन जाएंगे, तब भी मरना पड़ेगा। दूसरे, स्वर्ग में रहकर तो आत्मकल्याण के लिये कुछ भी नहीं कर सकोगे।

तामली नाम के एक तापस थे। वे घोर तपस्वी थे। उनके जीवनकाल में नीचे के एक लोक के इन्द्र का आयुष्य पूरा हो गया और वहाँ के देवताओं ने अपने ज्ञान से देखा को पाया कि ताम्रलिप्ति नगर के तामली नामक तापस अपने यहाँ इन्द्र बनने की योग्यता रखते हैं।

वे सब मिलकर तामली तापस के पास गए और बोले—"आप हमारे इन्द्र बनने की सामर्थ्य रखते हैं अतः कृपा करके हमारी प्रार्थना स्वीकार करें। आपको अधिक कुछ भी नहीं करना है, केवल इतना ही कहना है कि मेरी करनी का फल हो तो मुझे इस लोक का इन्द्रपद मिले। इतना कह देने मात्र से ही आप हमारे इन्द्र बन जाएंगे और हम धन्य होंगे।"

किन्तु तामली तापस उनकी प्रार्थना अस्वीकार करते हुए बोले—"मैंने किसी भी फल की कामना से तपस्या नहीं की है। मेरी करनी का फल तो मुझे मिलेगा ही, पर अगर मैं ऐसी भावना करूंगा तो मुझे उतना ही मिल कर रह जाएगा। अधिक मिलेगा ही नहीं। अतः मैं कोई इच्छा प्रगट नहीं करता, मेरी तपस्या के अनुसार जो कुछ भी मिलना होगा, मिल जाएगा।"

इस प्रकार तामली तापस ने कोई नियाणा नहीं किया अतः वे ऊपर के लोक में ईशानेन्द्र बने। आशय यही है कि अगर व्यक्ति शुद्ध भावना से तपादिक उत्तम करनी करता है तो उसका फल स्वयं ही उसे मिल जाता है। मांगने की आवश्यकता

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नहीं रहती। और माँगने से अथवा कामना करने से कि मेरे अमुक त्याग या तप का अमुक फल मिले तो वह सीमित हो जाता है।

तो पद्य में बताया है कि इस जिनशासन रूपी निर्मल सरोवर में मुनि रूपी हंस क्रीड़ा कर रहे हैं। कवि का आशय यही है कि अगर व्यक्ति अपनी आत्मा का उत्थान करना चाहता है तो उसे संतों की शरण में जाना चाहिये। संगति का जीवन पर बड़ा भारी असर पड़ता है। कुसंगति करने से मन को सदा हानि उठानी पड़ती है और सुसंगति से लाभ होता है। इसलिये मूर्खों की संगति न करके मनुष्य को सदा सज्जनों की संगति करना चाहिये।

सोनी जी से पूछो !

एक बार एक सुनार काफी रकम लिये हुए किसी एक गाँव से दूसरे गाँव को जा रहा था। मार्ग में उसे एक मूर्ख जाट मिल गया। सुनार ने सोचा चलो इसका साथ अच्छा हो गया। रास्ता सुगमता से कटेगा।

दोनों साथ-साथ कुछ दूर गए थे कि सामने से दो व्यक्ति ऊंट पर बैठे आते दिखाई पड़े। उनकी मुखाकृति और खूंखारता देखकर सुनार को लगा कि ये कहीं डाकू न हों। यह सन्देह होते ही वह अपने साथी जाट से बोला—"देख भाई ! तेरे पास तो कुछ भी धन नहीं है अतः तू चुपचाप चला चल, किन्तु मेरे पास रकम है अतः मैं सड़क के उस ओर छिप जाता हूं। पर याद रखना, मेरा पता उन्हें मत देना।

जाट ने सोनी जी की इस बात को स्वीकार कर लिया और सड़क पर चलता रहा। ऊंटवाले व्यक्ति पास आ गए और जैसा कि सुनार ने सोचा था, वे डाकू ही थे। अतः उनमें से एक ने अपनी लाठी उठाकर जाट के सिर पर मारनी चाही।

यह देखकर जाट चिल्लाया और बोला—"अरे ! मारना मत मेरे सिर पर ! क्योंकि सिर पर साफा बँधा है और उसमें एक रुपया है, कहीं वह टूट न जाय।"

लाठी उठाने वाले व्यक्ति ने घुड़ककर कहा—"क्या बकता है ?"

जाट बेचारा भोला था। डाकू की घुड़की सुनकर उसकी सिट्टी-पिट्टी गुम हो गई और वह चट से बोल उठा—"बक नहीं रहा हूँ। सच कह रहा हूँ। मेरे सिर पर एक रुपया है, पर वह खरा है या खोटा, यह मैं नहीं जानता। सोनी जी से पूछ लो, वे इधर छिपे बैठे हैं।"

जाट की यह बात सुनते ही दूसरा व्यक्ति जाकर सोनी जी को पकड़ लाया और उनकी पूरी रकम छीन ली।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ऐसा होता है कुसंगति या मूर्खों की संगति का परिणाम। अब एक सुसंगति का उदाहरण देखिये।

सत्संगति का फल

कहा जाता है कि एक बार नारद जी विष्णु के पास गए और बोले--"देव ! आज मैं आपसे यह पूछने आया हूँ कि सत्संगति से क्या लाभ होता है ?'

विष्णु जी ने उत्तर दिया—"नारदजी, आपकी इस बात का मैं तो उत्तर नहीं दे सकता। आप नरक में जाकर अमुक नारकीय जीव से यह बात पूछ लें।"

नारद सोचने लगे—"मुझे नरक में जाना पड़ेगा, पर यह जानना तो जरूर है।" अतः वे नरक में गये और विष्णु के बताए हुए जीव से उन्होंने यह बात पूछी। पर वे चकित रह गए यह देखकर कि उनकी बात समाप्त भी नहीं हो पाई थी कि वह जीव समाप्त हो गया। नारद जी चकित हुए और सोचने लगे --"विष्णु भगवान ने क्या मुझसे उपहास किया था ? अब कभी उनके पास जाने का नाम नहीं लूँगा।"

पर उन्हें कहाँ चैन पड़ सकती थी। थोड़े दिन बाद फिर पहुँच गए विष्णु के पास और कहने लगे—"उस बार तो आपने मुझे नरक में भेज कर खूब बनाया पर इस बार तो अब बताना ही पड़ेगा कि सत्संगति का क्या फल होता है ?"

विष्णु हँस पड़े और बोले—"अच्छा, विंध्याचल पर्वत पर एक तोता है उससे यह बात पूछ लेना।" नारद जी भागे हुए विंध्याचल पर्वत पर भी पहुँचे और तोते से यह बात पूछने लगे—पर उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ कि उनके प्रश्न पूछते-पूछते तोता भी मर गया।

नारद झल्लाये हुए वहाँ से लौटे और फिर कभी विष्णु के पास न जाने का निश्चय किया। पर थोड़े दिन बाद जब फिर नहीं रहा गया तो पुनः उनके पास पहुँच गए। इस बार भी विष्णु ने उन्हें एक गाय के बछड़े से यह बात पूछने के लिए भेज दिया। और बछड़े का भी वही हाल हुआ जो नारकीय जीव और तोते का हुआ था।

नारद जी बड़े हताश हुए और उन्होंने प्रतिज्ञा की कि अब तो विष्णु के पास फटकूँगा भी नहीं। पर कुछ वर्ष बीतने पर फिर वे अपनी प्रतिज्ञा भूलकर विष्णु के पास आ गए और बोले—"भगवन् ! आपने मुझे बहुत भटकाया है। पर इस बार जाने बिना नहीं छोड़ूँगा कि सत्संगति से क्या होता है ?"

विष्णु तैयार ही थे, बोले—"इस बार आपको अवश्य ही बात का पता मिल

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जाएगा पर आपको अमुक राज्य के राजा के यहाँ जाना पड़ेगा। उनका राजकुमार आपको सही उत्तर देगा।"

नारद जी बड़े चक्कर में पड़े पर सोचा— एक बार और सही, अगर इस बार भी मेरी जिज्ञासा का समाधान न हुआ तो फिर कभी विष्णु जी की ओर मुख करूँगा ही नहीं। यह सोचकर वे सीधे विष्णु के बताए हुए राज्य की ओर चल पड़े। उन्हें देर क्या लगती थी ? तीर की तरह सीधे राजमहल में पहुँच गए।

वहाँ के राजकुमार से उन्होंने अपना प्रश्न पूछा। राजकुमार बोला—"सत्संगति के लाभ के बारे में तो जब विष्णु जी नहीं बता सके तो मैं कैसे बता सकता हूँ कि संत-दर्शन से क्या लाभ होता है ?"

नारद जी ने कहा—"अरे यही बता दो भाई ! भागते भूत की लंगोटी ही भली।"

तब राजकुमार ने कहा—"देखिये ! आप नरक में आए तो आपके दर्शन करते ही मेरा नरक का सारा आयुष्य टूट गया, उसके बाद विंध्याचल पर्वत पर मैंने तोते के रूप में पक्षी की योनि प्राप्त की थी, पर वहाँ भी आपके दर्शन करते ही वह समाप्त हो गई। उसके बाद मैंने तिर्यंच योनि में बछड़े के रूप में जन्म लिया। पर मेरे सौभाग्य से वहाँ भी आपके दर्शन हुए और मैं तिर्यंच योनि से मुक्ति प्राप्त कर मनुष्य-भव में राजकुमार बना हूँ। यह संत-दर्शन से ही हुआ है। जब संत के दर्शन से भी इतना लाभ होता है तो फिर संतों की संगति करने से तो न जाने कितना महान फल मिलता होगा।"

"वाह ! अच्छी महिमा बताई संत-दर्शन की।" राजकुमार की बात पर इस प्रकार भुनभुनाते हुए नारद वहां से चल दिये।

बंधुओ ! यह एक रूपक है किन्तु यथार्थ में भी हम देखते हैं कि अगर हम किसी सज्जन अथवा संत पुरुष के समीप पहुँचते हैं तो उसकी सौम्यता, स्नेहसिक्त दृष्टि एवं मधुर वाणी सुनकर हमारा हृदय शांति से भर जाता है तथा चित्त प्रफुल्लित हो उठता है। और अगर हम उनके उपदेशों को, उनके दिये हुए बोध को जीवन में भी उतार लेते हैं तो फिर कहना ही क्या है, निश्चय ही हमारी आत्मा निर्मल बनती हुई ऊँचाई की ओर बढ़ती है।

भगवती सूत्र में कहा गया है—

सवणे नाणे विन्नाणे, पच्चक्खाणे य संजमे।
अणण्हए तवे चेव, वोदाणे अकिरिया सिद्धी॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इस गाथा में बताया गया है—सत्संग से धर्म-श्रवण करने को मिलता है। धर्म-श्रवण से तत्वज्ञान हासिल होता है और तत्वज्ञान से विज्ञान अर्थात् विशिष्ट ज्ञान प्राप्त होता है। विज्ञान से प्रत्याख्यान यानी सांसारिक पदार्थों से विरक्ति की प्रेरणा मिलती है। इस प्रकार प्रत्याख्यान से संयम और संयम से अनाश्रव होता है। अनाश्रव से तप एवं तप से पूर्वबद्ध कर्मों का नाश हो जाता है। जब पूर्व-बद्ध कर्मों का नाश हो जाता है तो निष्कर्मता, यानी कर्म रहित अवस्था आ जाती है और कर्म रहित अवस्था से सिद्धि अर्थात् मुक्ति प्राप्त होती है।

यह सब तभी प्राप्त होता है जब कि प्रारम्भ में सत्संग किया जाय। अगर मूल में ही बीज न डाला जाय तो इच्छित फल की प्राप्ति नहीं होती। इस प्रकार जब तक संतों का समागम न किया जाय तब तक न जिन-वचनों का श्रवण ही करने को मिलता है और न ही सम्यक् बोध हासिल होता है। फिर आत्म-मुक्ति का सवाल ही कैसे उठ सकता है।

संतों का समागम एक का अंक है जिसके होने के पश्चात् ही क्रमशः बिंदियाँ लगाने पर संख्या बढ़ती है। अगर एक न लिखा जाय तो न बिंदियाँ लगाई जाती हैं और लगाने पर उनका कोई मूल्य नहीं आंका जा सकता।

कहने का आशय यही है कि अगर व्यक्ति संत-मुनिराजों की संगति करता है तो धीरे-धीरे अपनी आत्मा को मुक्तात्मा बना सकता है, और अगर दुर्भाग्य से वह दुर्जनों की संगति में पड़ जाता है तो नवीन गुण ग्रहण करने के बजाय पूर्व में रहे हुए सद्गुणों का नाश कर लेता है, यानी ब्याज तो कमा नहीं पाता उलटे मूल की पूंजी ही खोकर आत्मा को पतित बना लेता है। जैसा कि कहा गया है—

सुजणो वि होइ लहुओ, दुज्जणसंमेलणाए दोसेण।
माला वि मोल्लगरुया, होदि लहू मडयसंसिट्ठा॥

—भगवती आराधना ३४५

—दुर्जन की संगति करने से सज्जन का महत्व भी गिर जाता है, जैसे कि मूल्यवान माला मुर्दे पर डाल देने से निकम्मी हो जाती है।

तो बंधुओ ! इसीलिये समयसुन्दर मुनिजी ने अपने भजन के द्वारा जीव को बोध दिया है कि जिन-शासन रूपी सरोवर में जो हंस-रूपी मुनि क्रीड़ा कर रहे हैं, उनका सत्संग करके तू भी उस सरोवर के निर्मल जल से अपने मन-रूपी वस्त्र का मैल धो डाल।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कवि ने आत्मा को धोबी की उपमा दी है और मन-रूपी धोती को स्वच्छ एवं शुद्ध करने का आदेश दिया है। ध्यान देने की बात है कि कवि की निगाह से कोई भी बात नहीं बची है। उदाहरणस्वरूप—धोबी जब वस्त्र धोता है तो उन्हें किसी शिला पर पछाड़ कर उनका मैल हटाता है। अतः इन्होंने भी मन रूपी वस्त्र धोने के लिये शम, दम और क्षमा रूपी शिला बताई है।

शम अर्थात् शांति दम यानी इन्द्रिय-संयम और क्षमा से आप परिचित ही हैं। क्षमा मानव-जीवन का एक ऐसा अमूल्य गुण है, जिसकी तुलना में अन्य कोई भी गुण नहीं रखा जा सकता। कहा भी है—

"क्षमा वशीकृतेर्लोके, क्षमया किं न साध्यते।"

क्षमा संसार में वशीकरण मंत्र है, क्षमा से क्या सिद्ध नहीं होता? अर्थात् सभी कुछ प्राप्त होता है। एक छोटासा उदाहरण है—

सबसे बड़ी सजा

बगदाद के खलीफा हारूं रशीद बड़े धर्मपरायण, न्यायप्रिय एवं प्रजावत्सल पुरुष थे। एक बार उनका शाहजादा क्रोध से आग-बबूला होता हुआ उनके पास आया।

खलीफा ने उसके क्रोध का कारण पूछा तो उसने उत्तर दिया—"आपके अमुक अफसर ने मुझे बड़ी गंदी और असह्य गाली दी है। इसका प्रतिकार होना चाहिये।"

खलीफा ने शांति से पुत्र की बात सुनी और अपने सामने बैठे हुए वजीर, सेनापति आदि उच्चपदस्थ व्यक्तियों से पूछा—"आप लोग मुझे सलाह दीजिये कि उस अफसर को क्या सजा दी जानी चाहिये?"

खलीफा की बात सुनकर उपस्थित व्यक्तियों में से किसी ने कहा—उसे फांसी दे देनी चाहिये। किसी ने कहा—उस नीच की जीभ खिंचवा लेनी चाहिये। और किसी ने कहा—उसका मुंह काला करके तथा धन-माल जब्त करके देश-निकाला दे देना चाहिये।

खलीफा हारूं रशीद ने सबकी बात सुनी पर उनमें से कोई भी सजा उस अभियुक्त के लिये उन्हें उचित नहीं लगी। यह जानकर सब हैरान रह गये कि आखिर इन सजाओं की अपेक्षा भी और कौन-सी कड़ी सजा हो सकती है, जो बादशाह उसे देना चाहते हैं? वे बादशाह के मुंह से वह सजा सुनने के लिये उत्सुक होकर चुपचाप बैठे रहे।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अब खलीफा ने अपने शाहजादे को संबोधित करते हुए कहा—"पुत्र ! उस व्यक्ति के लिये सबसे बड़ी सजा तो मेरी दृष्टि में यह है कि तुम उसे क्षमा कर दो। क्योंकि जो व्यक्ति औरों के सौ अपराध माफ करता है, खुदा उसके हजार अपराध क्षमा कर देता है। हाँ, अगर तुम ऐसा नहीं कर सकते हो और बदला ही लेना चाहते हो तो जाकर उसे भी वही गाली दे आओ, किन्तु याद रखो कि फिर उसमें और तुममें कोई फर्क नहीं रहेगा। और अगर तुम उसकी अपेक्षा अधिक उत्तेजित हो गए तो उससे बड़े अपराधी साबित होओगे।"

शाहजादा पिता की सीख का मर्म समझ गया और उसने सच्चे हृदय से अपने अपराधी को क्षमा कर दिया।

वास्तव में, क्षमा जीवन की ऐसी उत्तम भावना है जिसमें शांति, संयम, करुणा, दया, स्नेह, सहानुभूति आदि सभी श्रेष्ठ भावनाओं का समावेश हो जाता है : इसीलिये कवि ने क्षमा रूपी अडिग शिला पर मन रूपी वस्त्र को धोकर शुद्ध करने की सीख जीव को दी है।

आगे कहा है—

छांटा उठे नहीं पाप अठारना रे,
सुव्रत थी राखजे संभाल रे।
साबू आलोयणा लगावणो रे,
आवे नहीं माया नो सेवाल रे। ···धोबीड़ा···

कहते हैं—'हे आत्मन् ! तू क्षमा रूपी शिला पर अपने मन के वस्त्र को धोना, पर ऐसी सावधानी से धोना कि अठारहों पापों में से किसी भी पाप के छींटे औरों पर न लगने पाएँ। अगर अपने मन को शुद्ध करते हुए यह अभिमान आ गया कि 'मैं ऐसा हूं।' और दूसरों के लिये कह दिया कि 'वह ऐसा है।' तो यह अपनी प्रशंसा तथा औरों की निंदा होगी तथा इनके कारण तुझे दोषी बनना पड़ता। पर-निंदा दूसरों पर कीचड़ या मैल उछालने जैसी ही होती है। अतः हे जीव ! तू इससे बचना और किसी पर भी पाप रूपी मैल के छींटे मत गिरने देना।

एक संस्कृत के श्लोक में कहा गया है—

स्व-श्लाघा परनिन्दा च कर्ता लोकः पदे पदे।
परश्लाघा स्व निंदा च कर्ता कोऽपि न विद्यते॥

—अपनी प्रशंसा और दूसरों की निंदा करने वाले व्यक्ति तो आपको कदम-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कदम पर मिल जाएँगे लेकिन अपनी निंदा और दूसरों की प्रशंसा करने वाले कहीं भी नहीं मिलते।

आशय यही है कि विरले व्यक्ति ही ऐसे होते हैं। कोई भी ऐसा न होता हो, यह तो कहा नहीं जा सकता क्योंकि संसार में अवतारी, महापुरुष एवं महात्यागी संत ऐसे ही हुए हैं, जिन्होंने अपने सम्पूर्ण कर्मों का क्षय करके मुक्ति हासिल की है। अगर कोई भी ऐसा न हुआ होता तो वे आत्म-कल्याण किस प्रकार करते ? पर हाँ, हजारों में या लाखों में संभवतः कोई कोई ही भव्य पुरुष ऐसा वीतरागी होता है। क्योंकि अपने अवगुणों की निंदा और दूसरों के गुणों की प्रशंसा करना बड़ा कठिन होता है। बड़े त्याग और आत्म-संयम से ही यह संभव हो सकता है।

समयसुन्दर जी ने इसीलिये कहा है कि तू ! त्याग, नियम एवं प्रत्याख्यान के द्वारा पर-निंदा से बचना और इतने पर भी अगर भूल से ऐसा हो जाय तो तुरन्त ही आलोचना एवं प्रायश्चित रूपी साबुन लगाकर इस मन रूपी वस्त्र को पुनः शुद्ध कर लेना।

भगवान महावीर ने आलोचना का महत्व दर्शाते हुए फरमाया है—

कयपावो वि मणूसो, आलोइय निन्दियं गुरुसगासे ।
होइ अइरेग लहुओ, ओहरिय भरोव्व भारवाही ॥

—समाधिमरण प्रकीर्णक, १०२

अर्थात् जिस प्रकार भारवाही अपना भार उतार कर अत्यन्त हलकापन महसूस करता है, उसी प्रकार दोषी मनुष्य भी गुरु के समक्ष अपने पापों की आलोचना करके उनके भार से हलका हो जाता है।

वस्तुतः सरल एवं शुद्ध भावों से अपने पापों की आलोचना करने वाला व्यक्ति धर्मपरायण एवं जिनवाणी पर विश्वास रखने वाले होते हैं, वे अपने छोटे से छोटे पाप की भी आलोचना करते हैं। साधु-साध्वी तो प्रतिदिन रात्रि में और अनजान में हुए पापों के लिये सुबह और दिनभर में लगे पापों का सायंकाल में प्रायश्चित करते हैं। इसके अलावा अपने गुरुओं के या बड़ों के समक्ष समय-समय पर विगत पापों को प्रगट करते हुए आलोचना कर लेते हैं।

आलोचना किसके समक्ष की जाय ?

इस विषय में कहा गया है—जो शास्त्रज्ञ हैं, गंभीर और हृदय से गहरे हैं उनके समक्ष आलोचना करनी चाहिये। आलोचना केवल साधु-साध्वियों के लिये ही नहीं, वरन् प्रत्येक व्यक्ति के लिये आत्म-कल्याणकर और आवश्यक है। उसे शास्त्रज्ञ

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

संत के समक्ष आलोचना करनी चाहिये। पर अगर ऐसे संत न मिलें तो ज्ञान-ध्यान में रमण करने वाली साध्वी के समक्ष भी करनी उचित है। और अगर दोनों ही उपलब्ध न हों तो धर्मपरायण एवं ज्ञानी श्रावक के सामने भी आलोचना की जा सकती है। अनेक उदाहरण तो हमें ऐसे भी मिलते हैं, जिनमें संतों ने भी श्रावकों के समक्ष आलोचना की है।

रतलाम के महान् शास्त्रज्ञ, श्रावक अमरचंद जी पितलिया के आगे एक संत ने आलोचना की थी। महाराष्ट्र में अहमदनगर वाले श्री किसनलाल जी मूथा बड़े गहरे शास्त्रज्ञ थे। मैंने भी उनसे शास्त्रों का कुछ अध्ययन किया था। तो ऐसे महान् श्रावकों के समक्ष आलोचना की जा सकती है और श्रावक न मिलें तो गूढ़ज्ञान रखने वाली श्राविकाओं के सामने भी आलोचना करना उत्तम है। शास्त्रों में तो आलोचना का इतना महत्व बताया है कि अगर साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका, इन चारों तीर्थों में कोई भी ऐसा न मिले जिसके सामने आलोचना की जा सकती हो तो मुमुक्षु को एकांत जंगल में जाकर आलोचना करनी चाहिये और वहाँ तक जाने की भी शक्ति न हो तो अपने ठहरने के स्थान पर ही एकान्त जगह में जाकर स्वयं अपनी आत्मा की साक्षी से आलोचना करनी चाहिये कि--'परमप्रभो, परमात्मा ! मुझसे अमुक-अमुक पाप हुए हैं।'

शास्त्र में आलोचना करने की विधि इस प्रकार बताई है—

जं पुव्वं तं पुव्वं, जहाणुपुव्वि जइक्कमं सव्वं।
आलोइज्ज सुविहिओ, कमकालविहिं अभिन्दंतो॥

—समाधिमरण प्रकीर्णक १०५

यानी श्रेष्ठ आचार वाले पुरुष को क्रम और काल का उल्लंघन न करते हुए, दोषों को क्रमशः आलोचना करनी चाहिये। जो दोष पहले लगा हो उसकी आलोचना पहले और बाद में लगे दोष की बाद में करनी चाहिये।

कुछ व्यक्ति कहा करते हैं कि 'बीती ताहि बिसार दे' कहावत के अनुसार जो हो चुका उसके लिये पश्चात्ताप करने से कोई लाभ नहीं उलटे उसके लिये पश्चात्ताप करना अपनी आत्मा को गिराना है। पर ऐसा कहना उचित नहीं है, जो ऐसा कहते हैं उनकी दृष्टि दूषित होती है और यह मानना चाहिये कि उनके समक्ष कोई उच्च लक्ष्य नहीं होता।

एक पश्चिमी विद्वान ने भी कहा है—

"Confess thy guilts and sins, thus shalt thou get light."

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात्—अपने दोषों और पापों को प्रकट करो, इससे तुम्हें प्रकाश की प्राप्ति होगी।

जो व्यक्ति आलोचना और पश्चात्ताप करके अपने समय को निरर्थक गँवाना नहीं चाहता। और अपने दुष्कृत्यों की गुरु के समीप आलोचना नहीं करता उसे अंत में एक उर्दू कवि के कथनानुसार पश्चात्ताप करते हुए कहना पड़ता है

मैं अपने बद अमलों से हूँ इस कदर नादम ।
कि शरम आती है खुद अपनी शरमसारी पर ॥

—सहर

यानी—मैं अपने कदाचार से इतना लज्जित हूँ कि मुझे अपनी लज्जा पर भी लज्जा आती है।

सारांश कहने का यही है कि आलोचना करना जीवन को उच्च और पवित्र बनाने की एक सर्वोत्कृष्ट कला है। शास्त्रों में तो इसको दैनिक कर्तव्य का रूप दिया गया है। श्री उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है—

प्रश्न—अलोयणाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—आलोयणाए णं माया-नियाण-मिच्छादंसण सल्लाणं मोक्खमग्ग-विग्घाणं, अणंतसंसारबंधणाणं उद्धरणं करेइ, उज्जुभावं जणयइ, उज्जुभावपडिवन्ने य णं जीवे अमाई, इत्थीवेयनपुंसकवेयं च न बंधइ। पुव्वबद्धं च णं निज्जरेइ।

प्रश्न—हे भगवन् ! आलोचना करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—गुरु के समक्ष आलोचना करने से मोक्षमार्ग में विघ्न डालने वाले और अनन्त संसार की वृद्धि करने वाले माया, मिथ्यात्व तथा निदान रूप तीन शल्यों को जीव हृदय से निकाल देता है अर्थात् उसके तीनों शल्य नष्ट हो जाते हैं। और इस कारण उसका हृदय सरल बन जाता है। जब सरल बन जाता है तो निष्कपट भी हो जाता है और वह स्त्रीवेद एवं नपुंसकवेद का बंध नहीं करता। अगर इन दोनों वेदों का पूर्व में बंध हो चुका हो, तो उसकी निर्जरा हो जाती है।

तो बंधुओ, प्रसंग आ जाने के कारण तथा अत्यधिक महत्त्व की बात होने के कारण आलोचना के विषय में मैंने काफी कुछ कह दिया है। हमारे भजन में भी कवि ने कहा है कि आलोचना रूपी साबुन के द्वारा मनरूपी वस्त्र को क्षमा-रूपी शिला पर धोकर शुद्ध कर लो। पर यह ध्यान रखना कि माया रूपी काई या शैवाल कहीं इस वस्त्र पर न लग जाय। अन्यथा वह शुद्ध नहीं हो सकेगा।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आगे कहा है—

समयसुन्दर नी आ शीखड़ी रे,
करजे पुरुषारथ नूं वर काम रे।
आलस न करिये आवा काममां रे,
पामीश परम सुख नूं धाम रे····। थोबीड़ा····

अंत में कवि ने यही कहा है कि मेरी इस हितशिक्षा पर ध्यान देते हुए अपने पुरुषार्थ से उत्तम करणी करो। धर्म कार्यों में अगर आलस नहीं करोगे तो निश्चय ही तुम्हें अनन्त सुख के धाम मोक्ष की प्राप्ति होगी।

हम प्रायः देखते हैं कि लोग सासारिक कार्यों में तो तत्पर रहते हैं। खाना, पीना, घूमना और मौज-शौक के कार्यों को करने में विलम्ब नहीं करते, किन्तु धर्म-कार्य के लिये आज का काम कल पर, कल का परसों पर और इसी प्रकार महीनों और वर्षों तक भी टालते जाते हैं। कहते हैं अभी तो हमारी उम्र खाने-पहनने और संसार के सुखों को भोगने की है। धर्मध्यान तो बुढ़ापे में भी कर लेंगे। बीमार होने पर अगर घर वाले कह भी देते है कि महाराज, इनको पच्चखाण करा दो तो नाराज होकर कह बैठते हैं—"अभी हम मर रहे हैं क्या ? ऐसा कहने वाले यह विचार नहीं करते कि बुढ़ापे में और मरते समय ही क्या धर्माराधना की जा सकती है ? और फिर यह कौन कह सकता है कि वृद्धावस्था आएगी ही। जीवन का क्या ठिकाना है, अगला श्वास भी आयेगा या नहीं, इसका पता किसी को नहीं लग सकता।

अतः प्रत्येक व्यक्ति को जीवन की अस्थिरता पर विचार करते हुए इस मानव जन्म रूपी स्वर्णावसर का लाभ उठाना चाहिये। सद्गति प्राप्त कर लेना या मोक्ष हासिल कर लेना हाथ का कौर नहीं है जो सहज ही उठाकर मुँह में डाल लिया जाय। इसके लिये शरीर में शक्ति रहते हुए ही प्रयत्न और पुरुषार्थ करना चाहिये। सांसारिक सुखों के प्रति निरासक्त भाव रखते हुए इन्द्रियों पर तथा मन पर पूर्ण संयम रखने वाला व्यक्ति ही साधना के मार्ग पर बढ़ सकता है। उस मार्ग पर गमन करने के लिये चित्त को अथवा मन को पूर्ण शुद्ध और पवित्र बनाना अनिवार्य है। इसीलिये मैंने मनोगुप्ति का महत्व बताते हुए समयसुन्दर जी महाराज के भजन के द्वारा भी कई श्रेष्ठ बातों की ओर आपका ध्यान दिखाने का प्रयत्न किया है। अगर आप उन्हें ग्रहण करेंगे और जीवन में उतारेंगे तो इस लोक तथा परलोक में सुख हासिल कर सकेंगे।

●●

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

७ | जन्म दिन कैसे मनाया जाय ?

धर्मप्रेमी बंधुओ, माताओ एवं बहनो !

आज श्रावण शुक्ला प्रतिपदा के दिन मेरे ७४वें वर्ष के जन्मदिन के उपलक्ष में आप लोगों ने जो-जो कुछ कहा, वह आपकी श्रद्धा एवं स्नेह का प्रतीक है। किन्तु आपके वचन ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र की प्रशंसा के रूप में है। ऐसे वचनों को सुनकर अगर कोई व्यक्ति उन्हें अपनी प्रशंसा के रूप में समझे तो यह उसकी महान् भूल है। प्रशंसा किसी व्यक्ति के व्यक्तिगत जीवन की नहीं होती, वह केवल गुणों की होती है।

आपने श्री उत्तराध्ययन सूत्र का नवां अध्याय पढ़ा होगा। उसमें मिथिला नगरी के राजा श्री नमि राजऋषि का वर्णन है। नमि राजऋषि, राजा होने पर भी संसार से विरक्त हो जाते हैं और दीक्षित होकर संयम का पालन करने की भावना प्रकट करते हैं।

यह जानकर देवताओं के राजा इन्द्र स्वयं उनकी परीक्षा लेने के लिये आते हैं कि इस कठिन एवं त्यागमय, आध्यात्मिक मार्ग पर राजर्षि चल सकेंगे या नहीं। यद्यपि आत्मा में वैराग्य की भावना का उदय होने पर फिर संसार की समस्त वस्तुएँ एवं भोग-विलास के साधन व्यक्ति को तुच्छ एवं असार नजर आते हैं। वे भलीभांति समझ लेते हैं—

जम्मं मरणेण समं, संपज्जइ जुव्वणं जरासहियं।
लच्छी विणाससहिया, इय सव्वं भंगुरं मुणह॥

—कार्तिकेयानुप्रेक्षा ५

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात्—जन्म के साथ मरण, यौवन के साथ बुढ़ापा, लक्ष्मी के साथ विनाश निरन्तर लगा हुआ है। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु को नश्वर समझना चाहिये।

इस प्रकार वैरागी संसार को असार मानता है तथा इससे मुक्त होने का प्रयत्न करने के लिये कटिबद्ध हो जाता है। उस पर वैराग्य का ऐसा रंग चढ़ जाता है कि मृत्यु का भय भी उसे उतार नहीं पाता। किन्तु अगर किसी प्रकार के दुःख, क्रोध या अन्य प्रकार के आवेश में आकर व्यक्ति विरक्त होने का जामा पहन लेता है तो आवेश के समाप्त होने पर वह पुनः अपने आदर्श से गिर जाता है तथा संयम ग्रहण कर लेने के पश्चात् भी अपने साधना-पथ से च्युत हो जाता है।

इसलिए गुरु नाना प्रकार से वैराग्यावस्था को प्राप्त व्यक्ति की परीक्षा लेते हैं और उसमें खरा उतरने पर ही संयम-पथ पर बढ़ाते हैं। ताकि कहीं साधक पथ-भ्रष्ट न हो जाय—

से महमं परिन्नाय माय हु लालं पच्चासी।

—विवेकी साधक कहीं लार यानी थूक चाटने वाला न बन जाय। अर्थात्—वह परित्यक्त भोगों की पुनः कामना न करने लगे।

तो ऐसी ही भावना लेकर नमिराय ऋषि की परीक्षा लेने के लिये स्वयं इन्द्र आते हैं और उनसे भांति-भांति के प्रश्नोत्तर करते हैं। पर उनका वैराग्य तो असली था, नकली नहीं। अतः इन्द्र के लुभावने एवं सांसारिक भोगों की ओर ललचाने वाले प्रश्नों का उत्तर उन्होंने पक्के किरमची रंगों में रंगे हुए वस्त्र के सदृश मन के साथ दिया। और इस कारण जब इन्द्र को उनके सच्चे वैराग्य पर पूर्ण प्रतीति हो गई तो उन्होंने राजा की भूरि-भूरि प्रशंसा की। और कहा

"अहो ते निज्जिओ कोहो, अहो माणो पराजिओ।
अहो ते निरक्किया माया, अहो लोभो वसीकओ॥
अहो ते अज्जवं साहु, अहो ते साहु मद्दवं।
अहो ते उत्तमा खंति, अहो ते मुत्ति उत्तमा॥

अर्थात्—'हे राजन्! आपने क्रोध को जीत लिया, अभिमान को भी परास्त कर दिया। माया का आपके हृदय में कोई स्थान नहीं और लोभ को तो पूर्णतया आपने वश में कर लिया है।'

आगे कहा है—'हे नमि राजऋषि! आपकी सरलता प्रशंसनीय है, कोमलता भी सराहनीय है। आपकी क्षमा अति उत्तम और श्रेष्ठ है तथा निर्लोभता अद्भुत है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार इन्द्र ने उनकी बहुत प्रशंसा एवं सराहना की। किन्तु इन्द्र के द्वारा अपनी तारीफ सुनकर भी नमिराय ऋषि मन में फूले नहीं, अभिमान नहीं आया। कहते हैं—यह मेरी तारीफ नहीं है ज्ञान एवं गुणों की ही तारीफ है।

इसी प्रकार अभी वक्ताओं ने श्रद्धा के और भावना के वश गुण-वर्णन किया है। पर मेरी आत्मा को तो यही समझना चाहिये कि यह मेरी तारीफ नहीं, केवल गुणों की तारीफ है। जो भी व्यक्ति ऐसा समझता है वह कभी अपनी आत्मा को नीचा नहीं गिराता। किन्तु जो व्यक्ति यह विचार करता है कि—'लोग मेरी प्रशंसा कर रहे हैं।' बस यही आत्मा के पतन का कारण बन जाता है। एक छोटा सा दृष्टान्त है—

कीर्ति अर्थात् प्रशंसा, यह संस्कृतसाहित्य में स्त्रीलिंगी है। पुल्लिग या नपुंसकलिंग नहीं। तो कीर्ति को एक कन्या के रूप में माना गया है। अब जब कि कन्या घर में होती है तो उसे किसी को अर्पण तो करना होता है, अतः उसके हाथ में वरमाला दी गई।

कीर्ति वरमाला हाथ में लिये हुए अपने लिये उपयुक्त वर की खोज में चली। उसे देखकर अनेक व्यक्ति लालायित हो उठे कि हमारे गले में कीर्ति वरमाला डाले। किन्तु कीर्ति ने अपनी आकांक्षा रखने वाले किसी भी व्यक्ति के गले में माला नहीं डाली और ऐसे संत-महात्माओं के पास पहुँची जो उसकी चाह कभी भी नहीं करते थे। उनके समीप जाकर उसने एक के बाद एक महात्मा के गले में वरमाला डालनी चाही किन्तु उन्होंने स्पष्ट और दृढ़ शब्दों में कह दिया—"हमें तुम्हारी जरूरत ही क्या है ?"

इस प्रकार बेचारी कीर्ति कुमारी ही रह गई। क्योंकि जिन्होंने उसे चाहा उन्हें उसने स्वयं पसंद नहीं किया और जिनको उसने चाहा वे उसकी चाह नहीं करते थे।

कहने का आशय यही है कि सज्जन पुरुष कीर्ति की चाह नहीं करते और अपनी प्रशंसा सुनकर खुश नहीं होते। अपनी प्रशंसा सुनकर केवल वे ही व्यक्ति प्रसन्न होते हैं जिनमें गुणों का अभाव होता है।

एक पाश्चात्य विद्वान सेनेका ने कहा है—

You can tell the caractor of every man when you see how he receives Praise.

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

—आप प्रत्येक व्यक्ति का चरित्र बता सकते हैं, यदि आप देखें कि वह अपनी प्रशंसा से कैसा प्रभावित होता है।

आशा है आप लेखक के कथन का आशय समझ गए होंगे। वह यही कहना चाहता है कि सच्चरित्र एवं निस्पृही व्यक्ति अपनी प्रशंसा को सुनकर कभी प्रसन्न नहीं होता और उसके हृदय में अहंकार का भाव भी पैदा नहीं होता। किन्तु जो व्यक्ति अपनी प्रशंसा को सुनकर खुशी से फूले नहीं समाते तथा गर्व से भर जाते हैं, उनके लिये समझना चाहिये कि वह धन एवं कीर्ति के लोलुप हैं तथा वे जो कुछ भी करते हैं अपने आत्म-संतोष अथवा आत्म-कल्याण की दृष्टि से नहीं अपितु लोगों में प्रशंसनीय बनने के लिये तथा ख्यातिप्राप्ति के लिये अच्छे कार्य करने का दिखावा करते हैं। ऐसे व्यक्तियों का चरित्र उनकी आत्मा को श्रेष्ठ एवं संसारमुक्त कभी नहीं बना सकता।

छत्रपति शिवाजी ने अपना सम्पूर्ण राज्य अपने गुरु स्वामी श्री रामदास जी महाराज को प्रदान कर दिया था।

स्वामी जी ने कहा —"मैं तो साधु हूं। राजपाट लेकर क्या करूंगा ? मेरे लिये तो यह धन-वैभव सोना-चाँदी, मकान सब मिट्टी के समान हैं।"

किन्तु शिवाजी ने उत्तर दिया—"मैं तो यह सब आपको अर्पण कर चुका। और भेंट की हुई चीज़ को पुनः ले नहीं सकता।"

इस पर स्वामी रामदास जी ने कुछ सोच-विचार कर कहा—"ठीक है, मुझे सब कुछ सौंप चुके हो तो अब मेरा समझकर ही इस राज का कार्य-भार एक कर्मचारी के नाते सम्हालो। जब तुम इसे अपना नहीं समझोगे तो इसके लिये कभी तुम्हारे मन में अभिमान नहीं आएगा कि मैं राजा हूं और इसके प्रति तुम्हारी मोह-ममता अथवा आसक्ति भी नहीं रहेगी। इससे तुम प्रजापालक बनोगे तथा अपने आपको प्रजा का सेवक समझोगे। और यही सब बातें तुम्हारी आत्मा को निरंतर श्रेष्ठता की ओर ले जाएंगी।

बंधुओ, महापुरुष इसी प्रकार प्राणियों को बोध देते हैं। तथा उन्हें सन्मार्ग पर चलाते हैं। आवश्यकता है सदुपदेशों को ग्रहण करने की तथा महान् व्यक्तियों के दिये हुए बोध को जीवन में उतारने की।

मैं भी आपसे यही आशा रखता हूँ। मैं अपनी प्रशंसा इसी में समझूँगा कि आप सुने हुए और समझे हुए जिन वचनों को आत्म-सात् करें तथा उन्हें आचरण में उतारें। इस संसार में रहते हुए व्यक्ति को धन, शक्ति, बुद्धि अथवा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सौन्दर्य आदि किसी भी बात का गर्व नहीं करना चाहिये। क्योंकि ये सब उसे पूर्व पुण्यों के फलस्वरूप प्राप्त हुए हैं। देखना तो यह है कि वह इस मानव-शरीर को पाकर अब क्या करता है ?

यह जन्म ऐसा जन्म है कि इसमें वह निकृष्ट करनी करके सातवें नरक तक भी जा सकता है और उत्कृष्ट करनी करके पंचमी गति, मोक्ष को भी प्राप्त कर सकता है। अतः पूर्वोपार्जित कर्मों का फल प्राप्त कर लेने में उसके लिये गर्व की बात ही कौन सी है ? महत्व तो इस बात का है कि शुभ कर्मों के संयोग से इस जन्म में उच्चकुल, उच्चगोत्र, आर्यक्षेत्र, उत्तम धर्म एवं सन्तों का समागम आदि सभी कुछ पाकर वह इनसे क्या लाभ उठाता है ?

संसार में अभिमानी व्यक्तियों की कमी नहीं है। जो कुछ पुस्तकें पढ़ गये हैं, वे अपनी विद्या के गर्व में चूर हो रहे हैं और जिन्होंने थोड़ा धन इकट्ठा कर लिया है, वे लक्ष्मी के नशे में मतवाले हो रहे हैं। पर उन्हें यह भान नहीं है कि वे जिस चीज़ का घमण्ड करते हैं वह सदा टिकने वाली नहीं है, अनित्य और असार है।

आज जो लक्ष्मी का लाल है और नाना प्रकार के भोगविलासों में डूबा हुआ है वह कल दर-दर का भिखारी बन सकता है, अपनी विद्या का जो घमंड करते हैं, वे कल को पागल होकर अपनी चेतना खो सकते हैं। अपने यौवन और शरीर के सौन्दर्य का जो अभिमान रखते हैं वह कल को किसी असाध्य बीमारी के कारण अंधा, लूला-लंगड़ा या कुरूप हो सकता है और इनसे बच जाय तो वृद्धावस्था के अनिवार्य आक्रमण से अशक्त और सौन्दर्यविहीन हो सकता है। इस प्रकार सांसारिक सुख कोई भी शाश्वत सुख नहीं है। सभी असार है। केले के पत्तों या प्याज के छिलकों के समान ही सारहीन हैं। आज जो भी अच्छे संयोग हमें मिले हैं वे अगले क्षण ही वियोग में बदल सकते हैं। अधिक क्या कहा जाय ? जिस शरीर को हम सबसे ज्यादा चाहते हैं, पौष्टिक पदार्थ खिलाकर मज़बूत बनाते हैं, मलते हैं, धोते हैं और सजाते हैं, वह भी तो किसी क्षण हमारी आत्मा का साथ छोड़कर अलग हो जाता है। एक क्षण में जीव जन्म लेता है और एक क्षण में ही मृत्यु को भी प्राप्त हो जाता है। अतः जो अज्ञानी संसार के नाशवान पदार्थों से राग रखते हैं, उन्हें दुःखों के अथाह सागर में डूबना पड़ता है।

इसलिये अगर व्यक्ति दुःखों से दूर रहकर शाश्वत सुख भोगना चाहे तो उसे लोक-परलोक की असारता और संयोग-वियोग का विचार करके संसार के अनित्य और नाशवान् पदार्थों से मोह, ममता या आसक्ति नहीं रखना चाहिये। यह जगत मिथ्या, नाशवान्, जड़ और दुखःमय है। किन्तु आत्मा चेतन, नित्य और शाश्वत

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सुख का खजाना है। अतः इसे कर्मों के आवरणों से मुक्त करके असली स्वरूप में लाना चाहिये। जब तक कर्मों का परदा आत्मा पर रहता है तब तक अपने निज गुणों को विकसित नहीं कर सकती। एक उदाहरण है--

किसी महात्मा के पास एक भक्त आया और बोला "भगवन्! मैंने आपकी इतने दिनों तक सेवा की है अतः मुझे अब कोई दुर्लभ वस्तु प्रदान कीजिये।"

महात्माजी ने उत्तर दिया—"वत्स! तुम्हारी बात सच है। तुमने मेरी अनेक वर्षों तक बहुत मन लगाकर सेवा की है अतः मुझे तुम्हें कुछ न कुछ अवश्य देना चाहिये। जाओ, सामने बने हुए उस आले में से अमुक डिबिया उठा लाओ।"

भक्त अत्यन्त प्रसन्न होकर डिबिया ले आया और उत्सुकतापूर्वक पूछने लगा—"क्या है इस में ?"

"इसमें पारस पत्थर है। इसके द्वारा तुम जीवन भर चाहे जितने लोहे का सोना बना सकोगे ?" महात्माजी ने कहा और वह डिबिया उसे दे दी।

भक्त खुशी के मारे फूला नहीं समाया, उसे अपने गुरुजी से ऐसा उपहार पाने की आशा नहीं थी। अतः पारस-पत्थर जैसी दुर्लभ वस्तु प्राप्त करके मानों वह निहाल हो गया और महात्माजी को नमस्कार करके वहाँ से शीघ्रतापूर्वक चल दिया।

किन्तु कुछ काल पश्चात् जब वह पुनः महात्माजी के पास लौटा, उसका चेहरा उतरा हुआ था। यह देखकर उन्होंने पूछा—"भाई मैंने तुम्हें पारस पत्थर जैसी अमूल वस्तु दी, किन्तु फिर भी तुम उदास हो ? क्या कारण है इसका ?"

भक्त बोला—'गुरुदेव! आपने मुझे धोखा दिया है। इस पत्थर से तो एक तोला लोहा भी सोना नहीं बना। आप अपनी वस्तु रखिये।" कहकर व्यक्ति ने डिबिया महात्माजी के सामने रख दी।

महात्मा जी ने उसे खोलकर देखा तो पाया कि पारस-पत्थर पर जो महीन कागज लिपटा हुआ था वह ज्यों का त्यों ही उस पर लिपटा हुआ है। अतः उन्होंने कहा—"भले आदमी क्या तुमने इस कागज समेत ही इसे लोहे से छुआया था ?"

"जी हाँ!" व्यक्ति ने उत्तर दिया।

'बस, इसीलिये तो इससे लोहा सोना नहीं बन सका। जब तक इस आवरण को इस पारस पत्थर से अलग नहीं करोगे, तब तक कैसे यह लोहे को छूने पर उसे

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सोना बनायेगा ? ले जाओ, और इस कागज को अलग करके तब इसे लोहे से छुआना। तुम्हारा मनवांछित कार्य सिद्ध हो जाएगा।"

व्यक्ति ने ऐसा ही किया और फिर मालामाल होकर आनन्द से रहने लगा।

भाइयो ! हमारी आत्मा भी पारस पत्थर के समान सिद्धि प्रदान करने वाली है। यह आपको मोक्ष की प्राप्ति भी करा सकती है। किन्तु शर्त यह है कि इस पर रहे हुए कर्मों के आवरणों को हटा दिया जाय। जब तक ये आवरण इस पर चढ़े रहेंगे तब तक हम अपने इच्छित उद्देश्य को कभी सिद्ध नहीं कर पाएँगे।

उत्तराध्ययन सूत्र में कहा भी है—

बहुकम्म लेव लित्ताणं, बोही होइ सुदुल्लुहा तेसिं।

—जो आत्मायें बहुत अधिक कर्मों से लिप्त हैं, उन्हें बोधि प्राप्त होना अति दुर्लभ है।

भावार्थ यह है कि जब तक आत्मा कर्मों से अधिकाधिक जकड़ी हुई रहती है तब तक जीव को कर्तव्य-अकर्तव्य का भान नहीं रहता और अंतराय कर्म का तीव्र उदय होने के कारण उसकी आत्मा में रहे हुए ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र-गुणों का आविर्भाव नहीं हो पाता। मिथ्यात्व एवं अज्ञान के कारण उसे जिन वचनों पर प्रतीति नहीं होती तथा संतों के उपदेश में भी रुचि नहीं रहती।

किन्तु इसके विपरीत ज्यों-ज्यों उस की आत्मा पर से मिथ्यात्व का एवं अज्ञान का आवरण हटता जाता है त्यों-त्यों उसकी आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त होती जाती है और साधक संयम की साधना करते-करते अपने मन, वचन एवं काय योग को भी कम करता चला जाता है। कहा भी है—

जहा जहा अप्पतरो से जोगो,
तहा तहा अप्पतरो से बंधो।
निरुद्धजोगिस्स व से ण होति,
अछिद्दपोतस्स व अंबुआणे।।

—बृहत्कल्प भाष्य ३६२६

जैसे जैसे मन, वचन, काय के योग अल्पतर होते जाते हैं, वैसे-वैसे बंध भी अल्पतर होता जाता है। योगचक्र का पूर्णतः निरोध होने पर आत्मा में बंध का सर्वथा अभाव होता जाता है। जैसे कि समुद्र में रहे हुए छिद्ररहित जहाज में जला-गमन का अभाव होता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मेरे कहने का आशय यही है कि हमारी आत्मा ही हमें जन्म-मरण के दुखों में डालती है और आत्मा ही शाश्वत सुख की प्राप्ति कराती है, आवश्यकता केवल यही है कि इसे शुद्ध विचारों की ओर प्रवृत्त किया जाय।

आप उत्तराध्ययन का पारायण करते समय पढ़ते होंगे—

अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठिय सुपट्ठिओ॥

—आत्मा ही सुख-दुःख का कर्ता व भोक्ता है। सदाचार में प्रवृत्त आत्मा मित्र के तुल्य है और दुराचार में प्रवृत्त होने पर वही शत्रु है।

अब प्रश्न यह उठता है कि सदाचार में प्रवृत्त किस प्रकार हुआ जाय ? इसका उत्तर यही है कि मुमुक्षु व्यक्ति जिन-वचनों में श्रद्धा रखे, सद्गुरुओं के उपदेशों को आत्मसात् करे तथा सद्गुणों का संचय करने का प्रयत्न करता रहे।

किन्तु उसके लिये तोते के समान शास्त्रों का पारायण कर लेना, लोकदिखावे के लिये स्थानक में जाकर किसी तरह प्रवचन सुन लेना और महापुरुषों की जन्म-तिथियाँ मना लेना ही काफी नहीं है। आप प्रतिवर्ष भगवान महावीर की जयन्ती मनाते हैं और भी वर्ष में अनेक महापुरुषों की जयन्तियाँ मनाते समय जुलूस निकालते हैं, गाना-बजाना करते हैं और स्टेज पर खड़े होकर लच्छेदार भाषा में उनके गुणगान करते हैं। किन्तु केवल गुणगान करने से क्या हो सकता है ?

आप हलवाइयों की गली में से निकलें और प्रत्येक मिठाई के नाम-धाम, गुण और मधुर स्वाद के विषय में कहते चले जायँ तो आपका पेट भर जायगा ? या कपड़ा-बाजार में जाकर नाना प्रकार के कपड़ों की कीमत और उनके मोटे और महीनपने की आलोचना या प्रशंसा करें तो क्या वह आपके शरीर पर आ जायगा ? नहीं, कपड़ा खरीदकर पहनने से आपका शरीर ढँकेगा और मिठाइयाँ खाने पर ही पेट भरेगा। इसी प्रकार महापुरुषों के केवल गुणगान करने से ही अपनी आत्मा गुणवान नहीं बन जाएगी, अपितु उन गुणों को कहने की अपेक्षा आचरण में उतारने पर ही आप गुणवान कहलायेंगे और उन गुणों के द्वारा अपनी आत्मा का कल्याण कर सकेंगे।

इसलिये बंधुओ, आप जयंतियाँ या जन्मदिन मनाने और महा-मानवों के गुणानुवाद करने में ही न रह जायँ बल्कि उन्हें जीवन में उतारने का प्रयत्न करें। चिन्तन और मनन करें कि उन महामानवों ने अपने आत्म-कल्याण के लिये

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

क्या-क्या प्रयत्न किये थे और किस प्रकार अपनी आत्मा को राग-द्वेष से रहित किया था ?

जब आप एकान्त और शांत वातावरण में बैठकर चिंतन करेंगे तो अवश्य ही आपका मन श्रेष्ठ कार्यों के महत्त्व को समझेगा तथा त्याग, नियम एवं प्रत्याख्यान आदि की महिमा का अनुभव करता हुआ उनकी ओर आकृष्ट होगा तथा उन्हें क्रियात्मक रूप में लाने का विचार और विचार के पश्चात् संकल्प भी करेगा।

अन्यथा हम प्रतिदिन बोलते हैं और आप प्रतिदिन सुन लेते हैं। समय-समय पर जयंतियों या जन्म-दिन भी मना लिया करते हैं पर उससे लाभ क्या हासिल करते हैं ? हमारा समय तो व्यर्थ नहीं जाता क्योंकि हमारे लिये तो स्वाध्याय और धर्मकथा भी तप है। किन्तु आपका समय निरर्थक चला जाएगा। अतः सुनी हुई सौ बातों में से आप अगर एक बात भी अपना लें तो आपका जीवन तो उन्नत बनेगा ही, हमें भी सन्तोष का अनुभव होगा। अगर इतने श्रोताओं में से दो-चार या एक भी हमारे कहे हुए शास्त्र-वचन पर श्रद्धा करता है, विश्वास करता है और उसे अमल में लाने का संकल्प करता है तो वह भी हमारे लिये प्रसन्नता की बात है।

आपने सुना होगा कि अनाथी मुनि ने राजा श्रेणिक को सम्यक्त्व का स्वरूप समझाकर उन्हें आत्मोत्थान का सच्चा मार्ग बताया था। इसी प्रकार अगर आपमें से एक भी व्यक्ति जीवन के महत्व को समझ लेता है तथा आत्म-कल्याण के प्रयत्न में जुट जाता है तो हमारे लिये हर्ष का विषय है।

यह दुर्लभ जीवन बार-बार नहीं मिलता। एक बार अगर इसे व्यर्थ कर दिया जाय तो दूसरी बार कब इसकी प्राप्ति होगी, यह कहा नहीं जा सकता। इस संबंध में हमारे यहाँ दस दृष्टान्त प्रसिद्ध हैं। पर उनका उल्लेख करने से विस्तार अधिक हो जाएगा। कभी प्रसंगवश ही उन्हें बताया जा सकेगा। किन्तु जिन भव्य प्राणियों को मनुष्य जीवन की दुर्लभता को समझने की जिज्ञासा हो उन्हें अवश्य पढ़ना चाहिये।

अभी तो मुझे यही कहना है कि इसी मानव शरीर का निमित्त पाकर अनेक अवतारी पुरुषों ने संसार से मुक्ति प्राप्त की है और मुनिजन छठे आदि उच्च गुण-स्थानों को प्राप्त करते हैं। ऐसे महान् उपयोगी जीवन को प्राप्त करके भी यदि विशेष आत्म-कल्याण की साधना नहीं हो सकी तो समझना चाहिये कि उसकी प्राप्ति निरर्थक हो गई। इतना ही नहीं, अनन्त पुण्य-रूप गाँठ की पूंजी, जिसके बल पर यह जीवन मिला था वह भी गई। साथ ही विषय भोगों को भोगकर जो असंख्य

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कर्मों का बन्धन कर लिया, उनके कारण अगले जन्मों तक के लिये ऋणी भी और हो गया जिसे चुकाने में न जाने कितने जन्म-मरण करने पड़ेंगे।

इसलिये प्रत्येक प्राणी को भलीभांति समझ लेना चाहिये कि विषयासक्ति समस्त अनर्थों का मूल है। हाथी एवं मृग आदि तो एक-एक इन्द्रिय के प्रति आसक्त होने के कारण ही जान से हाथ धो बैठते हैं, फिर जो मनुष्य पाँचों इन्द्रियों के विषयों में आसक्त रहेंगे उनकी क्या दुर्दशा होगी इसकी कल्पना करना ही भयंकर है। विषयों में ऐसी विचित्रता और प्रबल आकर्षण है कि ज्यों-ज्यों इनका सेवन किया जाता है, त्यों-त्यों भोग की लालसा घटने के बजाय बढ़ती ही जाती है। इनके सेवन से किसी भी प्राणी को कभी तृप्ति नहीं हुई है और न ही भविष्य में हो सकती है।

तृप्ति केवल उसी को होती है जो उनका परित्याग करके इनसे विरक्त हो जाता है। श्री भर्तृहरि भी कहते हैं—

भोगो भंगुरवृत्तयो बहुविधास्तैरेव चाय भव—।
स्तत्कस्यैव कृते परिभ्रमन रे लोका: कृतं चेष्टितैः।
आशापाशशतोपशान्ति विशदं चेतः समाधीयतां।
कामोच्छित्तिवशेस्वधामनि यदि श्रद्धेयमस्मद्वचः॥

कहा गया है—ये नाना प्रकार के विषय-भोग नाशवान और संसार-बंधन के कारण हैं। इस बात को जानकर भी, मनुष्यो! उनके चक्कर में क्यों पड़ते हो? इस निरर्थक चेष्टा से क्या लाभ होगा? अगर आपको हमारी बात का विश्वास हो तो आप अनेक प्रकार के आशा जाल के टूटने से शुद्ध हुए चित्त को सदा काम-नाशक एवं स्वयं-प्रकाशक शिवजी के चरणों में लगाओ अथवा अपनी इच्छाओं का समूल नाश करने के लिये, अपनी ही आत्मा के ध्यान में मग्न हो जाओ।

तो बंधुओ, अंत में मैं केवल आप से यही कहना चाहता हूँ कि आप मानव जीवन की दुर्लभता पर विचार करें तथा इसे सार्थक बनाने के लिये गंभीर चिंतन करते हुए आत्मा की शुद्धि के लिये जुट जायँ। मैं यह नहीं कहता कि आप आज ही गृहस्थ जीवन को त्यागकर साधु बन जायँ, नहीं, अपने कर्तव्यों का पालन मनुष्य को करना चाहिये किन्तु उसे यह भी नहीं भूलना चाहिये कि इस जीवन के बाद भी अगला जीवन होता है और उसकी सफलता के लिये हमें इसी जीवन में प्रयत्न भी करना है। अतः सांसारिक कर्तव्यों को करते हुए भी सांसारिक जंजालों में आप लिप्त न रहें तथा जल में कमल के समान इस संसार में रहते हुए भी अपने उत्तम

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

लक्ष्य आत्म-मुक्ति को न भूलें । अगर आप इसे याद रखेंगे तो निश्चय ही आपका मन संसार में उलझा नहीं रहेगा ।

आप जयंतियां मनाएँ, जन्मतिथियां मनाएँ पर यह ध्यान रखें कि क्यों हम महापुरुषों को स्मरण करते हैं ? उनके व्यक्तिगत जीवन को याद करना तो कुछ भी अर्थ नहीं रखता, वे केवल इसीलिये स्मरणीय हुए कि उनमें ऐसे श्रेष्ठतम गुण थे, जिनके कारण वे स्वयं तो संसार से मुक्त हुए ही, हमारे समक्ष भी अपने महान् गुणों को आदर्श के रूप में छोड़ गए । अतः उन गुणों को हमें भी जीवन में उतारना है । आज आपने मेरे लिये जो भाव प्रगट किये वे आपके स्नेह के द्योतक हैं । मेरी यही कामना है कि आप आत्मोन्नति के मार्ग पर निरन्तर बढ़ें तथा अपने श्रेष्ठतम लक्ष्य को प्राप्त करें ।

●●

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

८ | सफलता के बहुमूल्य सूत्र

धर्मप्रेमी बंधुओ, माताओ एवं बहनो !

इस संसार में प्रत्येक मनुष्य जीवन जीता है और अपने जीवन को सफल बनाने की कामना रखता है। किन्तु जीवन की सफलता किसमें है ? इस विषय पर गंभीर विचार करने वाले व्यक्ति बहुत कम पाए जाते हैं।

अधिकांश मनुष्य जीवन की ऐहलौकिक सफलता के बारे में ही विचार करते हैं और उसी के लिये प्रयत्नशील रहते हैं। कोई अधिक से अधिक धन कमाकर इकट्ठा कर लेने में जीवन का साफल्य मानते हैं, कोई यश-कीर्ति की प्राप्ति में, कोई परिवार की वृद्धि में और कोई अधिकाधिक भोगोपभोगों को भोगने में।

किन्तु ऐसे समस्त व्यक्तियों की दृष्टि में शरीर और उसका सुख मुख्य होता है, तथा इस शरीर में स्थित आत्मा और आत्मा का सुख नगण्य होता है। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि वे शरीर और आत्मा को भिन्न-भिन्न तत्त्व नहीं समझते और शरीर को सुख पहुंचाना ही आत्मा को सुखी करना मानते हैं। किन्तु यह उनकी महा भयंकर भूल है। शरीर तथा आत्मा कभी एक नहीं हो सकते।

विद्वद्वर्य पंडित शोभाचन्द्र जी भारिल्ल ने आत्मा और शरीर का अन्तर बताते हुए कहा है—

सिद्ध विशुद्ध बुद्ध चेतन है सहज सुखों का सागर,
अव्याबाध अरूप निरञ्जन साम्य सुधा का आगर।
सप्त धातु निर्मित काया है, पुद्गल-पिण्ड विनश्वर,
दोनों एक कदापि न होंगे समझ सयाने सत्वर ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पद्य में स्पष्ट कहा गया है कि शरीर आत्मा दोनों भिन्न हैं और वे कदापि एक नहीं हो सकते। आत्मा अथवा चेतन पूर्णतया विशुद्ध, सिद्ध, बुद्ध, अरूपी, निरञ्जन एवं अव्याबाध सुखों का सागर है, शाश्वत है। किन्तु यह शरीर सात धातुओं के संयोग से उत्पन्न हुआ पिंड और नश्वर है, जैसा कि हम सदा देखते हैं।

प्रतिदिन किसी न किसी के लिये कहा जाता है कि 'अमुक व्यक्ति मर गया।' व्यक्ति मर गया से तात्पर्य उसके शरीर के नाश हो जाने से है। आत्मा से नहीं। आत्मा अनश्वर है, जो कि अपने ऊपर लिपटे हुए कर्मों के अनुसार उनका भुगतान करने उच्च या नीच गति में जाता है।

तो शरीर को सुख पहुंचाकर आत्मा को सुखी मानने वाले तथा सांसारिक पदार्थों को इकट्ठा करके उन्हें 'मेरी' कहने वाले महान् भूल करते हैं। शारीरिक सुखों को प्रदान करने वाली वस्तुएँ कभी आत्मा को सुख पहुंचाने में समर्थ नहीं बन सकतीं।

कवि ने आगे यही बात कही है—

हो जल में उत्पन्न जलज ज्यों जल से ही न्यारा है।
त्यों शरीर से भिन्न चेतना को भी निर्धारा है॥
तो दुनिया की अन्य वस्तुएं कैसे होंगी तेरी?
समझ निराले आत्मरूप को मत कह मेरी मेरी॥

—जिस प्रकार जल से उत्पन्न होकर भी कमल जल से ऊपर यानी जल से अलग रहता है, उसी प्रकार शरीर में स्थित चेतना भी शरीर से पूर्णतया भिन्न होती है। अतः हे प्राणी अपने शुद्ध और शाश्वत आत्म-स्वरूप को भली-भांति समझ ले और दुनिया की वस्तुओं को मेरी मानकर उन्हीं में आसक्त मत बन। अगर तू आत्मा और शरीर को भिन्न नहीं समझेगा तो जीवन भर केवल शरीर की खुराक ही जुटाता रह जाएगा तथा आत्मा की खुराक के लिये कुछ भी नहीं कर सकेगा। अतः कवि के अगले शब्दों में सदा इस बात का चिन्तन किया कर—

मैं हूँ सबसे भिन्न अन्य अस्पष्ट निराला,
आत्मीय-सुखसागर में नित रमने वाला।
सब संयोगज भाव दे रहे मुझको धोखा,
हाय न जाना मैंने अपना रूप अनोखा॥

विवेकी पुरुष को चिन्तन करना चाहिये कि—"मैं अर्थात् चेतन, संसार के समस्त पदार्थों से, सब संबंधियों से और इतना ही नहीं बल्कि अपने शरीर से भी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भिन्न और निराला तत्व हूं जो कि आत्मा में रहे हुए शाश्वत सुख के असीम सागर में रमण करता हूँ। यह शरीर और सम्पूर्ण सांसारिक पदार्थ बाह्य हैं जो संयोग के द्वारा प्राप्त होकर अपने प्रबल आकर्षणों से मुझे धोखे में डाले हुए हैं। इनके प्रति मोह और आसक्ति के कारण अब तक मैंने अपना चिदानन्द चेतनमय रूप नहीं पहचान पाया और इस अन्यत्व भावना के अभाव में अनन्त काल से नाना योनियों में भटकता हुआ घोर कष्ट उठाता रहा।"

तो बंधुओ ! मैं आपको यह बता रहा था कि अज्ञानी पुरुष शरीर और आत्मा को एक मानकर धन-वैभव, शारीरिक सुख और कीर्ति-प्रतिष्ठा आदि प्राप्त कर लेने में ही जीवन की सफलता मान लेते हैं। किन्तु ज्ञानी और विवेकी पुरुष ऐसा नहीं करते। वे इस शरीर को पिंजरा और आत्मा को इसमें कैद हंस की उपमा देते हैं। पिंजरा और हंस अलग-अलग होते हैं तथा कभी भी पिंजरे का द्वार खुला पाकर जिस प्रकार हंस उड़ जाता है, उसी प्रकार आत्मा रूपी हंस भी इस शरीर रूपी पिंजरे से अचानक ही निकल जाता है।

कहने का अभिप्राय यही है कि जीवन की सफलता के सम्बन्ध में विचार करते समय हमें पहले ही वह बात भली-भांति जान लेनी चाहिये कि आत्मा अमर है पर जीवन अमर नहीं है। इस जीवन को सुख पहुँचाने के लिये कितने भी प्रयत्न क्यों न किये जायँ वे सब सुख शरीर के साथ ही समाप्त हो जाते हैं। किन्तु अगर हम आत्मा को सुख पहुँचाने का प्रयत्न करें तो वह शाश्वत होगा यानी इस जीवन के बाद भी वह आत्मा को अपना श्रेष्ठ फल प्रदान कर सकेगा ?

अब हमारे सामने प्रश्न यह है आत्मा को सुखमय अर्थात् दुःखमुक्त किस प्रकार किया जा सकता है तथा उसके साधन क्या-क्या हैं।

आत्म-दर्शन

जो मुमुक्षु व्यक्ति अपने जीवन में सफल बनाना चाहता है, वह सर्वप्रथम वीतराग वचनों पर श्रद्धा रखकर तथा सद्गुरुओं के उपदेशों को सुनकर यह विश्वास करता है कि हमारा शरीर और हमारी आत्मा सर्वथा भिन्न है। शरीर के विषय और हैं तथा आत्मा के विषय और हैं, शरीर को सुख पहुँचाने वाले साधन दूसरे हैं तथा आत्मा को सुख पहुँचाने वाले दूसरे।

इस प्रकार जान लेने पर वह आत्म-दर्शन अथवा आत्मा के सही स्वरूप को समझने का प्रयत्न करता है। आत्मद्रष्टा विचार करता है—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अहमिक्को खलु सुद्धो, दंसणणाणमइयो सदारूवी।
ण वि अत्थि मज्झ किंचिवि, अण्णं परमाणुमित्तंपि ॥

—समयसार ३८

अर्थात्—"मैं तो शुद्ध ज्ञान-दर्शन स्वरूप सदाकाल सदाकाल अमूर्त एवं शुद्ध शाश्वत तत्त्व हूँ, परमाणुमात्र भी अन्य द्रव्य मेरा नहीं है।"

वह यह भी विचार करता है—

एगो मे सासदो अप्पा, णाण दंसण लक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा, सव्वे संजोगलक्खणा ॥

—नियमसार ९९

—ज्ञान-दर्शन स्वरूप मेरी आत्मा ही शाश्वत तत्त्व है, इससे भिन्न जितने भी राग-द्वेष, मोह-ममता, लोभ-आसक्ति तथा कषायादि भाव हैं, वे सब संयोगजन्य बाह्यभाव हैं, अतः मेरे नहीं हैं।

इस प्रकार चिंतन करने वाला भव्य प्राणी आत्मा का ज्ञान कर लेता है और जब आत्मा का ज्ञान कर लेता है तो उसे अभी बताए गये विकारी और बाह्य भावों से उदासीन बनाकर ऐसे श्रेष्ठ भाव अपने मानस में पैदा करता है, जिनसे आत्मा कर्म-बन्धनों से रहित होकर अपने शुद्ध एवं पूर्ण ज्योतिर्मान रूप में आ जाय। आत्मा का कर्मों से सर्वथा मुक्त हो जाना ही उसके लिये श्रेष्ठतम एवं सर्वोच्च स्थिति को पा लेना है। कहा भी है—

अप्पो वि य परमप्पो कम्मविमुक्को य होई फुडं।

—आत्मा जब कर्म-मल से मुक्त हो जाता है, तो वह परमात्मा बन जाता है।

तो बंधुओ, आप समझ गये होंगे कि आत्मा को उसके सही स्वरूप में लाने के लिये या परमात्मा बनाने के लिये राग, द्वेष, मोह, आसक्ति आदि समस्त विकारी भावों से दूर रहना अथवा उनका त्याग करना आवश्यक ही नहीं वरन अनिवार्य है। पर इनसे दूर किस प्रकार रहा जाय और कौन से उत्तम गुणों को अपनाकर जीवन को सार्थक बनाया जाय, अब हमें इसी पर विचार करना है। और इसके लिये मैं कुछ मुख्य गुण आपके समक्ष रखूँगा।

कर्म-रत रहना

इस संसार का प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक क्षण कुछ न कुछ करता रहता है। या तो वह शारीरिक श्रम करता है या मानसिक श्रम। अर्थात् अगर वह शरीर से श्रम

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नहीं करेगा तो खाली बैठा हुआ अनेक प्रकार के विचार ही करता रहेगा। पर करेगा अवश्य, अकर्मण्य वह कभी नहीं रह सकता। इसलिये हमें चाहिये कि चाहे हम शारीरिक कर्म करें या मन में विचारों के ताने-बाने बुनें, वे सब ऐसे हों जो अपना उत्तम फल ही प्रदान करें, निकृष्ट नहीं।

इस प्रकार अगर विचार करना है तो हम श्रेष्ठ विचार करें, और कर्म करना है तो श्रेष्ठ कर्म। इस विषय में ध्यान देने की बात एक यह है कि श्रेष्ठ कर्म करने वाला व्यक्ति अपने कर्म से सदा संतुष्ट रहता है तथा उसके फलस्वरूप किसी प्रकार के लाभ की इच्छा नहीं रखता। इसका कारण यही है कि कार्य का फल निश्चय ही किसी भी रूप में मिलता है। हीन-कर्म करने पर उसका हीन फल जिस प्रकार इसी जन्म में या कर्म-बन्धन के परिणाम स्वरूप अगले जन्मों में भी मिलता रहता है। उसी प्रकार उत्तम कर्म का फल भी इसी जन्म में यश-कीर्ति या सराहना के रूप में मिल जाता है, अथवा पुण्य-कर्म संचित होने पर अगले जन्मों में उच्च गति आदि के रूप में मिलता है। अतः कर्म करते समय किसी भी प्रकार की फलाशा नहीं रखनी चाहिये। जब कर्म-फल निश्चय रूप से फल प्रदान करता ही है तो उसके लिये इच्छा रखना अथवा अपने उत्तम फल को प्राप्त करके अपने हृदय में अहंकार को जगाना कहाँ की बुद्धिमानी है? कर्म-फल की आशा रखने पर यहा होता है कि कर्म किया, किन्तु उसके करने पर फल की प्राप्ति न होने से मन में क्षुब्धता, निराशा और कभी-कभी तो क्रोध का भी जन्म हो जाता है। और उसके परिणाम स्वरूप हमें जो उत्तम लाभ मिलना होता है, वह न मिलकर अप्रिय एवं निकृष्ट फल मिलने लग जाता है।

आज का मानव सदा असंतुष्ट और दुखी देखा जाता है। इसका कारण यही है कि उसकी निगाह अपने कर्म के फल की ओर लगी रहती है। उसकी आशा, ध्येय एवं साध्य सभी कुछ फल ही होता है। फल के लिये ही वह कार्य करता है और फल के लिए ही जीता है। इस प्रकार फलाशा ही उसके जीवन में मुख्य होती है और उसके प्राप्त न होने पर वह दुखी होता है। इसलिये गीता में कहा गया है—

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥

—फल की इच्छा छोड़कर निरन्तर कर्तव्यकर्म करो। जो फल की अभिलाषा छोड़कर कर्म करते हैं उन्हें अवश्य मोक्ष-पद प्राप्त होता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

"फलासक्ति छोड़कर कर्म करो," "आशारहित होकर कर्म करो," 'निष्काम होकर कर्म करो" यह गीता की वह ध्वनि है जो कभी भुलायी नहीं जा सकती।

कर्म में फलाशा आसक्ति का कारण होती है। जब तक व्यक्ति को यह आशा लगी रहेगी कि अमुक कार्य से उसे यह लाभ होगा तब तक उसकी आसक्ति उसमें बनी रहेगी। उदाहरण स्वरूप एक माली अपने बगीचे की सार-सम्हाल करता है, दिन-रात उसमें परिश्रम करता है पर वह यह फिक्र नहीं करता है कि उसके बगीचे के वृक्षों में फल और फूल लगा रहे हैं या नहीं। पर वही माली अगर वृक्षों में फलों की आशा करने लग जाता है तो वह आसक्ति कहलाती है। ऐसी आसक्ति ही बन्धन का कारण होती है।

आप अपनी संतान का पालन-पोषण करते हैं, उन्हें पढ़ाते-लिखाते हैं और ब्याह-शादी आदि अपने सभी कर्तव्यों को पूरा करते हैं। किन्तु आप यह आशा रखते हैं कि हमारे पुत्र वृद्धावस्था में हमारी सेवा करेंगे। बस यह सेवा कराने की इच्छा ही फलाशा है। इसी के कारण आपकी बच्चों में आसक्ति होती है। अगर आप सेवा कराने की आशा छोड़ देंगे तो आपकी आसक्ति भी छूट जायगी और पुत्र-पौत्रों का बन्धन आपको बाँधेगा नहीं।

कहने का अभिप्राय यही है कि व्यक्ति अगर अपने जीवन को सफल बनाना चाहता है तो वह निरन्तर कर्म-रत रहे। कर्म से पीछे नहीं हटे और उसके फल की आकांक्षा भी नहीं रखे। प्रत्येक कर्म वह अपना कर्तव्य समझ कर करे, स्वार्थ के वशीभूत होकर नहीं। जिन्होंने गीता को पढ़ा है, वे जानते हैं कि जब अर्जुन ने अपने विपक्ष में अपने ही समस्त बन्धु-बान्धनों को देखा तो वह अत्यन्त दुःखी होकर श्री कृष्ण से बोले—"अपने ही परिजनों की हत्या करके राज्य-सुख भोगने की अपेक्षा तो भिक्षा माँगकर जीवन बिता लिया जाना अधिक अच्छा है।"

इस प्रकार अर्जुन एक तरह से संन्यास लेने को ही तैयार हो गये। किन्तु उस अवसर पर कृष्ण ने उन्हें यही कहा—"तुम्हारा अधिकार केवल कर्म में है उसके फल में नहीं। तुम समत्व भाव से कर्म किये जाओ, यही सत्पुरुष का लक्षण हैं।" गीता की इस वाणी के पीछे महान रहस्य छिपा हुआ है और जो इसकी गहराई में उतर जाता है वह अपने जीवन को निश्चय ही सार्थक कर सकता है। अतः जीवन को सार्थक बनाने वाला सर्वप्रथम गुण सदैव कर्म-रत अथवा कर्तव्य-रत रहना है। ऐसा निरासक्त व्यक्ति कभी भी मोह,ममता और आसक्ति के वश में होकर सन्मार्ग से च्युत नहीं होता।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आत्मविश्वासी बनना

जीवन को सफल बनाने का दूसरा सूत्र है आत्म-विश्वास रखना। उसी व्यक्ति को जीवन में सफलता प्राप्त होती है, जो अपने आप पर पूर्ण विश्वास रखता है। सफलता आत्म-विश्वास की ही देन है। जो अपने पर विश्वास नहीं रखता वह केवल आध्यात्मिक क्षेत्र में ही नहीं, वरन सामाजिक, राजनीतिक एवं व्यवहारिक आदि किसी भी क्षेत्र में सफलीभूत नहीं हो सकता।

आत्मविश्वास संसार की अन्य समस्त पूंजियों से श्रेष्ठ है। क्योंकि अन्य सभी साधन एवं शरीर में शक्ति होते हुए भी अगर व्यक्ति में आत्मविश्वास नहीं है तो वह किसी भी श्रेष्ठ कार्य को सम्पन्न नहीं कर सकता। उदाहरणस्वरूप एक स्वस्थ व शक्तिशाली व्यक्ति सेना में भर्ती हो जाता है। उसे ढाल-तलवार तथा अन्य सभी आवश्यक हथियार दे दिये जाते हैं किन्तु समस्त हथियारों से लैस होकर भी अगर उसमें आत्मविश्वास नहीं है तो क्या वह अपने विरोधियों से लड़कर विजयश्री का वरण कर सकता है ? नहीं, आत्मविश्वास के अभाव में वह अपने साधनों का सही उपयोग भी नहीं कर सकता और पराजय ही उसके पल्ले में पड़ती है। किन्तु इसके विपरीत जिस व्यक्ति में आत्मविश्वास होता है वह उपयुक्त साधनों के अभाव में ही अपने लक्ष्य की प्राप्ति कर लेते हैं।

महाराणा प्रताप के पास उनका किला, उनका चित्तौड़, उनकी सेना और उनके सहायक, कुछ भी नहीं रहे थे। किन्तु साथ था केवल अपने आप पर दृढ़ विश्वास। उसके बल पर ही उन्होंने अपने समस्त अभावों और संकटों पर विजय प्राप्त की।

संसार के अन्य महापुरुषों की जीवनियाँ भी जब हम उठाकर देखते हैं तो स्पष्ट मालूम हो जाता है कि वे जीवनपर्यन्त अपने आप पर दृढ़ विश्वास रखने के कारण ही अपने महत् उद्देश्यों की पूर्ति कर सके और महानता को प्राप्त हुए।

जिसके अन्दर दृढ़ आत्मविश्वास होता है वह व्यक्ति प्रत्येक परिस्थिति में निर्भय रहता है तथा अपने गन्तव्य की ओर बहादुरी से बढ़ता चला जाता है। उसके हृदय-कोष में असम्भव शब्द का कहीं स्थान नहीं होता। ऐसे व्यक्तियों के लिये एक कवि ने कहा है—

गिराए जाएं वो गिरि से या गिरि ही आ गिरे उन पर।
भयानक मौत भी आए तो भय खाया नहीं करते॥
भरोसा है जिन्हें अपने सिदक पर और सत्गुरु पर।
तमन्नाओं में दामन मन का, उलझाया नहीं करते॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कवि का कहना यही है कि अपने गन्तव्य की ओर दृढ़ विश्वास के साथ चलने वाला व्यक्ति अपने आत्मिक बल पर एवं अपने इष्ट पर इतना भरोसा रखता है कि भयानक से भयानक संकट और मृत्यु तक की परवाह न करता हुआ बढ़ता चला जाता है। न वह किसी उपसर्ग से डरता है और न ही किसी प्रलोभन में उलझता है। उसकी दृष्टि केवल अपने लक्ष्य की ओर होती है और उसमें वह अपने आत्म-विश्वास को ही सहायक मानता है।

मंत्री कौन चुना गया ?

एक लघु कथा है। किसी विशाल साम्राज्य के राजा को एक मंत्री की आवश्यकता पड़ी। उसने अपने राज्य के अनेक बुद्धिमान व्यक्तियों को बुलाया तथा उनकी परीक्षा ली।

कई प्रकार से परीक्षा लेने के पश्चात् राजा ने तीन योग्य व्यक्तियों को छांटा और उनमें से भी सर्वश्रेष्ठ एवं बुद्धिमान व्यक्ति को मंत्रिपद के लिये चुनने का निश्चय किया। इस अन्तिम चुनाव के लिये भी उसने पुनः एक परीक्षा लेने का विचार किया। इस परीक्षा के लिये राजा ने जाहिर किया कि तीनों परीक्षार्थियों को अगले दिन एक कमरे में बंद कर दिया जाएगा और उसमें ऐसा अद्भुत ताला होगा जो अन्दर से ही खुल सकेगा पर चाबी से नहीं वरन गणित-विधि से खुलेगा।

मंत्रिपद के उम्मीदवार तीनों व्यक्तियों ने भी इस बात को सुना और उसके परिणामस्वरूप दो तो महान् चिन्ता में पड़ गए और रातभर तालों के विषय में लिखे गए विविध ग्रन्थों को पढ़ते रहे और गणित के नियमों को याद रखने के लिये माथा-पच्ची करते रहे। संपूर्ण रात्रि के जागरण से और मानसिक परिश्रम से उनका दिमाग थक गया, आँखें सूज आईं और चेहरा निस्तेज दिखाई देने लगा।

पर तीसरा व्यक्ति इस बात से पूर्णतया लापरवाह था कि कल ताला कैसे खोला जाएगा। वह रात्रि को पूर्ण शांति से सोया और प्रातःकाल नित्य-कर्मों से निपटकर अपने अन्य दोनों साथियों के साथ राजदरबार की ओर रवाना हो गया।

जैसा कि राजा ने सूचित किया था, उन तीनों मंत्रिपद के उम्मीदवार व्यक्तियों को राज-भवन के एक विशाल कमरे में बंद कर दिया गया। उसके द्वार पर वास्तव में ही ऐसा विचित्र ताला लगा हुआ था जिस पर गणित के कई अंक और आड़ी-टेढ़ी कुछ रेखाएँ थीं, जिन्हें देखकर ही ऐसा लगता था कि यह ताला खोलना बड़ा कठिन कार्य है। ताला बंद करके उन तीनों को यह कह दिया गया कि जो

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

व्यक्ति इस कमरे के ताले को खोलकर सबसे पहले बाहर आ जाएगा, उसे ही राज्य का मंत्री बनाया जाएगा।

इस घोषणा के परिणामस्वरूप रात्रि को पूर्ण जागरण करके नाना पुस्तकों को पढ़ने वाले दोनों व्यक्ति पुनः ताले पर दिये हुये अंकों का अनुसंधान करने के लिये अपनी-अपनी पुस्तकें खोलकर बैठ गए और बड़ी तेजी से पन्ने पर पन्ने उलटने लगे किन्तु उस ताले को खोलने की समस्या उनसे हल नहीं हो पाई और वे चिन्ता के सागर में गोते लगाते हुए कार्य में जुटे रहे।

किन्तु रात भर आनन्द से सोने वाला व्यक्ति कुछ देर तक चुपचाप बैठा रहा, उसने ताले पर अंकित गणित के अंकों को भी नहीं देखा। कुछ समय पश्चात् पूर्ण आत्मविश्वास के साथ उठा और शान्तिपूर्वक धीरे-धीरे कदम बढ़ाता हुआ ताले के पास आया। उसने ताले पर हाथ रखा और उसे थोड़ा घुमाया-फिराया। उसी समय बड़े आश्चर्य से उसने देखा कि ताला खुल गया था।

वास्तव में बात यह थी कि ताला बंद नहीं था, खुला ही था। राजा ने ताले के विषय में जो जाहिर किया था वह केवल यह देखने के लिये कि किस व्यक्ति में दृढ़ आत्मविश्वास है। जिसमें आत्मविश्वास होता है वह किसी भी कठिन परिस्थिति में घबराता नहीं। राज्य का मंत्री भी ऐसा ही होना चाहिये था जो राज्य पर कैसा भी संकट क्यों न आ जाए तनिक भी विचलित न हो और प्रत्येक समस्या का धैर्य-पूर्वक समाधान खोज निकाले।

इसीलिये तीसरे व्यक्ति के आते ही राजा ने उसका सहर्ष स्वागत किया और उसे अपना मंत्री बनाया।

उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है कि आत्मविश्वास एक महान पूंजी है जिसके द्वारा व्यक्ति कठिन से कठिन समस्या का हल भी आसानी से खोज लेता है। आत्म-विश्वास शारीरिक बल की भी अपेक्षा नहीं रखता। प्रायः देखा जाता है कि मोटा-ताजा स्वस्थ व्यक्ति भी आत्मविश्वास के अभाव में अपने किसी भी कार्य को सम्पन्न नहीं कर पाता और कोई दुबला-पतला दो पसली का व्यक्ति अपने विश्वास के बल पर मंजिल पा लेता है। गांधीजी शारीरिक शक्ति के धनी नहीं थे किन्तु उनके हृदय में दृढ़ मनोबल था और उसी के कारण उन्होंने करोड़ों व्यक्तियों को अपने नेतृत्व में चलाया और हिन्दुस्तान को परतंत्रता की बेड़ियों से मुक्त कराकर ही दम लिया।

सारांश यही है कि सफलता के साधनों में आत्मविश्वास का एक बड़ा महत्व-पूर्ण स्थान है और उसके अभाव में किसी भी उद्देश्य को पूर्ण नहीं किया जा सकता।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

स्वावलम्बी होना

जीवन को सफल बनाने में स्वावलम्बन तीसरा एवं अनिवार्य साधन है। जो व्यक्ति अपने बुद्धिबल, मनोबल अथवा शारीरिक बल पर भरोसा न करके दूसरों का मुंह जोहता है अर्थात् दूसरों पर निर्भर रहता है, उसे पग-पग पर तो कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है और अन्त में असफलता ही हाथ लगती है।

स्वावलम्बन व्यक्ति के हृदय में आत्मविश्वास बढ़ाता है, स्फूर्ति प्रदान करता है, उसे कर्मठ बनाता है तथा उसमें शक्ति का संचार करता है। और इसके विपरीत परावलम्बन मनुष्य को अकर्मण्य, डरपोक, प्रमादी तथा कायर बना देता है।

संत तुलसीदास जी ने ठीक ही कहा है—

पराधीन सपनेहु सुख नाहीं।
देखहु कर विचार मन माहीं॥

आशय यही है कि औरों के सहारे की आकांक्षा रखने वाले व्यक्ति की जाग्रत अवस्था का तो कहना ही क्या है, उसे स्वप्न में भी सुख की प्राप्ति नहीं होती। क्योंकि जिस प्रकार खंभे के जरा से जीर्ण होते ही, अथवा उसके हिलते ही छत का अस्तित्व खतरे में पड़ जाता है। उसी प्रकार व्यक्ति जिस पर अवलम्बित होता है, अर्थात् जिसके भरोसे पर रहता, अगर वह व्यक्ति अपने वचन से जरा भी हट जाय तो आश्रित व्यक्ति का जीवन डांवाडोल हो उठता है तथा उसका अस्तित्व खतरे में पड़ जाता है।

जिस व्यक्ति में स्वावलम्बन नहीं होता उसमें स्वाभिमान भी नहीं रह पाता। स्वावलम्बी पुरुष ही अपने गौरव को अक्षुण्ण रख सकता है तथा अपने बल-बूते पर प्रत्येक साध्य की सिद्धि कर सकता। वह न किसी अन्य व्यक्ति के भरोसे रहता है और न ही देव-देव पुकार कर स्वयं को अकर्मण्य बनाता है। कहा भी है—

मूढ़ैः प्रकल्पितं दैवं तत्परास्ते क्षयं गताः।
प्राज्ञस्तु पौरुषार्थेन पदमुत्तमतां गताः॥

अर्थात्—दैव मूर्ख लोगों की कल्पना है। इसके भरोसे रहकर वे नाश को प्राप्त होते हैं। बुद्धिमान लोग पुरुषार्थ करके अपनी उन्नति कर लेते हैं।

तात्पर्य यही है कि व्यक्ति को पुरुषार्थी होना चाहिए। जो पुरुषार्थ में विश्वास रखता है, वह कभी पराधीन होना पसंद नहीं करता। अपने पुरुषार्थ अथवा स्वावलम्बन से जो कार्य सम्पादित होता है उसमें एक विशेष प्रकार के सुख और

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

संतोष का अनुभव होता है। जिस प्रकार एक व्यक्ति को अपने पूर्वजों के धन का उपभोग करने की अपेक्षा स्वयं अपने पुरुषार्थ और श्रम से उपार्जित धन का भोग करने में आनन्द और गौरव का अनुभव होता है।

इसीलिये बुद्धिमान व्यक्ति कभी देव के या औरों के भरोसे पर नहीं रहता तथा कार्य सम्पन्न न होने पर भी भाग्य को दोष देता हुआ कातर नहीं होता। भाग्य के भरोसे पर बैठे रहने वालों को तथा अन्य व्यक्तियों का सहारा ताकने वाले व्यक्तियों को सदा असफलता की प्राप्ति होती है और समय-समय पर रोना पड़ता है अतः ऐसे व्यक्तियों के लिये किसी कवि ने कहा है—

हिम्मत न वीर खो, दिलगीर तू न हो,
तदबीर भी तो कर कुछ तकदीर को न रो।
गैरों को क्या तकता है, क्या कर नहीं सकता है,
तू शक्ति-पुंज होकर मत दीन मित्र हो।

कवि का कथन है—'मित्र ! तू हिम्मत खोकर दिलगीर मत बन तथा तकदीर को रोने की बजाय कुछ तदबीर कर।

भला तू परायों के भरोसे पर क्यों रहता है ? तेरी आत्मा में तो शक्ति का असीम भंडार निहित है अतः उसे पहचान और दीन-हीन बनकर किसी से सहायता की याचना मत कर। तू क्या नहीं कर सकता ? सभी कुछ कर सकता है।

कवि का आशय यही है कि प्रत्येक प्राणी की आत्मा में अनंत शक्ति छिपी हुई है और सांसारिक सफलता की तो बात ही क्या है, वह चाहे तो अपनी आत्म-शक्ति के बल पर सम्पूर्ण कर्मों का नाश करके अपनी आत्मा को परमात्मा भी बना सकता है।

स्वावलम्बन मनुष्य के मन में दृढ़ संकल्प पैदा करता है। इसका कारण यही है कि औरों के द्वारा प्राप्त सहायता तो मिले या न मिले व्यक्ति को अधिक खुशी या अधिक दुःख नहीं होता। किन्तु अपने श्रम का फल अगर उसे न मिले तो वह अधिक संतप्त होता है तथा दुगुने उत्साह से उसे प्राप्त करने में जुट जाता है।

भगवान बुद्ध के विषय में एक लघुकथा बर्मी साहित्य में प्रसिद्ध है कि एक बार वे बोधि की खोज में भटकते-भटकते उसे प्राप्त न कर पाने के कारण अत्यन्त निराश हो गये। गहरी निराशा के परिणाम स्वरूप उन्होंने कपिलवस्तु के राजमहल में पुनः लौटने का निश्चय कर लिया।

लौटते हुए मार्ग में एक झील आई और वे कुछ काल वहाँ विश्राम करने के

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

लिये ठहरे। वहाँ पर उनकी दृष्टि एक गिलहरी पर पड़ी जो कि बार-बार पानी के समीप जाकर उसमें अपनी पूंछ डुबोती थी और फिर किनारे पर आकर रेत में उसे झटक देती थी।

बुद्ध को गिलहरी का यह कृत्य बड़ा आश्चर्यजनक लगा। उन्होंने पूछ लिया "यह क्या कर रही हो तुम ?"

गिलहरी बड़े गर्व से बोली—'इस झील को सुखा रही हूँ।"

"ओह ! यह काम तो तुम हजार वर्ष तक जी कर और प्रतिपल अपनी पूँछ जल में डुबोकर झटकते रहने पर भी सम्पन्न नहीं कर सकोगी। भला यह झील भी तुम्हारी पूँछ से सुखाई जा सकती है ?"

"मैं किसी कार्य को असंभव नहीं मानती अतः जब तक जीऊँगी यही करती रहूंगी।" गिलहरी ने संक्षिप्त उत्तर दिया और अपने काम में लग गई।

गिलहरी की बात से बुद्ध के हृदय में उजाला हो गया और उन्होंने निराशा का त्याग करते-हुए दृढ़ संकल्प किया—

जनन-मरणयोरदृष्टपारो, नाहं कपिलाह्वयं प्रवेष्टा।

अर्थात्—जब तक बोधि प्राप्त करके जन्म-मरण का पार न देख लूँ, मैं भी कपिलवस्तु में प्रवेश नहीं करूँगा।

बंधुओ, यह एक रूपक है पर इस बात को प्रकट करता है कि स्वावलम्बी पुरुष ही दृढ़ संकल्पी बनकर अपने अभीष्ट की प्राप्ति करता है। जिस प्रकार बुद्ध ने अपनी निराशा का त्याग करके दृढ़ संकल्प किया तथा तप में लीन होकर बोधिलाभ करके ही दम लिया।

स्वाध्याय करना

अब हम जीवन को सफल बनाने के चौथे सूत्र स्वाध्याय को लेते हैं। स्वाध्याय मनुष्य को केवल मनुष्य ही नहीं बनाता, अपितु उसे महात्मा और परमात्मा भी बनाता है। अगर हम संसार के महान् पुरुषों की जीवनियाँ उलट कर देखें तो सहज ही जान सकते हैं कि उन पुरुषों को महान बनाने में स्वाध्याय का हाथ ही अधिक रहा है। कहा भी है —

यथा यथा हि पुरुषः शास्त्रं समधिगच्छति।
तथा तथा विजानाति विज्ञानं चास्य रोचते॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मनुष्य जैसे-जैसे शास्त्र का विशेष अध्ययन करता है, वैसे-वैसे उसका ज्ञान बढ़ता है और विज्ञान उज्ज्वल होता है।

महर्षि पातन्जलि ने अष्टांग योग में तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिये जहाँ अन्य साधनों का वर्णन किया है वहां स्वाध्याय को भी बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। उन्होंने कहा है कि स्वाध्याय के द्वारा मनुष्य न केवल अपने को, अपने संबंधित समाज को ही जान सकता है और उसका सुधार कर सकता है, अपितु वह परमतत्त्व भी प्राप्त कर सकता है।

बृहत्कल्पभाष्य में कहा गया है—

न वि अत्थि न वि अ होही, सज्झाय समं तवोकम्मं।

—स्वाध्याय के समान दूसरा तप न कभी अतीत में हुआ है, न वर्तमान में कहीं है और न भविष्य में कभी होगा।

इस प्रकार हमारे यहाँ स्वाध्याय को महान् तप माना गया है। इससे ज्ञान को आच्छादन करने वाले कर्मों का क्षय होता है तथा आत्मा में रहे हुए सम्यक् ज्ञान के प्रकाश में प्राणी मुक्ति के सही मार्ग पर चल सकता है। सद्ग्रन्थ अथवा धर्मशास्त्र इस लोक में चिन्तामणि रत्न के समान हैं। जिनके पठन-पाठन या स्वाध्याय से मन की समस्त दुश्चिन्ताएँ मिट जाती हैं, संशय के भूत भाग जाते हैं और सद्भाव जागृत होकर आत्मा को परम शांति प्रदान करते हैं।

श्री उत्तराध्ययन सूत्र में भी कहा है—

सज्झाए वा निउत्तेण, सव्वदुक्ख विमोक्खणे।

अर्थात्—स्वाध्याय करते रहने से समस्त दुखों से मुक्ति मिल जाती है।

इसलिये प्रत्येक व्यक्ति को अपना मनुष्यजन्म सार्थक करने के लिये सद्ग्रन्थों का स्वाध्याय करना अनिवार्य कृत्य समझना चाहिये। स्वाध्याय की जितनी भी प्रशंसा की जाय, कम है। यह मस्तिष्क की खुराक है। शरीर को स्वच्छ रखने के लिये हम जिस प्रकार पौष्टिक पदार्थ खाते हैं, उसी प्रकार मस्तिष्क एवं मन को श्रेष्ठ एवं सुन्दर विचारों से परिपूर्ण बनाने के लिये स्वाध्याय रूपी पौष्टिक खुराक भी आवश्यक है। स्वाध्याय के अभाव में मानसिक एवं आत्मिक सभी शक्तियाँ दबी रह जाती हैं और उनके विद्यमान होते हुए भी हम उनका लाभ नहीं उठा पाते। स्वाध्याय के अभाव में हम हेय, ज्ञेय और उपादेय के अन्तर को नहीं जान सकते और उसके न जानने से हमें कर्तव्य एवं अकर्तव्य का बोध भी नहीं हो सकता। और स्पष्ट है कि जब तक हमें

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यह बोध नहीं होगा हम सही मार्ग पर चलेंगे भी कैसे ? अतः स्वाध्याय की आदत प्रत्येक मनुष्य की होनी चाहिये ताकि वह अपने जीवन को सर्वश्रेष्ठ तरीके से बिताता हुआ आत्म-कल्याण करने में समर्थ बन सके ।

बंधुओ, आशा है कि आप कर्म-रत रहना, आत्म-विश्वास रखना, स्वावलंबी बनना एवं स्वाध्याय करना, इन चारों महत्वपूर्ण बातों के विषय में जान गए होंगे । ये चारों ही सूत्र मनुष्य के जीवन को सफल बनाने में पूर्णतया सहायक बनते हैं । अगर आप इन्हें जीवन में उतारेंगे तो निश्चय ही इस लोक और परलोक में सुखी बन सकेंगे ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

९ चिन्तन का महत्त्व

धर्मप्रेमी बंधुओ, माताओ एवं बहनो !

आज हमें यह देखना है कि चिन्तन का जीवन पर कैसा प्रभाव पड़ता है। किस प्रकार के चिन्तन से समय का सदुपयोग होता है और किस प्रकार के चिन्तन से समय का दुरुपयोग ?

आप जानते ही हैं कि मनुष्य का मस्तिष्क कभी भी निष्क्रिय नहीं रहता। प्रतिपल वह कुछ न कुछ विचार करता रहता है और कोई न कोई मंसूबा बाँधा करता है। किन्तु कैसे विचारों का जीवन पर सुप्रभाव पड़ता है तथा कैसे विचारों का कुप्रभाव, यही विचारणीय है।

चिन्तन के कारण

मनुष्य के जीवन का अधिकांश समय चिन्तन में जाता है। हम यह भी कह सकते हैं कि वह अपने जीवन का संभवतः नब्बे प्रतिशत समय चिन्तन में गुजारता है और दस प्रतिशत कर्म करने में। वैसे तो कर्म करते समय भी उसका चित्त चिन्तन से रहित नहीं होता। चिन्तन के मुख्य तीन कारण कहे जा सकते हैं—प्रथम तो भूतकालीन घटनाओं के विषय में चिन्तन करना दूसरे वर्तमान काल के विषय में संकल्प-विकल्प करना, तीसरे भविष्य की कल्पनाओं के ताने बाने बुनना।

इन तीनों में से पहला चिन्तन जो भूतकाल को लेकर मनुष्य करता रहता है, वह सम्पूर्ण समय उसका व्यर्थ चला जाता है। क्योंकि बीती हुई बातों पर चिन्तन करना या विगत भूलों के लिये पश्चात्ताप करते रहना समय का दुरुपयोग करना तो है ही साथ ही वर्तमान और भविष्य के लिये हानिकारक भी है। बीता हुआ बीत चुकने

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

के कारण पुनः वापिस तो आता नहीं उलटे उसके लिये पश्चात्ताप करने, चिन्ता करने और कुढ़ने से शरीर क्षीण होता है। भूतकाल से केवल यही शिक्षा ली जा सकती है कि की हुई गलतियों और भूलों को जीवन में पुनः न होने दिया जाय। यह संकल्प ही मनुष्य को अपने जीवन में सफल बना सकता है। एक कहावत भी है—गई सो गई अब राख रही को।'

आशय इसका यही लिया जा सकता है कि जितनी जिन्दगी व्यर्थ चली गई सो तो चली ही गई। उसके लिये पश्चात्ताप मत करो, वरन जो बची हुई है उसे सार्थक बनाने का प्रयत्न करो।

जो व्यक्ति इस बात की गांठ बांध लेता है वह निश्चय ही अपने वर्तमान और भविष्य को सुधार सकता है। प्रायः हम देखते हैं कि अनेक व्यक्ति अपना शैशव तो खेल-कूद में समाप्त करते ही हैं, युवावस्था को भी विषय-भोगों में बिताकर फिर जीवन के अन्तिम समय या कि वृद्धावस्था में घोर पश्चात्ताप करते हैं। वे सोचते हैं

बालवय खेल मांही खोय के जवान भयो,
काम, क्रोध छायो घट, भूल्यो जिनराज ने।
वृद्धवय आइ तब हुवो है निर्बलतन,
घेर लियो सांस खांस, छोड़ी सब लाज ने॥

अर्थात्—बाल्यावस्था तो मैंने खेल-कूद कर गँवादी और जवानी में विषय-भोग तथा राग-द्वेष के वश में रहकर भगवान को भुला रहा। और अब तो ऐसी वृद्धावस्था आ गई है कि शरीर पूर्णतया क्षीण हो गया है और श्वास, खाँसी आदि बीमारियों ने इसे घेर लिया है। अतः अब मैं क्या करूँ। मेरा जीवन ही निरर्थक चला गया।

इस प्रकार पश्चात्ताप करने वाले व्यक्तियों के लिये ही कहा जाता है कि जो बीत गई वह तो गई ही पर अब जितनी बची है उसी को सार्थक करने का प्रयत्न करो। बीते हुए वक्त के लिये दुःख, चिन्ता या पश्चाताप करके जो बचा हुआ जीवन है उसे भी निरर्थक मत गँवाओ।

कहने का आशय यही है कि भूतकालीन घटनाओं के और बीते हुए जीवन के विषय में चिन्तन करके अपने समय को बरबाद नहीं करना चाहिये। भूतकाल के विषय में चिन्तन करना, अपने मन में कूड़े-करकट को जमा रखने के समान है। जमा हुआ कचरा जिस प्रकार घर को श्रीहीन और दुर्गन्धमय बनाए रखता है, उसी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रकार पहले की गलतियाँ और भूलें जब तक स्मरण की जाती हैं और उन पर चिन्तन किया जाता है तब तक वे चित्त को बोझिल और अशुद्ध बनाये रखती हैं अतः प्रत्येक मुमुक्षु को चाहिये कि उन सबको अपने विश्वासी व्यक्ति अथवा गुरु के समक्ष सरलता और सत्यतापूर्वक निकाल देना चाहिये। ऐसा करने पर ही चित्त शुद्ध हो सकेगा तथा उन पर पुनः पुन चिन्तन करके समय को निरर्थक करने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी।

चिन्तन का एक कारण भविष्य के विषय में सोचना भी है। लोग दिन-रात अपने भविष्य के सपने संजोया करते हैं। न जाने कितने पाप करके धन इकट्ठा करते हैं कि भविष्य में उससे सुख हासिल हो। धन किस प्रकार अधिक से अधिक इकट्ठा हो उसके विषय में ही वे अहर्निश सोचते हैं, चिन्तन करते हैं। इसके अलावा अपने पुत्र-पौत्रों के लिये भी अठारहों पापों का सेवन करते हुए अनेकानेक कर्मों का बंधन तो करते ही हैं साथ ही भविष्य के सुनहरे सपने देखने में भी अपने जीवन का बहुमूल्य समय निरर्थक गँवा देते हैं।

ऐसे व्यक्ति यह भूल जाते हैं कि जीवन अमर नहीं है और कभी भी समाप्त हो सकता है। बैठे-बैठे हास-परिहास में निमग्न व्यक्ति हृदय का स्पन्दन रुकते ही क्षण मात्र में लुढ़क जाता है। आज तो वह नाना मनोरथों का सेवन करता है, अगणित व्यवस्थाओं के विषय में चिन्तन करता है कि कल यह करेंगे, महीने भर बाद वह और साल भर बाद कुछ और, किन्तु पल पर में ही वह समस्त संकल्पों से निवृत्त होकर चिर निद्रा में सो जाता है। कहा भी है—

आगाह अपनी मौत से कोई बशर नहीं।
सामान सौ बरस के पल की खबर नहीं॥

अभिप्राय यही है कि मनुष्य भविष्य के लिये कल्पनायें करता है, कामनाओं के अगणित महल बनाता है और मर-मर कर धन इकट्ठा करता है, किन्तु उस धन को भोगने से पूर्व ही और समस्त कल्पनाओं के सत्य होने से पहले ही इस लोक से प्रयाण कर जाता है। जीवन का किंचित् मात्र भी भरोसा नहीं किया जा सकता। काल का आगमन होने पर संसार की कोई भी शक्ति और कोई भी डॉक्टर-वैद्य मनुष्य को उसके चंगुल से नहीं छुड़ा सकता।

इसीलिये भविष्य के लिये चिन्तन करना और उसके लिये विभिन्न पदार्थों का संचय करना वृथा है। ऐसा करना समय को व्यर्थ बरबाद करना है। आशा है अब आप समझ गये होंगे कि भूतकाल के लिये पश्चात्ताप करना और भविष्य के लिये आशायें बाँधना, दोनों ही मानव के लिये समय का दुरुपयोग करना है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वर्तमान का सदुपयोग

हमारे आज के विषय के अनुसार हमें यह देखना है कि चिन्तन का जीवन पर क्या प्रभाव पड़ता है और किस प्रकार के चिन्तन से समय का सदुपयोग होता है।

मनुष्य को सर्व प्रथम यह चाहिये कि वह भूतकाल के लिये अफ़सोस करना और भविष्य के लिये सपने देखना छोड़कर केवल अपने वर्तमान के लिये चिन्तन करे और उसे ही सफल बनाने का प्रयत्न करे।

मनुष्य का वर्तमान तभी सफल हो सकता है जबकि वह अपने जीवन के बीतते हुए प्रत्येक क्षण को सुन्दर बनाने का निश्चय कर ले। उसका मन सदैव इस चिन्तन में रहे कि वह किस प्रकार प्रत्येक पल को दूषित विचारों से तथा दूषित कर्मों से बचाये रख सकता है। दूषित विचार ही दुष्कर्मों को करने में प्रेरणादायक बनते हैं। इसलिये चिन्तन करते समय कुविचारों को पास भी नहीं फटकने देना चाहिये अगर कुविचार दिल और दिमाग में घर कर गए तो मानव का चिंतन कु-कर्मों के लिये हो जाएगा और उसी के अनुरूप वह कार्य करने लगेगा।

मनुष्य के लिये चिन्तन करने का सर्वोत्तम विषय यही होना चाहिये कि वह मानव-जन्म प्राप्त करके किस प्रकार अधिक से अधिक पाप-कर्मों का क्षय करे और पुण्य कर्मों का संचय कर सके। उसे सदा यही विचार करना चाहिये कि यह मनुष्य जन्म अनन्तानन्त पुण्यों के योग से और अनन्त काल तक नाना योनियों में परिभ्रमण करते हुए महान् दुःखों को भोगने के पश्चात् मिला है। और अगर यह व्यर्थ चला गया तो फिर न जाने कब और कितना काल व्यतीत होने पर पुनः मिल सकेगा।

अब प्रश्न यह उठ सकता है कि मानव-जीवन की सार्थकता किसमें है और मनुष्य का क्या उद्देश्य होना चाहिये ?

जीवन के उद्देश्य के सम्बन्ध में लोगों के विभिन्न दृष्टिकोण होते हैं। जो पुद्गलानन्दी और आत्म-तत्त्व के भान से रहित होते हैं वे परलोक नहीं मानते तथा वर्तमान जीवन के साथ ही आत्मा का अन्त समझते हैं। ऐसे व्यक्ति केवल यही चिन्तन करते हैं कि जितना शारीरिक सुख, आनन्द और मौज करना है इसी जीवन में कर लो चाहे ऋण के भार से दब जाओ पर ऋण लेकर ही घी पिओ। उनका यह महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है—

ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।

पर ऐसा मानने वाले घोर अंधेरे में रहते हैं और वे केवल अपने इस जन्म को ही नहीं अपितु आने वाले अनेक जन्मों को भी बिगाड़ लेते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इनके अलावा कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जो अच्छे कार्यों को करके प्रतिष्ठा प्राप्त कर लेने में तथा कीर्ति कमा लेने में जीवन की सफलता मानते हैं। कहा भी है:—

चलं वित्तं चलं चित्तं, चले जीवित यौवने।
चलाचलमिदं सर्वं, कीर्तिर्यस्य स जीवति॥

अर्थात्—धन नश्वर है, चित्त अस्थिर है जीवन और यौवन क्षणभंगुर हैं। इतना ही नहीं, यह संपूर्ण सृष्टि ही अध्रुव है। केवल इस अशाश्वत संसार में जिसकी कीर्ति जीवित है वह मनुष्य जीवित है।

संस्कृत के इस कवि ने जीवन की सफलता के विषय में जो बताया है वह भी गलत नहीं है किन्तु मान-प्रतिष्ठा अथवा कीर्ति प्राप्त कर लेना ही जीवन का उद्देश्य मान लेना और उसे ही जीवन की सफलता समझ लेना काफी नहीं है। हमारा जैनधर्म तो पुकार-पुकार कर यही कहता है कि मानव जीवन का उच्चतम उद्देश्य अखंड और अक्षय शांति तथा अनन्त और अव्याबाध सुख की प्राप्ति करना ही मानव जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य होना चाहिये। इसी प्राप्ति के लिये उसका चिन्तन-मनन, साधना, पुरुषार्थ और प्रयत्न आदि सभी कुछ होने चाहिये। जो भी भव्य प्राणी उस अक्षय सुख की प्राप्ति के लिये जुट जायेगा, कीर्ति तो स्वयं उसके चरण चूमेगी और उसके चाहे बिना भी उसका वरण कर लेगी। कीर्ति तो घास-फूस के समान है। आप जानते हैं कि कोई भी किसान अपने खेत में घास उगाना नहीं चाहता। वह अनाज के लिये बीज बोता है और उसी को पाने के लिये दिन-रात परिश्रम करता है। वह जानता है कि मुझे अनाज प्राप्त करना है और अगर वह मुझे मिल जाता है तो घास तो उसमें से स्वयं ही निकल आएगा।

कीर्ति की इच्छा मत करो

यही हाल कीर्ति का भी है। जो व्यक्ति अपने पापों का क्षय करके अपनी आत्मा को संसार-मुक्त करना चाहता है उसे कीर्ति के लिये परिश्रम करने की आवश्यकता नहीं होती। वह तो स्वयं ही उसे मिल जाती है। वह लोगों के द्वारा वाह-वाही प्राप्त करने की अपेक्षा नहीं रखता। क्योंकि उस वाह-वाही के द्वारा उसकी आत्मा का कल्याण नहीं होता। सिकन्दर ने तलवार के बल पर बड़े भारी साम्राज्य को जीता। उसकी कीर्ति अवश्य जीवित है पर उससे उसकी आत्मा को क्या लाभ हुआ? कुछ भी नहीं। इसी प्रकार बड़े-बड़े कवि और विद्वान अपनी कीर्ति तो इस लोक में छोड़ गये किन्तु उसी को अपना लक्ष्य बना लेने के कारण अपनी आत्मा का कल्याण नहीं कर सके।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

किन्तु जो महामानव, वीतराग-तीर्थंकर आदि अपनी आत्मा को कर्ममुक्त करने का प्रयत्न करते रहे वे मुक्ति के अधिकारी तो बने ही साथ ही अपनी कीर्ति को भी सदा के लिये अमर कर गए। इसीलिये हमारे शास्त्र कहते हैं कि सम्यक्ज्ञान सम्यक्दर्शन एवं सम्यक् चारित्र की आराधना करके अपने जीवन को सफल बनाना चाहिये अर्थात् आत्मा के शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति करनी चाहिये। आत्मा को अपने निज स्वरूप में लाने के लिये ही व्यक्ति का समस्त प्रयत्न एवं चिन्तन-मनन होना चाहिये। ऐसा करने पर ही मानव-जन्म सार्थक हो सकता है।

संस्कृत के एक कवि ने भी कहा है—

आनन्दरूपो निजबोधरूपो, दिव्यस्वरूपो बहुनामरूपः।
तपःसमाधौ कलितो न येन, वृथा गतं तस्य नरस्य जीवितम्॥

अर्थात् - जिस मनुष्य ने तपस्या करके और समाधिभाव धारण करके अपनी आत्मा के अनन्त आनन्दमय रूप को नहीं समझा। जिसने अपने उपयोगमय चेतन स्वरूप को नहीं पहचाना और अपने समस्त पर्यायों से अतीत दिव्यस्वरूप को नहीं जाना तथा उसे प्राप्त करने की चेष्टा नहीं की, उसकी जिन्दगी निरर्थक ही चली गई।

कवि का कथन पूर्णतया सत्य है। समस्त आस्तिकशास्त्र एकमत से इस बात को कहते हैं कि मानव-जीवन का उच्चतम लक्ष्य और उसकी पूर्ण सार्थकता केवल इसी बात में है कि मानव अपने सम्पूर्ण प्रयत्न अखंड और अक्षय शांति तथा अनन्त एवं अव्याबाध सुख की प्राप्ति के लिये करे। उसका सम्पूर्ण चिन्तन एवं पुरुषार्थ आत्म-शुद्धि के लिये ही हो।

चिन्तन का प्रभाव

चिन्तन का जीवन पर बड़ा जबर्दस्त प्रभाव पड़ता है। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि जैसा चिन्तन होता है वैसा ही जीवन बनता है। चिन्तन तो प्रत्येक व्यक्ति हमेशा और हर समय करता ही रहता है किन्तु उसे चिन्तन के पूर्व यह ध्यान रखना आवश्यक है कि उसका चिन्तन शुभ हो। अगर चिन्तन अशुभ होगा तो उसकी समस्त क्रियायें पाप-पूर्ण होंगी और जीवन दोषों से परिपूर्ण बन जाएगा।

प्रश्न हो सकता है कि अशुभचिन्तन किसे कहा जा सकता है और शुभ किसे ?

थोड़े शब्दों में इसका उत्तर यही है कि इहलौकिक सुख, समृद्धि एवं यश-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कीर्ति आदि की प्राप्ति के लिये विचार करना, योजनाएँ बनाना और मंसूबे बांधना अशुभ चिन्तन है। क्योंकि इस प्रकार की समस्त उपलब्धियां प्रथम तो क्षणभंगुर है, दूसरे विभिन्न पापों के द्वारा प्राप्त होने वाली हैं। तो जिन सिद्धियों के लिये नाना प्रकार के मानसिक और शारीरिक पाप किये जायें वे सिद्धियाँ अथवा उपलब्धियाँ आत्मा को अक्षय सुख की प्राप्ति कैसे करा सकती हैं ? उलटे वे आत्मा को पाप-कर्मों के बंधनों से जकड़ देती हैं और फिर आत्मा अनन्त काल तक उनसे छुटकारा प्राप्त नहीं कर पाती। अतः धन, वैभव, पुत्र, पौत्र, ख्याति एवं प्रतिष्ठा आदि के लिये निरंतर सोचना-विचारना अशुभ चिंतन कहा जाता है।

आप जानते ही हैं कि धन इकट्ठा करने के लिये व्यक्ति अनेक प्रकार की बेईमानियाँ करता, झूठ बोलता है और अनीतिपूर्ण कार्य करने में जरा भी संकोच नहीं करता। इसी प्रकार ख्यातिलाभ के लिये अथवा वाह-वाही प्राप्त करने के लिये वह औरों से ईर्ष्या, द्वेष और जलन रखता हुआ उन्हें हीन साबित करने का प्रयत्न करता है। अपने आपको ऊँचा साबित करने की भावना ही क्रोध, कपट और द्वेषादि का कारण बनती है जिससे कर्मों का बंधन होता है और यह सब अशुभ चिन्तन के कारण घटता है।

इसके विपरीत शुभचिन्तन जीवन को त्याग और निरासक्ति के मार्ग पर बढ़ाकर उन्नत बनाता है। शुभ चिन्तन मानव के मस्तिष्क और मन में यह विश्वास जमा देता है कि धन, वैभव, संतान, मान, मर्यादा आदि समस्त सांसारिक उपलब्धियां अशाश्वत हैं और एक दिन इनका वियोग होना है। शुभ चिन्तन मनुष्य को यह भी प्रेरणा देता है कि उन उपलब्धियों के इसके पूर्व कि वे उन्हें छोड़ें अगर वह स्वयं उन्हें छोड़ देता है तो उत्तम है। एक छोटा-सा उदाहरण है—

त्याग करता हूँ !

एक जाट का विवाह किसी सुन्दर लड़की से हुआ। किन्तु विवाह के कुछ समय पश्चात् ही उसे मालूम हो गया कि उसकी पत्नी का शरीर जितना सुन्दर है, मन उतना ही असुन्दर है। अर्थात् वह सच्चरित्र नहीं, वरन दुश्चरित्र है। यह मालूम होते ही अगले दिन प्रातःकाल जबकि उसकी स्त्री पानी भरने के लिये कुए पर गई हुई थी, वह बाहर चबूतरे पर ही एक लाठी लेकर बैठ गया और ज्योंही पत्नी पानी भरकर लौटी जाट ने लाठी के प्रहार से उसके मस्तक पर रखे हुए घड़े को फोड़ दिया और गालियाँ देने लगा। शोरगुल सुनकर मुहल्ले के लोग इकट्ठे हो गए और झगड़े का कारण पूछने लगे।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जाट ने कहा—"यह स्त्री दुश्चरित्र है अतः मेरे कुल और वंश के लायक नहीं। मैं इसका त्याग करता हूँ।"

जाटनी ने जब यह सुना तो यह कह कर रवाना हो गई—"मैं तो स्वयं ही तुम्हारे पास रहना नहीं चाहती थी।"

लोगों ने जब यह सब समझा तो जाट की सूझ-बूझ और उसकी अपने कुल की प्रतिष्ठा के प्रति सजगता की भावना की सराहना करने लगे। किसी-किसी ने तो यह भी कहा—"तुमने बड़ा अच्छा किया जो इसके भाग जाने से पहले ही इसका त्याग कर दिया। अन्यथा न जाने यह तुम्हारा कितना धन-पैसा और चुराकर ले जाती।"

बंधुओ ! जाट की कथा साधारण है किन्तु इससे बड़ी महत्वपूर्ण शिक्षा ली जा सकती है। संसार की धन दौलत एवं भोगोपभोग की सामग्रियां उस जाटनी के समान ही चंचल एवं अस्थिर हैं जिन पर भरोसा नहीं किया जा सकता। यानी आज जिसके पास हैं वे कल किसी और के पास भी चली जा सकती हैं। अतः जो चिन्तनशील और मनस्वी हैं वे उन सबको उनके जाने से पूर्व स्वय ही त्याग देते है। एक बात और ध्यान में देने की है कि जाटनी के लिये जिस प्रकार लोगों ने संभावना व्यक्त की थी कि अगर वह जाट के यहाँ अधिक समय ठहरती तो कुछ न कुछ चुराकर ले ही जाती।

यही हाल सांसारिक उपलब्धियों का है। वे जितने अधिक काल तक मनुष्य के पास रहती हैं, उतनी ही आसक्ति की मात्रा मानव के मन में बढ़ती है और वह आसक्ति धीरे-धीरे मनुष्य के सद्गुणों को तथा सद्विचारों को नष्ट करती रहती है, दूसरे शब्दों में लूटती रहती है। तत्पश्चात् अशुभ कर्मों का संयोग मिलते ही वे उपलब्धियाँ किसी और के पास चल देती हैं किन्तु अपने जाने के साथ-साथ वे मानव के सद्गुणों को और जैसा कि अभी मैंने बताया है, सद्विचारों को भी अपने साथ ले जाती हैं। मनुष्य उनके लिये हाय-हाय करता रह जाता है और आसक्ति-जनित कर्मबंधनों को भुगतने के लिए केवल उसी जन्म में नहीं अपितु अनेक जन्मों तक के लिए बाध्य हो जाता है।

इसलिए विवेकी एवं ज्ञानी पुरुष सांसारिक उपलब्धियों को उनके त्याग जाने से पूर्व ही स्वयं उन्हें त्याग देते हैं। अपनी सम्पूर्ण आसक्ति एवं ममता को नष्ट कर देते हैं। वे सदा यही चिन्तन करते हैं कि "संसार के समस्त संबंध और सम्पूर्ण पदार्थ नश्वर हैं। केवल आत्मा ही अनश्वर है। वे यह भी सोचते हैं कि सांसारिक पदार्थों से प्राप्त होने वाला सुख शाश्वत नहीं सुखाभास मात्र है। सच्चा सुख तो कर्मों से मुक्त होकर आत्मा के शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति कर लेने में है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जो मुमुक्षु मनुष्य सदा इस प्रकार का शुभ चिन्तन करते हैं, वे शनैः शनैः अपनी इन्द्रियों पर और मन पर काबू करने में समर्थ बन जाते हैं। परिणाम यह होता है कि उनका चित्त समाधि भाव धारण कर लेता है। वह न किसी पर राग रखता है और न किसी पर द्वेष। न वह इष्ट-संयोग मिलने पर सुख का अनुभव करता है और न अनिष्ट संयोग मिलने पर दुःख का। इस प्रकार समभाव धारण करने वाला साधक ही अपने कर्मों का नाश करके शाश्वत सुख की प्राप्ति करता है। कहा भी है—

किं तिव्वेण तवेणं, किं जवेणं किं चरित्तेणं।
समयाइ विण मुक्खो, न हु हूओ कह वि न हु होई॥

—सामायिक प्रवचन

अर्थात्—कोई चाहे कितना ही तीव्र तप तपे, जप जपे अथवा मुनि-वेष धारण कर स्थूल क्रियाकाण्डरूप चारित्र पाले; परन्तु समताभावरूप सामायिक के बिना न किसी को मोक्ष हुआ है और न होगा।

तो बंधुओ! समभाव आत्म-साधना का बड़ा महत्त्वपूर्ण अंग है और वह गंभीर तथा शुभ चिन्तन-मनन से ही प्राप्त हो सकता है। अतः प्रत्येक साधक को ही नहीं अपितु प्रत्येक मनस्वी को जीवन में जितना संभव हो उतना समय शुभ चिन्तन में लगाना चाहिए। शुभ चिन्तन के द्वारा ही वह अपने मानव जन्म के सर्वोच्च लक्ष्य-मुक्ति को प्राप्त कर सकता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

१० | चिन्तामणि रत्न-चरित्र

धर्मप्रेमी बंधुओ, माताओ एवं बहनो !

आज हमें यह देखना है कि चरित्र का निर्माण किस प्रकार होता है ? मानव के जीवन को उसका चरित्र ही सुन्दर या असुन्दर बनाता है। अगर उसका चरित्र उत्तम और सद्गुणों से युक्त है तो वह सच्चरित्र कहलाएगा तथा अवगुणों से पूर्ण चरित्र के होने पर दुश्चरित्र कहलाने लगेगा। संक्षेप में चरित्र ही मनुष्य को सज्जन अथवा दुर्जन बनाता है।

अगर हम विश्व के महापुरुषों की जीवनियां उठाकर देखें तो सहज ही ज्ञात हो जाता है कि उनकी महानता की आधारशिला उनका चरित्र ही रहा है। भले ही उनका पार्थिव शरीर इस संसार में नहीं रहा किन्तु चारित्रिक प्रतिभा सदैव के लिये लोगों का मार्ग-दर्शक बन गई है। चरित्रवान् पुरुष के जीवन में ऐसी आकर्षण शक्ति होती है जो कि अन्य अनेकानेक व्यक्तियों के जीवन की उलटी धारा को भी सही दिशा में प्रवाहित कर देती है। अतः कोई भी व्यक्ति अगर अपने जीवन को उन्नत बनाता है और अपनी आत्मा को शुद्धि की ओर ले जाना चाहता है तो उसे प्रतिपल, और प्रतिकदम पर अपने आचरण का ध्यान रखना पड़ेगा। ऐसा करने पर ही वह स्वयं मानव-जन्म के सर्वोच्च लक्ष्य की ओर बढ़ेगा तथा अन्य प्राणियों को भी कुपथ से सत्पथ पर ला सकेगा।

एक पाश्चात्य दार्शनिक 'बर्टल' ने कहा भी है:—

'Character is a diamond that scratches every other stones.'

—चरित्र एक ऐसा हीरा है जो हर किसी पत्थर को घिस सकता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

महात्मा गांधी ने भी एक स्थान पर लिखा है—'चरित्र रूपी सम्पत्ति दुनिया की तमाम दौलतों से बढ़कर है।' इस तथ्यपूर्ण कथन पर हम गहराई से विचार करें तो वास्तव में ही सच्चाई के समीप पहुंच सकते हैं। चरित्र की महानता का वर्णन शब्दों से नहीं किया जा सकता और इसीलिये केवल यही कहा जाता है कि अगर धन चला जाए तो समझो कुछ नहीं गया है, स्वास्थ्य चला जाय तो समझो कुछ हानि हुई है, पर यदि चरित्र चला जाय तो समझो कि सर्वस्व ही लुट गया है।

चरित्र निर्माण कैसे हो ?

अनेक व्यक्ति आचरण का संबंध केवल शारीरिक क्रियाओं से ही मानते हैं। वे समझते हैं कि शरीर से पापपूर्ण क्रियायें न करके सेवा, परोपकार, दान, एवं ईश्वर की पूजा-अर्चना आदि कर लेना ही सदाचरण है। पर यह बात पूर्णतया सत्य नहीं है। यद्यपि ये सब कार्य भी चरित्र के अंग हैं किन्तु उसे पूर्णता प्रदान नहीं कर सकते। चरित्र-निर्माण के लिये तो मानव को मनसा, वाचा एवं कर्मणा प्रयत्नशील बनना चाहिये।

वैसे तो मन वचन एवं कर्म, ये तीनों ही मनुष्य के द्वारा किये जाने वाले प्रत्येक शुभ और अशुभ कार्य के लिए जिम्मेदार होते हैं। किन्तु इन तीनों में से भी अधिक शक्तिशाली है मन।

किसी संस्कृत के विद्वान का कथन है—

मनसैव कृतं पाप न वाच्या न कर्मणा।
येनैवालिंगिता कान्ता तेनैवालिंगिता सुता॥

अर्थात्—मन के भाव से ही पाप माना जाता है, वचन या कर्म से नहीं। पत्नी और पुत्री के आलिंगन में भाव की ही भिन्नता है।

कहने का आशय यही है कि सच्चरित्रता की कुंजी वास्तव में मन है। अतः मन में कभी कुविचारों को पनपने नहीं देना चाहिये। अगर मन में बुरे विचार आते हैं तो वचन और शरीर को भी वे गलत दिशा में प्रवृत्त कर देते हैं। दूसरे शब्दों में इन्द्रियाँ मन के द्वारा ही चलाई जाती हैं, वे मन की चेरी हैं। इसलिये चरित्र-निर्माण के इच्छुक व्यक्ति को अपना मनोयोग संतुलित करना चाहिये।

दूसरा है वचनयोग। वचनयोग यानी वाणी। यह भी चरित्र-निर्माण में सहायक बनती है। वाणी का महत्त्व भी कम नहीं है। एक उर्दू के कवि ने कहा है—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

गैर अपने होंगे शीरीं हो गर अपनी जबां।
दोस्त हो जाते हैं दुश्मन, तलख हो जिसकी ज़बां॥

अगर व्यक्ति मृदुभाषी है तो पराये व्यक्ति भी उसके अपने यानी मित्र बन जाते हैं और अगर उसकी वाणी में कटुता है तो उसके दोस्त भी दुश्मन हो जाते हैं।

वस्तुतः वाणी में बड़ी शक्ति है और वह मानव के चरित्र-निर्माण में बड़ा भाग लेती है। वाणी के लिये तो यहाँ तक कहा जाता है कि यदि बारह वर्ष तक कोई व्यक्ति सत्य बोले तो उसे वाक्-सिद्धि हो जाती है अर्थात् वह जो कुछ कह देता है वह हो जाता है। तात्पर्य यही है कि प्रत्येक मानव को अपनी वाणी पर पूर्ण अधिकार रखना चाहिए तथा निरर्थक प्रलाप, कटूक्ति अथवा असत्य भाषण से अपने आप को बचाना चाहिये। सच्चरित्रता के लिये वाणी पर अंकुश होना नितांत आवश्यक है। एक विद्वान 'साइरस' ने अपने अनुभवों का वर्णन करते हुए कहा था—"मुझे कभी इसका खेद नहीं हुआ कि मैं मौन क्यों रहा किन्तु इसका खेद अनेकों बार हुआ है कि मैं बोल क्यों पड़ा।" ऐसे कथनों से स्पष्ट होता है कि महा-पुरुष अपनी वाणी को पूर्णतया अपने वश में रखने का प्रयत्न करते हैं और इसीलिये उनका चरित्र सच्चरित्र कहलाता हुआ लोगों के लिये अनुकरणीय बनता है।

चरित्र को बनाने वाला तीसरा योग कर्म है। इसके विषय में तो अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि सभी जानते हैं बुरे कामों का नतीजा बुरा ही होता है। मनुष्य की महानता इसी में है कि वह अपना बुरा करने वाले का भी भला करे। ईंट का जवाब पत्थर से देने में कोई बहादुरी नहीं है, बहादुरी इसी में है कि व्यक्ति किसी के द्वारा किये गए अहित को भी भूल जाय, समभाव से उसे सहन करे और बदले में उसका हित करे। ऐसा करने पर ही वह नवीन कर्मों के बंधन से बचता है तथा पूर्व कर्म क्षीण होते हैं।

'सूत्रकृतांग' में कहा गया है—

तुट्टंति पावकम्माणि, नवं कम्ममकुव्वओ।

—जो नए कर्मों का बंधन नहीं करता है, उसके पूर्वबद्ध पापकर्म भी नष्ट हो जाते हैं।

इसीलिये विवेकी पुरुष भूतकाल की चिंता न करते हुए, और भविष्य का विश्वास न रखते हुए अपने वर्तमान को ही सुन्दर बनाने का प्रयत्न करते हैं और वह प्रयत्न है फलासक्ति की आशा से रहित निष्काम कर्म करना।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य चाणक्य ने भी कहा है—

कर्मायत्तं फलं पुंसां बुद्धिः कर्मानुसारिणी ।
तथापि सुधियश्चार्याः सुविचार्यैव कुर्वते ॥

अर्थात्—फल मनुष्य के कर्म के अधीन है, बुद्धि कर्म के अनुसार आगे बढ़ने वाली है, तथापि विद्वान् और महात्मा पुरुष भली-भांति विचार कर ही कोई कर्म करते हैं ।

इस प्रकार महापुरुष मन, वचन एवं कर्म, इन तीनों को साधकर पापों से बचते हैं और जब ये तीनों योग उनके वश में रहते हैं तो स्वतः ही उनका चरित्र दृढ़ बन जाता है । चरित्रवान् पुरुषों की सबसे बड़ी विशेषता तो यह है कि वे कभी औरों के दोष नहीं देखते अपितु सदा अपनी कमियों को ढूंढ़ने का प्रयत्न करते हैं और उनके निवारण की कोशिश करते हैं ।

महात्मा कबीर के शब्दों में वे यही अनुभव करते हैं—

बुरा जो देखन मैं चला, बुरा न दीखा कोय ।
जो दिल खोजा आपना, मुझसा बुरा न कोय ॥

ऐसे पर-गुण एवं स्व-दोषदर्शी महामानव ही आत्म-मुक्ति के पथ पर स्वयं अग्रसर होते हैं, औरों के लिये मार्गदर्शक बनते हैं तथा अपने उत्तम चरित्र को आदर्श के रूप में संसार के समक्ष सदा के लिये छोड़ जाते हैं । ऐसे भव्य जन विश्व के समस्त प्राणियों को चाहे वह मनुष्य हो, पशु-पक्षी या छोटे से छोटा कीट-पतंग हो, सभी को प्यार करते हैं तथा बदले में उनका प्यार प्राप्त करते हैं । इतना ही नहीं, वे सांसारिक प्राणियों का स्नेह तो प्राप्त करते ही हैं, ईश्वर के भी प्रिय बन जाते हैं । कवि सुन्दरदास जी ने अपने एक भजन में भी यही कहा है—

ऐसो जन रामजी को भावे हो ।
कनक कामिनी परिहरै नहिं आप बंधावे हो ।

यानी प्रभु को भी ऐसे व्यक्ति ही प्रिय लगते हैं जो सोना-चाँदी, धन-वैभव, पत्नी तथा पुत्रादि के प्रति तनिक भी मोह, ममता या आसक्ति नहीं रखते । अपने परिवार के प्रति रहे हुए ममत्व को वे विश्व के समस्त प्राणियों में बाँट देते हैं । धन-दौलत का त्याग करके फकीरी धारण कर लेते हैं और इस प्रकार स्वयं किसी के बन्धन में न बँधते हुए सर्वस्व का त्याग करके निरासक्त भाव धारण कर लेते हैं । आगे कहा है—

सब ही तें निरवैरता काहू न दुखावै हो ।
शीतल वाणी बोल के अमृत बरसावै हो ॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चरित्रवान् सत्पुरुष कभी स्वप्न में भी किसी का दिल नहीं दुखाते अतः किसी का उनके प्रति भी वैर-भाव नहीं रहता। वे सदा अपनी मधुर वाणी से दुखी एवं संतप्त प्राणियों के हृदयों पर स्नेह एवं सहानुभूति का मरहम रखते हैं। वे कभी भी पापमय, कर्कश और पीड़ाजनक भाषा का प्रयोग नहीं करते वरन् भली-भांति समझ-बूझकर हित, मित, सत्य और पथ्य भाषा का ही प्रयोग करते हैं। वे प्रतिक्षण इस बात का ध्यान रखते हैं—

जिह्वाया खण्डनं नास्ति, तालुको नैव भिद्यते।
अक्षरस्य क्षयो नास्ति, वचने का दरिद्रता ?

कहते हैं कि मधुर भाषण करने से जिह्वा कटती नहीं तालु भी नहीं भिदता और कोमल शब्दों की कमी भी नहीं है, विशाल भंडार भरा हुआ है। फिर मधुर शब्द बोलने में दरिद्रता क्यों दिखाई जाय ?

इस प्रकार सज्जन पुरुष कभी किसी को रंचमात्र भी दुःख नहीं पहुंचाते, उलटे अपने मधुर एवं अमृतमय शब्दों से दुखी प्राणियों को सुख पहुँचाने का प्रयत्न करते हैं। उनके विषय में आगे कहा है—

कै तो मुनि होय रहै कै हरि गुण गावै हो।
भरम-कथा संसार की सब दूर भगावै हो॥

कहा गया है कि या तो वे अपना सब कुछ त्यागकर मुनि बन जाते हैं और वन में जाकर तपादि साधना करते हैं। पर अगर यह संभव नहीं होता तो घर में रहकर भी निरासक्त भाव से सांसारिक कर्तव्यों को पूरा करते हुए भगवान के भजन में निमग्न रहते हैं। सांसारिक छल-प्रपंच से वे दूर रहते हैं तथा विकथा का सर्वथा त्याग करके आत्माभिमुख होने का प्रयत्न करते हैं।

आगे कहा है—

पांचूं इन्द्री बस करै, मन ही मन लावै हो।
काम क्रोध मद लोभ को, खिण खोद बधावै हो॥

साधु पुरुष अपनी पांचों इन्द्रियों पर और मन पर पूर्ण अंकुश रखते हैं तथा क्रोध, मान, माया एवं लोभादि कषायों को तथा काम वासनाओं को जड़ मूल से उखाड़ कर फेंक देते हैं। उन्हें पूर्ण विश्वास होता है कि इन सब विकारों के रहते हुए सच्चा सुख जो कि आत्मोत्पन्न होता है, कभी हासिल नहीं हो सकता। जब तक मन में विषय-विकार बने रहते हैं तब तक वह संसार के बाह्य पदार्थों से सुख-प्राप्ति की कामना करता है और उन कामनाओं के विद्यमान रहने पर मन में विरक्ति जाग्रत

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

नहीं होती। भोग और योग दोनों एक दूसरे से पूर्णतया विपरीत होते हैं। एक पूर्व है और दूसरा पश्चिम। अतः स्पष्ट है कि दोनों का कभी और कहीं भी मेल नहीं हो सकता। इसलिये साधु पुरुष जो मुक्ति के इच्छुक होते हैं, वे संसार के प्रति आसक्ति नहीं रखते। उनका हृदय समभाव से परिपूर्ण होता है। न किसी के प्रति उनका विशेष राग होता है और न किसी के प्रति द्वेष। दुश्मनों के प्रति भी वे दया भाव रखते हैं तथा उनकी कल्याण-कामना करते हैं। एक उदाहरण है।

नाव नहीं, बुद्धि उलटो !

एक बार एक सन्त अनेक यात्रियों के साथ किसी नदी को पार करने के लिये नाव में बैठे। नाव नदी के वक्ष को चीरती हुई ज्योंही आगे बढ़ी, कुछ दुष्ट व्यक्ति परस्पर एक दूसरे से अश्लील मजाकें और गंदी-गंदी असभ्यतापूर्ण बातें करने लगे। यह देखकर संत ने उन व्यक्तियों को समझाते हुए कहा—"भाइयो ! चार व्यक्तियों के बीच में बैठकर इस प्रकार की बातें नहीं करनी चाहिये। वार्तालाप ही करना है तो अच्छी बातें करो। देखो ! तुम्हारी इन घृणित बातों को सुनकर नाव पर बैठे हुए अन्य समस्त व्यक्ति भी शर्मिन्दगी महसूस कर रहे हैं।

किन्तु संत की नसीहत का प्रभाव उलटा हुआ और वे व्यक्ति आगबबूला हो गए। क्रोध में आकर उन लोगों ने संत को गालियाँ देना प्रारम्भ कर दिया और उससे भी संतोष न हुआ तो घूसों से, लातों से और जूतों से प्रहार करने लगे। किसी ने ठीक ही कहा है—

शिक्षा वाको दीजिये, जाको सीख सोहाय।
सीख न दीजे बांदरा, आपन हानि कराय॥

तो संत को भी दुष्ट व्यक्तियों को सीख देने के परिणामस्वरूप मार खानी पड़ गई। किन्तु उन्होंने रंचमात्र भी विरोध नहीं किया और ध्यानस्थ होकर बैठ गए।

उसी समय आकाशवाणी हुई—"भंते ! आप कहें तो इसी क्षण इन दुष्टों को इनकी करतूतों का फल चखाने के लिये नाव को उलट दूं।"

आकाशवाणी सुनते ही नाव पर बैठे हुए समस्त यात्री काँप उठे और वे दुष्ट संत के पैरों पर गिर कर अपने अपराधों के लिये क्षमा माँगने लगे।

आकाशवाणी पुनः हुई—"महात्मन् ! बताइये क्या इन नीच व्यक्तियों को नसीहत देने के लिये नाव को उलट दिया जाय ?"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आकाशवाणी सुनकर संत ने अपना ध्यान समाप्त किया और आँखें खोलकर ऊपर की ओर दृष्टि करके बोले—"नहीं, नाव को उलटने से क्या लाभ होगा ? व्यर्थ ही अनेक जानें जायेंगी। हाँ, अगर उलटना ही है तो इन सब व्यक्तियों की बुद्धि को उलट दो।"

ऐसा होता है संत पुरुषों का चारित्र। वे न क्रोध को अपने हृदय में स्थान देते हैं और न बदले की भावना को। अपने अपकारी का भी वे उपकार करते हैं। पर यह शक्ति उन्हें तभी प्राप्त होती है जबकि वे मन और इन्द्रियों पर पूर्ण प्रभुत्व स्थापित कर लेते हैं।

आगे कहा गया है—

चौथे पद को चीह्न के वहां जाय समावे हो।
सुंदर ऐसे साधु के ढिग काल न आवे हो॥

चारित्र बल के धनी साधु पुरुषों के लिये अन्त में कवि सुन्दरदास जी ने कहा है कि उनके समक्ष काल भी आने से हिचकिचाता है और दूर ही रहता है। इनका अभिप्राय यह नहीं है कि वे इस संसार में मानव देह के साथ ही सदा जीवित रहते हैं, उनका आशय यह है कि सम्यक् ज्ञान, दर्शन एवं चरित्र की आराधना करने वाले साधक इस नश्वर देह का त्याग करके भी संसार में अपनी कीर्ति के द्वारा अमर रहते हैं और जन्म-मरण के दुखों से सर्वदा के लिये मुक्त होकर काल को पराजित कर देते हैं।

यह प्रभाव चारित्र का ही होता है। चारित्र के अभाव में श्रद्धा और ज्ञान भी फलदायक नहीं बन पाते। ज्ञान और दर्शन का प्रयोग चारित्र के रूप में महापुरुष करते हैं। चारित्र ही इन दोनों की सच्ची कसौटी भी कहा जा सकता है क्योंकि चारित्र की उच्चता के द्वारा ही इनकी सही परख होती है। चारित्र की उच्चता जीवन को सफल बनाती है और इसकी निकृष्टता जीवन को असफल। चारित्र को दृढ़ और उच्च बनाने में यद्यपि व्यक्ति को अनेक कष्ट उठाने पड़ते हैं, किन्तु जिस प्रकार सोना तपाये जाने पर शुद्ध, निर्मल और चमकदार हो जाता है, उसी प्रकार विवेकी पुरुष महान कष्ट सह लेने के बाद चारित्रवान और प्रतिभावान बनता है।

चारित्रवान बनना सरल नहीं अपितु अत्यन्त कठिन है। अनेक व्यक्ति महा विद्वान होते हैं। न जाने कितनी पुस्तकें उन्हें कंठस्थ होती हैं और कितनी ही भाषाओं के वे अधिकारी होते हैं। फिर भी यह आवश्यक नहीं है कि चरित्रवान भी होते हैं। कभी-कभी देखा जाता है कि बड़े-बड़े ज्ञानी और विद्वान भी चारित्र की दृष्टि से तो शून्य होते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ऐसे व्यक्तियों के लिये एक स्थान पर महात्मा गांधी ने कहा हैं—

"सच्चरित्रता के अभाव में केवल बौद्धिक ज्ञान सुगन्धित शव के समान है।"

किसी कवि ने कहा है—

मतिमान् हुए, धृतिमान हुए, गुणवान् हुए बहु खा गुरु लातें,
इतिहास भूगोल खगोल पढ़े नित गान रसायन में कटीं रातें।
रंस पिंगल भूषण भावभरी गुण सीख गुणी कविता करी बातें,
यदि मित्र, चरित्र न चारु हुआ धिक्कार है सब चतुराई की बातें॥

बंधुओ ! आप समझ गए होंगे कि सदाचार के अभाव में जिस प्रकार धन-सम्पत्ति का कोई मूल्य नहीं है, उसी प्रकार ज्ञान और विज्ञान का भी कोई महत्व नहीं है।

यद्यपि विश्व के सभी सम्प्रदाय, पंथ, मत और धर्म वस्तु के स्वरूप को ठीक-ठीक समझने के लिये ज्ञान की अनिवार्य आवश्यकता मानते हैं किन्तु उस ज्ञान का फल चरित्र है, और अगर ज्ञान से चरित्र की प्राप्ति न हो तो वह सर्वथा निरर्थक है। संसार में जितने भी महापुरुष हुए हैं वे अपने उत्तम चरित्र के द्वारा ही अपनी आत्मा को उन्नत बना सके हैं तथा कर्म-बन्धनों से मुक्त होकर संसार से छुटकारा प्राप्त कर सके हैं। इसीलिये कवि ने कहा है कि कोई व्यक्ति इतिहास, भूगोल, खगोल, न्याय आदि सभी कुछ रात-रात भर जागकर पढ़ ले और उनमें पारंगत होकर बृहस्पति का अवतार बन जाए, रस, अलंकार एवं छन्दों का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त करके बड़ी सुन्दर और भावभरी कविताएँ भी लिखें, किन्तु अगर उसका चरित्र दृढ़ और उत्तम नहीं है तो उसका सम्पूर्ण ज्ञान और चतुराई व्यर्थ है।

जिस प्रकार औषधि शरीर की व्याधियों को नष्ट करती है, उसी प्रकार सदाचार आत्मा के रोगों को नष्ट करके उसे शुद्ध बनाता है। इसीलिये हमारे शास्त्रों में आचरण अथवा चरित्र की महिमा मुक्तकंठ से गाई गई है।

'सूयगडांग सूत्र' में कहा गया है—

अभविंसु पुरा वि भिक्खवो, आएसा वि भवंति सुव्वया।
एयाइं गुणाइं आहुते, कासवस्स अणुधम्मचारिणो॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात्—जो जिनेश्वर पहले हो चुके हैं वे सब सुव्रती यानी सदाचारी थे और जो भविष्य में होंगे वे भी चरित्र के बल पर जिनेश्वर होंगे। जिनेश्वर सद्गुणों का उपदेश देते रहे, क्योंकि वे काश्यप भगवान महावीर स्वामी के धर्म का आचरण करते थे।

स्पष्ट है कि निर्मल और दृढ़ चरित्र के अभाव में ज्ञान का होना भी न होने के समान है। कहा भी है—'ज्ञानं भारं क्रियां बिना' क्रिया के अभाव में ज्ञान केवल बोझ है। जिस प्रकार फल न देने वाला वृक्ष लाभहीन साबित होता है, उसी प्रकार चरित्र रूपी फल न देने वाला यानी चरित्र का विकास और पोषण न करने वाला ज्ञान भी अर्थहीन माना जाता है। ज्ञान की सार्थकता चरित्र की प्राप्ति में ही है और सच्चा ज्ञानी वही है जो अपने ज्ञान से अपने चरित्र को दृढ़ एवं शुद्ध बनाता है। जो व्यक्ति अपने ज्ञान को आचरण में न उतारकर भी यह समझ लेता है कि ज्ञान से हमें कर्मों से मुक्ति मिल जाएगी और हमारी आत्मा का कल्याण हो जाएगा, वह भ्रम में रहता है। जबकि उसका ज्ञान उसे किसी भी उत्तम फल की प्राप्ति नहीं करा पाता।

इसलिये बन्धुओ, हमें ज्ञान-प्राप्ति के साथ ही साथ चरित्र की प्राप्ति भी करनी चाहिए और इसके लिये मन, वचन तथा कर्म, इन तीनों पर पूर्ण अंकुश रखते हुए अपने जीवन के प्रत्येक कार्य को निर्दोष बनाना चाहिये। हमें अपने जीवन की छोटी से छोटी क्रिया की भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये क्योंकि उन सभी के द्वारा चरित्र का निर्माण होता है। बालू के एक-एक कण से पर्वत का निर्माण होता है और एक-एक क्षण से युग निर्मित हो जाते हैं। इसी प्रकार छोटी-छोटी बातों से ही चरित्र बनता है। चरित्र का क्षेत्र बड़ा व्यापक है। वह जहाँ व्यक्ति के लिये कल्याणकर है, वहाँ समाज, जाति और देश को भी गौरवान्वित करने वाला है। सदाचार के सिद्धान्त प्रत्येक वर्ण, प्रत्येक वर्ग और प्रत्येक समाज के लिये लागू होते हैं। भले ही कोई व्यक्ति शिक्षक हो, कोई सैनिक हो, कोई व्यापारी हो या कोई सरकारी पदाधिकारी अथवा डॉक्टर-वैद्य हो, सभी के लिये सदाचार की मर्यादाएं हैं और उन्हें अपने-अपने क्षेत्र के अनुसार उनका पालन करना चाहिये। अपनी-अपनी मर्यादा के अनुसार कर्तव्य का पालन करने वाला व्यक्ति निश्चय ही सदाचारी कहलाता है। गृहस्थ अपने जीवन को मर्यादा में रखता है तो वह चरित्रवान है और साधु अगर अपनी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मर्यादाओं का पालन करता हैं तो वह भी आचरणशील माना जाता है। दोनों ही अपने-अपने स्थान पर महत्वपूर्ण हैं। यद्यपि आत्म-मुक्ति पूर्ण चरित्र का पालन करने पर ही हो सकती है किन्तु गृहस्थ भी सदाचार का पालन करके सत्पथगामी कहलाता है।

इसीलिये प्रत्येक व्यक्ति को अपने चरित्र के प्रतिपल सजग रहना चाहिये तथा चरित्र-निर्माण को जीवन का लक्ष्य बनाकर आत्म-कल्याण के पथ पर अग्रसर होना चाहिये। तभी उसे इहलोक और परलोक में भी सुख की प्राप्ति हो सकेगी।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

११ | आत्मा की विभिन्न अवस्थाएँ

धर्मप्रेमी बंधुओ, माताओ एवं बहनो !

आज हम आत्मा की विभिन्न अवस्थाओं पर विचार करेंगे तथा देखेंगे कि आत्मा किस प्रकार परमात्मा बनती है।

विश्व के अनेक ईश्वरवादी दर्शन यह कहते हैं कि आत्मा और परमात्मा मौलिक रूप में पृथक्-पृथक् हैं। परमात्मा अनादिकाल से परमात्मा है, वह कभी दोषयुक्त था ही नहीं अतः उसे परमात्मा बनने के लिये कुछ भी साधना नहीं करनी पड़ी। वह परमात्मा एक ही है क्योंकि कोई भी आत्मा कितनी भी साधना करे वह परमात्मपद को प्राप्त नहीं करती। परमात्मा तो अद्वितीय और नित्यमुक्त है तथा सृष्टि का विधाता है। उनका कथन है कि आत्मा साधना करने पर मुक्तात्मा तो बन सकती है किन्तु परमात्मा कभी नहीं बनती।

यह तो हुआ अन्य अनेक दर्शनों का मत, किन्तु हमारे जैनदर्शन की मान्यता ऐसी नहीं है। यह परमात्मा के अनादित्व को नहीं मानता वरन कहता है कि कोई भी आत्मा बिना प्रयास और साधना के विशुद्ध नहीं हो सकती और जब तक वह शुद्ध नहीं होती परमात्म-दशा में नहीं पहुँच सकती। आत्मा और परमात्मा में मौलिक भेद मानना ठीक नहीं है क्योंकि पदार्थों में भेद उनके गुणों की विभिन्नता से माना जाता है और इस आधार पर विचार किया जाय तो प्रतीत होता है कि ईश्वर और आत्मा के गुण सर्वथा भिन्न नहीं हैं। जिस प्रकार ईश्वर सच्चिदानन्द स्वरूपवाला है उसी प्रकार आत्मा भी है। ईश्वर में पाये जाने वाले सत्, चित् और आनन्द ये तीनों गुण अगर आत्मा में न होते तो दोनों में भेद माना जा सकता था किन्तु आत्मा में भी ये तीनों विद्यमान हैं अतः आत्मा और परमात्मा को अथवा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आत्मा और ईश्वर को भिन्न-भिन्न नहीं कहा जा सकता। हाँ, भिन्नता अगर है तो वह तरतमता की अवश्य है। ईश्वर अथवा परमात्मा की चेतना सर्वोत्कृष्ट कोटि की है और उसका विकास चरम सीमा तक का है तथा आत्मा अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन एवं अनन्त आनन्द स्वभाव वाली होने पर भी कर्मों के संयोग से बोझिल और उनके द्वारा आच्छादित रहती है। पर ज्यों-ज्यों उसके कर्मों का क्षय होता जाता है वह अपने वास्तविक और शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करती जाती है तथा कर्मों के पूर्णरूप से क्षय हो जाने पर परमात्मदशा को प्राप्त करती है।

आत्मा की अवस्थाएँ

हमारे शास्त्रों में तरतमता की दृष्टि से आत्मा की तीन अवस्थाएँ बताई गई हैं—पहली बहिरात्मा, दूसरी अन्तरात्मा और तीसरी परमात्मा। कहा भी है—

बहिरातम, अन्तर्आतम परमातम, जीव त्रिधा है।

—छहढाला

अर्थात् जीव तीन प्रकार के हैं—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा।

(१) **बहिरात्मा**—बहिरात्मा आत्मा की पूर्णतया अविकसित अवस्था होती है। इस अवस्था में वह कषायों से युक्त रहती है तथा बाह्य पदार्थों के प्रति ममत्व भाव रखती हुई जड़-चेतनादि के विवेक से शून्य होती है। बहिरात्मा या बहिरंग आत्मा को मलिन करने के छ कारण बतलाए गए हैं। वे हैं—क्रोध, मान, माया, लोभ, राग तथा द्वेष। इन छः कारणों का जैनशास्त्रों में तो उल्लेख है ही, जैनेतर ग्रन्थ भी काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह और अहंकार इन छः कारणों से आत्मा का दोषयुक्त होना बताते हैं। इस प्रकार जैन और जैनेतर दर्शनों की मान्यता लगभग समान ही है।

आशय कहने का यही है कि इन्हीं कारणों से आत्मा दूषित होती है और इनके द्वारा बँधने वाले कर्मों के वशीभूत होकर जीव नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव गति, इन चारों में भ्रमण करता रहता है। भले ही आत्मा नरकगति में जाए अथवा देवगति में, उसके लिये श्रेयस्कर कोई भी नहीं है। क्योंकि जन्म प्राप्त करने पर उसके परिणाम रोग, शोक दुःख, अप्रिय संयोग-वियोग एवं मृत्यु आदि सभी दुःख—कष्ट जीव को भुगतने पड़ते हैं।

बहिरंग जीव की दृष्टि सदा बाह्य जगत् की ओर रहती है। उसका ध्यान बाहरी जगत् में केन्द्रित रहता है, भविष्य में क्या होगा इसका भान उसे नहीं रहता।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्यपाद श्री अमीऋषि की महाराज ने ऐसे बहिरात्मा के विषय में कहा है—

करत जगत धंध अंध के समान सुख,
ऐश में भुलायो मन त्रास नहीं काल की।
उंडी उंडी नींव देइ, चुणावे आवास जाली,
झरोखा अटारी चित्र शोभा सुरसाल की॥
मात तात नारी सुत, मोह में बंधाय रह्यो,
तृष्णा अधिक चित्त करे धन माल की।
अमीरिख कहे घट रोके जब मौत आय,
जावे सब छोड़ बांध पोट पाप जाल की॥

कवि श्री ने बहिरंग जीवात्मा के विषय में बताया है कि ऐसा व्यक्ति अंधे के समान आगे की बात न सोचते हुए दिनरात जगत के धंधों में उलझा रहता है तथा काल का भय न मानते हुए सांसारिक भोग-विलासों में डूबा रहता है। जाली-झरोखों सहित बड़ी-बड़ी हवेलियां गहरी-गहरी नींवें खुदवाकर बनवाता है, जैसे वह सदा ही उनमें रहा करेगा। इतना ही नहीं वह अपने माता, पिता, पुत्र एवं पत्नी आदि के ममत्व में ग्रस्त रहकर बेईमानी एवं अनीति से धन इकट्ठा करता है तथा अहर्निशि तृष्णा में पड़ा रहकर धनमाल की बढ़ोतरी एवं सुरक्षा में लगा रहता है। किन्तु इस प्रकार सम्पूर्ण जीवन हाय-हाय में बिताकर भी वह कभी चैन नहीं पाता और काल का बुलावा आते ही केवल अपने पापों की पोटली अपने हाथ लेकर अकेला ही यहां से चल देता है।

आशय यही है कि बहिरात्मा के अन्तर में भोगों की तृष्णा रूपी आग सदा धधकती रहती है और वह अप्रिय के संयोग से और प्रिय के वियोग से व्याकुल तथा अशांत बना रहता है। उर्दू के एक कवि ने कहा भी है—

जब तक इसी सागर से तू मखमूर है।
जौक से जामे बका के दूर है॥

अर्थात् जब तक तू सांसारिक पदार्थों के मद में उन्मत्त है, तब तक परम शान्ति के आनन्द दूर ही रहेगा।

पर बंधुओ, यद्यपि बहिरंग आत्मा कषाय एवं राग द्वेषादि के कारण मलिन होती है, किन्तु ऐसी बात भी नहीं है कि वह कभी शुद्ध नहीं हो ही सकती। सद्-गुरुओं का उपदेश मिलने पर तथा शास्त्रों के द्वारा भगवान के आदेशों पर विश्वास

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

एवं श्रद्धा सहित आचरण करने पर वह धीरे-धीरे अपने शुद्ध रूप में आने लगती है। सद्गुरु की या सच्चे सन्तों की संगति बुरे से बुरे और क्रूर व्यक्तियों के हृदयों को भी बदल देती है। तथा व्यक्ति उनके प्रभाव से आत्मोन्नति के सही मार्ग को अपना लेता है। एक छोटा-सा उदाहरण है—

एक राजा सदा अपने गुरु के समीप उनके दर्शनार्थ जाया करता था। एक दिन उसके मन में इच्छा हुई कि मेरे गुरु राजमहल में पधार कर उसे पवित्र बनाएँ।

अपने मन की इच्छा व्यक्त करते हुए राजा ने कहा—"गुरुदेव, आज कृपा करके मेरे राजमहल को अपने चरणों से पवित्र कीजिये।"

संत बोले—राजन्! मैं चल तो सकता हूं पर वहाँ की दुर्गन्ध मुझसे नहीं सही जाती।"

राजा के नेत्र आश्चर्य से फैल गये। उसी स्थिति में वह बोला—"भगवन्! आप कैसी बात कर रहे हैं। मेरे भवन में तो सदा इत्र से सुवासित जल छिड़का जाता है। वहाँ दुर्गन्ध कैसी?"

महात्मा जी गंभीरतापूर्वक बोले—"राजन्! तुम्हारे इस प्रश्न का समाधान मैं कुछ समय बाद करूँगा। पहले तुम मेरे साथ हरिजनों की बस्ती में चलो। वहाँ कुछ रुग्ण व्यक्ति हैं, जिन्हें दवा देने का वक्त हो गया है। मैं ही उन्हें दवा दिया करता हूँ।"

राजा इस आशा से संत के साथ चल दिया कि हरिजनों की बस्ती के कामों से निवृत्त होकर गुरुदेव मेरे साथ राजमहल की ओर चलेंगे।

महात्माजी राजा को लेकर शहर से बाहर की ओर चल दिये। कुछ दूर जाने पर चमारों की बस्ती आई। चमारों के झोपड़ों में कहीं चमड़ा कमाया जा रहा था, कहीं सुखाया जा रहा था और इस प्रकार का कार्य जगह-जगह चालू रहने के कारण चारों ओर बड़ी दुर्गन्ध फैल रही थी।

बेचारा राजा जो कि सुगन्धित वातावरण में रहा करता था, किस प्रकार उस दुर्गन्ध को बर्दाश्त करता। थोड़ी देर तक तो नाक पर रुमाल दबाये रहा पर अन्त में घबराकर बोला—"भगवन्! शीघ्र यहाँ से चलिये। इस दुर्गन्ध के मारे मुझसे तो खड़ा भी नहीं रहा जाता।"

संत हँस दिये और बोले—'वाह, यहाँ इतने लोग रात-दिन रहते हैं पर सभी खुश हैं। कोई भी तो दुर्गन्ध की शिकायत नहीं करता। फिर तुम्हीं इतने परेशान क्यों हो रहे हो?"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

राजा ने उत्तर दिया—"गुरुदेव ! ये लोग तो चमड़ा तैयार करते-करते इसकी दुर्गन्ध के आदी हो गए हैं। पर मुझे कहाँ इसका अभ्यास है ? मैं तो इसे सहन नहीं कर सकता।"

राजा की बात सुनकर महात्मा जी मुस्कराये और बोले—"राजा ! तुम्हारे प्रश्न का उत्तर यही है कि जिस प्रकार चमार चमड़े की दुर्गन्ध में सतत रहने के कारण उसका अनुभव नहीं करते, उसी प्रकार तुम भी रात-दिन विषय-भोगों में लिप्त रहने के कारण उनमें से उठने वाली दुर्गन्ध का अनुभव नहीं करते। किन्तु मैं भोगों की दुर्गन्ध में रहने का अभ्यासी नहीं हूं अतः मुझे राजमहल में उनकी दुर्गन्ध आती है और इसलिये मुझे वहाँ जाने की इच्छा नहीं होती।"

महात्मा जी की बात सुनते ही राजा की आँखें खुल गईं और उसी क्षण से उसका चित्त भोग-विलास से विमुख हो गया।

इस उदाहरण से स्पष्ट है कि संतों की संगति करने से बहिरंग आत्मा पर अवश्य ही प्रभाव पड़ता है और वह कभी न कभी जागृत हुए बिना नहीं रहती।

अन्तरात्मा—अभी मैंने आपको बताया था कि क्रोध, मान, माया, लोभ, राग एवं द्वेषादि में रमण करनेवाली आत्मा बहिरात्मा कहलाती है। बहिरात्मा अपने स्वरूप ज्ञान से सर्वथा शून्य रहती है तथा बाह्य पदार्थों के प्रति आत्मभाव रखती है। किन्तु जब उसे सद्गुरु का संयोग या संतों की संगति प्राप्त होती है तो वह राग-द्वेषादि से विमुख होकर सम्यक्ज्ञान, सम्यक्दर्शन एवं सम्यक् चारित्र में रमण करने लगती है। उसे यह विश्वास हो जाता है कि—"मैं चिदानन्दमय हूं। इस संसार के समस्त पदार्थ मुझसे भिन्न हैं अतः इनसे मेरा कोई संबंध नहीं है। जब शरीर ही मेरा नहीं है तो अन्य पदार्थ कैसे मेरे हो सकते हैं ?"

सारांश यही है कि अंतरात्मा कषायों से मुक्त होकर ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र की आराधना करती हुई बाह्य जगत से दृष्टि फेरकर अपने अन्दर झांकती है तथा आत्मा की शुद्धि का प्रयत्न करती है। वह अपने आपको जानने और समझने का प्रयत्न करती है तथा उसका पूर्ण झुकाव आत्मदर्शन और आत्मज्ञान की ओर होता है। वह संसार में रहकर भी संसार से विरक्त और भोगों को भोगते हुए भी उनसे अलिप्त रहती है।

यह सुनकर आपको संशय होगा कि सांसारिक ऐश्वर्य का उपभोग करते हुए भी व्यक्ति उनसे विरक्त कैसे रह सकता है ? इस बात को समझने के लिये एक शास्त्रोक्त उदाहरण है जो कि आपमें से कई बंधुओं ने सुना या पढ़ा होगा।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जल कमलवत्

भगवान ऋषभदेव की प्रवचन सभा में एक बार उनके पुत्र भरत चक्रवर्ती ने पूछा—"भगवन् ! मुझे मोक्ष की प्राप्ति कब होगी ?"

भगवान ने सहजभाव से उत्तर दिया—"तुम इसी जन्म में मोक्ष प्राप्त करोगे ।"

भरत जी के प्रश्न और भगवान ऋषभदेव के उत्तर को प्रवचन-स्थल पर बैठे हुए एक स्वर्णकार ने सुना । पर सुनते ही उसने शहर में भगवान की निन्दा करते हुए कहना प्रारम्भ किया—"भगवान भी कितना पक्षपात करते हैं । उनके बेटे भरत महाराज इतने बड़े सम्राट हैं, ऐश्वर्य में खेलते हैं, पर बेटे हैं इसलिये भगवान उन्हें ही मुक्ति प्रदान करेंगे । ठीक भी है, बाप मुक्ति देने वाले हैं और बेटे लेने वाले ।"

स्वर्णकार की ऐसी बातें नगर में आग की तरह फैल गई । और जनता आपस में कानाफूसी करती हुई जगह-जगह इस बात को चर्चा करने लगी । धीरे-धीरे महाराजा भरत के कानों तक भी यह विषय पहुँचा । भरतजी ने स्वर्णकार को बुलवाया और उसे आदेश दिया कि एक तेल से भरा हुआ कटोरा हाथों में लेकर इस विनीता नगरी के प्रत्येक बाजार और प्रत्येक गली में से गुजरे, किन्तु तेल की बूँद भी जमीन पर गिरने न पाये । अगर एक बूँद भी जमीन पर गिर गई तो नंगी तलवारें लिये हुए साथ चलने वाले सैनिक उसकी गर्दन को तलवार से उड़ा देंगे ।

तत्पश्चात् स्वर्णकार को एक रत्नजटित कटोरा दिया गया तथा तलवारें लिये हुए कई सैनिकों के साथ उसे नगर के समस्त बाजारों और गलियों में ले जाया गया । जब सम्पूर्ण नगर में घुमा-फिराकर सैनिक स्वर्णकार को पुनः महाराज भरत के समक्ष लाये तो भरत जी ने उससे पूछा—"क्यों भाई, तुमने बाजारों में क्या-क्या देखा ?"

"कुछ भी नहीं देखा महाराज ! मेरी दृष्टि एक बार भी किसी ओर नहीं गई ।"

"वाह ! आज तो शहर के सभी बाजार विशेष रूप से सजाए गए थे और स्थान-स्थान पर अनेक आकर्षक दृश्य दिखाई दे रहे थे, फिर तुमने उन्हें देखा क्यों नहीं ?" भरत जी ने पुनः प्रश्न किया ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

"महाराज ! मेरे सम्मुख तो मौत नाच रही थी। तेल की एक बूंद भी अगर जमीन पर गिर जाती तो आपके सैनिक मेरी गर्दन उसी क्षण उड़ा देते। फिर मैं किस प्रकार इधर-उधर दृष्टिपात कर सकता था।"

भरत महाराज स्वर्णकार की बात सुनकर हंस पड़े और उसे समझाते हुए बोले—

"देखो भाई ! तुम तो इसी जन्म की मृत्यु से इतने भयभीत हो गए कि तुम्हारी दृष्टि दुल्हन के समान सजी हुई इस विनीता नगरी से विरक्त होकर अपने तेल के कटोरे पर केन्द्रित रही, फिर मैं तो जन्म-जन्म की मृत्यु से भयभीत हूँ। तब बताओ, मेरा मन इस संसार से विरक्त और उदासीन क्यों नहीं होगा ? पुनः-पुनः जन्म और पुनः-पुनः मृत्यु के भय से ही मेरी दृष्टि अन्तर्मुखी हो गई है और मुझे अपनी आत्मा के हानि-लाभ के अलावा और कुछ भी दिखाई नहीं देता। प्रतिपल मैं आत्मा को बद्ध-कर्मों से छुड़ाने और नवीन कर्म-बन्धन से बचाने के विचार में रहता हूं। यही कारण है कि भगवान ने मेरी समस्त संसार से विरक्त भावनाओं को जानकर मेरा इसी जन्म में मुक्त होना बताया है।"

महाराज भरत की बात सुनकर स्वर्णकार की आँखें खुल गईं और उसकी समझ में आ गया कि महाराज की आत्मा संसार में रहते हुए भी संसार से विरक्त है तथा वह राग-द्वेषादि कषायों से परे रहकर सम्यक् ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र में रमण कर रही है।

बंधुओ, आप भी समझ गये होंगे कि अन्तरात्मा अथवा अन्तर्मुखी आत्मा इसी प्रकार जल में रहते हुए भी जल से दूर रहने वाले कमल के समान संसार में रहते हुए भी संसार से विरक्त रहती है। वह सांसारिक प्रलोभनों से बचती हुई आत्म-शुद्धि एवं आत्म-मुक्ति के प्रयत्न में ही सदा रहती है। समभाव की स्वर्गीय सुधा का अजस्र स्रोत उसके अन्तर में प्रवाहित रहता है और इस प्रकार पवित्र और उत्तम भावनाओं से युक्त आत्मा शाश्वत सुख की अधिकारिणी बनती है। शास्त्र में कहा गया है—

भावना-जोग सुद्धप्पा, जले णावा व आहिया ।
नावा व तीरसंपन्ना, सव्व दुक्खा तिउट्टइ ॥

—सूत्रकृतांग

अर्थात्—जो आत्मा पवित्र भावनाओं से शुद्ध है, वह जल पर रही हुई नौका के समान है। वह आत्मा नौका की तरह ही संसार-सागर के तीर पर पहुँच कर सभी दुखों से छुटकारा प्राप्त कर लेती है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कहने का तात्पर्य यही है कि अन्तरात्मा जीव आत्मज्ञान प्राप्त कर लेता हैं और उसे यह भान हो जाता है कि मैं चिदानन्दमय हूं। संसार का प्रत्येक पदार्थ मुझ से भिन्न है और किसी भी प्राणी से मेरा नाता नहीं है। जब शरीर ही मेरा अपना नहीं है तो अन्य पदार्थ और प्राणी मेरे कैसे हो सकते हैं ? ऐसी भावनाएं जब उसके अन्तर में जाग जाती हैं तो किसी भी पदार्थ के प्रति उसे राग अथवा मोह नहीं रह जाता।

वस्तुतः मोह ही आत्मा को निबिड़ कर्मों में बद्ध करने वाला और आत्मा को अनन्त काल तक संसार में परिभ्रमण कराने वाला होता है। आठों कर्मों में मोहकर्म की स्थिति सबसे अधिक यानी सत्तर कोटाकोटि सागरोपम की होती है। एक बार भी जीव इसमें फंस जाता है तो इतने लम्बे समय तक वह अपना पिण्ड फिर नहीं छुड़ा पाता। मोह में इतनी जबर्दस्त आकर्षण शक्ति है कि विश्व का कोई भी प्राणी इससे प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। एक कवि ने अपनी सहज और स्वाभाविक भाषा में कहा है—

न छूटी है चींटी, न छूटा है हाथी,
न छूटा है कोई परिन्दा।
सबकी गर्दन फंसी है इसमें,
इस मोह ने जगत को कर दिया है अंधा॥

कवि का कहना यथार्थ है। मोह कर्म ऐसा नागपाश है कि इसमें जकड़ा हुआ प्राणी सहज ही मुक्त नहीं हो पाता जब तक कि आत्मा में समभाव की जागृति नहीं होती। और समभाव तभी आता है जबकि प्राणी सांसारिक प्रलोभनों से बचे तथा कषायों से अपने आप को मुक्त करे। समभाव के अभाव में कभी संयम धन की प्राप्ति नहीं होती क्योंकि उस समय कषायों का तीव्र उदय होता है। कषाय भाव चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से उत्पन्न होता है। शास्त्रों में विधान है कि अनंतानुबंधी कषाय का नाश होने पर सम्यक्त्व की उत्पत्ति होती है। अप्रत्याख्यानावरण मोह के हटने पर एकदेश संयम होता है, प्रत्याख्यानावरण कषाय के दूर होने पर सर्वदेश संयम आता है तथा संज्वलन कषाय के हटने पर यथाख्यात संयम का प्रादुर्भाव होता है।

इस प्रकार मोहकर्म संयम का घातक होता है, पर समभाव के द्वारा जब मोहरूपी वह्नि शांत हो जाती है जब संयम-रूप लक्ष्मी आत्म-मन्दिर में प्रवेश करती है।

कहने का सारांश यही है कि मोहरूपी आग को शांत करने के लिये, राग-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

द्वेष रूपी वृक्षों को जड़ों से उखाड़ने के लिये तथा संयमश्री का आवाहन करने के लिये समभाव का आश्रय लेना चाहिये। और ऐसा अन्तरात्मा ही कर सकता है।

परमात्मा—आत्मा की तीसरी अवस्था परमात्मा या मुक्तात्मा के रूप में समझी जा सकती है।

मैं आपको अभी बता ही चुका हूँ कि बहिरात्मा कषायों से युक्त होती है तथा जड़-चेतन के विवेक से शून्य बनी रहकर क्रोध, मान, माया तथा लोभादि कषायों में रमण करती हुई बाह्य पदार्थों में आसक्ति रखती है। परिणाम यह होता हैं कि उसकी आत्मा सदा मलिन बनी रहती है और वह जन्म-जन्म में नाना प्रकार के कष्टों को भोगती हुई संसार में परिभ्रमण करती रहती है। ऐसी आत्मा का सुधार होना अर्थात् उसका कर्म-बन्धनों से मुक्त होना बड़ा कठिन होता है।

किन्तु जब आत्मा में विवेक जागृत हो जाता है और वह सद्गुरु के संपर्क में आकर अपने आपको बाह्य पदार्थों से सर्वथा भिन्न समझ लेती है तो वह संसार से उदासीन होकर समभाव को धारण कर लेती हैं और सम्यक्ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र की आराधना करती हुई अपने आपको कर्म-मुक्त कर चलती है। आत्मा की ऐसी स्थिति अंतरात्मा कहलाती है। और उसकी गति सुधार की ओर हो जाती है। अन्तरात्मा में समभाव का आविर्भाव हो जाने से ऐसी अनिर्वचनीय एवं अभूतपूर्व शीतलता आ जाती है तो केवल अनुभव से ही जानी जा सकती है, वह सब प्रकार के संतापों से मुक्त होकर अपने शुद्ध स्वरूप में रमण करने लगती है और शनैः-शनैः कर्ममुक्त होकर सिद्ध दशा को प्राप्त करती हुई ऊर्ध्वगमन करती है। दूसरे शब्दों में वह अपने समस्त कर्मों का प्रक्षय करके लोकाकाश के अन्त में स्थित हो जाती है।

भगवान महावीर ने इस विषय में फरमाया है—

जह रागेण कडाणं कम्माणं पावगो फलविवागो।
जह य परिहीणकम्मा, सिद्धा सिद्धालयमुवेन्ति॥

—औपपातिक सूत्र

—यह संसारी जीव राग-द्वेष विकारों के कारण उपार्जित कर्मों का दुष्फल भोगता है, और जब समस्त कर्मों का क्षय कर डालता है तो सिद्ध होकर सिद्धक्षेत्र को प्राप्त करता है। तो सिद्धक्षेत्र को प्राप्त करने का अधिकार जो आत्मा प्राप्त कर लेती है वह परमात्मा अथवा मुक्तात्मा कहलाती है। और यही उसकी तीसरी तथा सर्वोत्कृष्ट अवस्था मानी जाती है। ✱

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

१२ | वचने का दरिद्रता····!

धर्मप्रेमी बंधुओ, माताओ एवं बहनो !

प्रसंगवश कुछ दिन अन्य विषयों पर हमने विचार किया, किन्तु वैसे संवर के सत्तावन भेदों में से छः भेदों को हमने लिया था और आज पुनः संवर के सातवें भेद पर आ रहे हैं। संवर के सत्तावन भेदों में से सातवाँ भेद वचनगुप्ति है। वचन-गुप्ति का अर्थ है वाणी का प्रयोग अथवा वचनों का उच्चारण करना।

आप सभी जानते हैं कि जबान से शब्दों का उच्चारण करना तनिक भी कठिन नहीं है। प्रत्येक बिना किसी कठिनाई के बोल सकता है और चाहे जितना बोलता चला जा सकता है। किन्तु 'वचनगुप्ति' को संवर के भेदों में सम्मिलित करने का महत्व इसलिये है कि वह मानव को यह संकेत करे कि वाणी का प्रयोग किस प्रकार किया जाय।

आज विश्व का प्रत्येक व्यक्ति यही चाहता है कि अन्य सभी मनुष्य उसका सम्मान करें, उसकी इच्छा का आदर करें और उससे प्रभावित हों, दूसरे शब्दों में वह अन्य सभी व्यक्तियों पर अपने व्यक्तित्व का प्रभाव डालना चाहता है तथा समाज में सर्वोपरि स्थान पाना चाहता है। किन्तु उसकी यह कामना तभी पूरी हो सकती है जबकि वह अपनी वचनगुप्ति पर काबू रखे अथवा अपनी वाणी का इस प्रकार प्रयोग करे कि उसे सुनने वाले प्रसन्न हों, सन्तुष्ट हों तथा उन वचनों को अपने लिये हितकारी समझें।

वचनगुप्ति का किस प्रकार प्रयोग किया जाय, इस विषय में हमारे जैनशास्त्र

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

व अन्य धर्मशास्त्र भी नाना प्रकार के आदेश देते हैं तथा बड़ी सावधानी रखने का संकेत करते हैं। भगवान महावीर का कथन है—

अवण्णवायं च परम्मुहस्स,
पच्चक्खओ पडिणीयं च भासं।
ओहारिणिं अप्पियकारिणिं च,
भासं न भासिज्ज सया स पुज्जो॥

—दशवैकालिक सूत्र

अर्थात्—जो साधुपुरुष किसी भी प्राणी की प्रत्यक्ष और परोक्ष में भी निंदा नहीं करता, पर-पीड़ाकारी, निश्चयकारी एवं अप्रिय भाषा नहीं बोलता वह पूज्य बनता है।

भगवान द्वारा कथित गाथा से स्पष्ट है कि किसी भी व्यक्ति को ऐसी भाषा का अथवा ऐसे वचनों का प्रयोग नहीं करना चाहिये, जिनके द्वारा सुनने वाले को दुःख हो, वह तिरस्कार का अनुभव करे या अपने आपको उपेक्षित समझे। सबसे महत्वपूर्ण बात तो यह है कि वचनगुप्ति पर अंकुश रखते हुए अगर व्यक्ति मधुरवाणी का प्रयोग करता है तो उसे न किसी प्रकार का कष्ट होता है, न ही कोई हानि होती है या किसी प्रकार का खर्च ही होता है। जबान से जिस प्रकार कठोर शब्दों का उच्चारण किया जाता है, उसी प्रकार मीठे और प्रिय शब्द भी बोले जा सकते है।

इसलिए संस्कृत भाषा के एक कवि ने कहा है—

जिह्वाया खंडनं नास्ति, तालुको नैव भिद्यते।
अक्षरस्य क्षयो नास्ति, वचने का दरिद्रता॥

कटुभाषी प्राणियों को कवि ने कितने मधुर शब्दों में ताड़ना देते हुए सीख दी है कि कोमल और प्रिय वचनों का उच्चारण करने पर जबकि जीभ नहीं कटती, तालू नहीं भिदता और न ही भाषा के भंडार में से शब्दों का कोश ही रीता होता है तब फिर मधुर भाषा के प्रयोग में दरिद्रता क्यों रखना चाहिये?

कवि का कथन यथार्थ भी है। मीठे शब्दों का उच्चारण करने से मनुष्य तो क्या पशु-पक्षी भी प्रसन्न होते हैं अतः प्रत्येक व्यक्ति को सदा हितकारी और प्रिय वचन बोलने चाहिये। अनर्गल प्रलाप और गर्वोक्तियों से कोई लाभ नहीं होता अपितु कभी-कभी मान-हानि होने की ही संभावना रहती है। एक छोटा-सा उदाहरण है—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सब आता है मुझे

एक घर में सास और बहू दोनों ही थीं। प्रायः देखा जाता है कि खाना बनाने से पहले बहुएँ अपनी सास से पूछती हैं कि, 'क्या बनाऊँ ?' यह बड़ों का मान रखने की रीति है। इस रीति का पालन करने के लिये उस घर की बहू भी अपनी सास से यही बात पूछ लिया करती थी। सास समझदार और व्यवहारकुशल थी। अतः क्या बनाना, यह बताते हुए प्रायः यह भी बता दिया करती थी कि अमुक वस्तु इस प्रकार बना लेना।

किन्तु बहू अहंकारी थी। अतः जब उसकी सास खाद्य पदार्थ को बनाने की विधि बताती तो उसे सुन लेने के पश्चात् वहाँ से उठते-उठते यह कह देती थी कि—"यह बनाना तो मुझे भी आता है।"

प्रति दिन बहू की यह गर्वोक्ति सुनकर एकदिन सास ने उसकी परीक्षा लेने का विचार किया और एक दिन जबकि घर में मेहमान आए हुए थे, उसने बहू के पूछने पर खीर बना लेने को कहा तथा खीर के लिए दूध-शक्कर आदि का प्रमाण बताते हुए पीछे से यह भी कह दिया कि उसमें थोड़ा नमक डाल देना।

बहू को वास्तव में ठीक खाना बनाना तो आता नहीं था किन्तु अपनी होशियारी बताने के लिये वह उस दिन भी यह कहकर रसोई में चली गई कि — "मुझे खीर बनाना आता है।" पर उसके बाद जब उसने खीर बनाई तो उसमें नमक भी डाल दिया।

परिणाम क्या हुआ होगा, इसका आप अन्दाज लगा सकते हैं। यानी खीर बिगड़ गई। नमक डालने से खीर का स्वाद तो बिगड़ा ही, साथ ही दूध भी फट गया और जब मेहमानों को खीर परोसी गई तो सबने थू-थू करते हुए खीर की कटोरियाँ थाली में से निकालकर बाहर रख दीं।

यह देखकर बहू सास के पास दौड़ी और बोली—"आपके बताए अनुसार ही तो मैंने खीर बनाई थी फिर वह खराब कैसे हो गई ?"

सास ने शांतिपूर्वक कहा—"मेरे रोज बताने पर तुम कहती थीं कि मुझे सब बनाना आता है अतः आज मैंने खीर में नमक डालने को कह दिया था। सोचा था कि जब तुम स्वयं बनाना जानती हो तो नमक डालोगी ही क्यों ? अन्यथा खीर में नमक कहीं पड़ता है ?"

सास की बात सुनकर बहू की आँखें खुल गईं और उस दिन से उसने कान

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पकड़ लिये कि आइन्दा झूठा अहंकार नहीं करूंगी और न ही गर्वोक्ति का प्रदर्शन करूंगी।

बंधुओ, आप समझ गए होंगे कि झूठे और अहंकार भरे वचनों का प्रतिदिन प्रयोग करने से ही उक्त बहू को घर में आए हुए मेहमानों के सामने लज्जित होना पड़ा। ऐसा वचनगुप्ति में विवेक न रखने के कारण ही हुआ। इसी प्रकार अनेक प्रकार की हानियाँ वाणी के अविवेक के कारण होती हैं। कभी-कभी तो गाली-गलौज, मार-पीट और जान जाने की नौबत भी अविवेकपूर्ण वचनों के कारण आ जाती है।

द्रौपदी की जबान से निकल गया था—"अंधों के लड़के अंधे होते हैं।" बस इस वाक्य के कारण ही महाभारत युद्ध ठन गया और लाखों प्राणियों का संहार हुआ। इसलिये विचारक बार-बार चेतावनी देते हैं कि बोलने में जरा भी चूक मत होने दो। क्योंकि कभी-कभी छोटा सा कटु वाक्य भी महान दुष्परिणाम का कारण बनता है। एक उर्दू के कवि का कथन है—

फ़ितरत को नापसद है सख्ती जबान में।
पैदा हुई ना इसलिये हड्डी जबान में॥

कहा है कि कुदरत को ही जबान की सख्ती यानी कटुता पसंद नहीं है अतः उसने जबान में हड्डी का निर्माण नहीं किया। उसका मूक संकेत यही है कि जबान स्वयं जैसी कोमल है, उसी प्रकार वह कोमल शब्दों का उच्चारण भी करे।

कहा जाता है कि महान दार्शनिक कन्फ्यूशियस का जब आखिरी वक्त आया तो उनके शिष्यों ने उनसे प्रार्थना की कि आप हमें एक अंतिम सीख और प्रदान करें।

इस पर कन्फ्यूशियस ने अपने प्रिय शिष्यों से प्रश्न किया—"मेरे मुँह में तुम लोगों को क्या दिखाई देता है?"

शिष्यों में से एक बोला – "गुरुदेव! आपके मुँह में केवल जबान है, दांत तो सभी गिर चुके हैं।"

गुरु बोले—"क्या तुम लोग बता सकते हो कि मेरे सारे दाँत क्यों पहले ही गिर चुके जबकि जबान ज्यों की त्यों विद्यमान है।"

बेचारे शिष्य एक दूसरे का मुँह देखने लगे। किसी को गुरु के प्रश्न का उत्तर नहीं सूझा। यह देखकर कन्फ्यूशियस ने स्वयं ही कहा—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

"देखो ! मेरे दाँत कठोर थे अतः कभी के गिर गये किन्तु जबान कोमल होने के कारण ज्यों की त्यों है। अतः ध्यान रखो कि तुम अपना व्यवहार अपनी जबान के अनुसार ही कोमल बनाओगे तो समाज में और देश में सम्मानित होकर टिक सकोगे अन्यथा दाँतों के समान कठोर होने पर लोगों की दृष्टि से गिर जाओगे।"

वस्तुतः वाणी की मधुरता मनुष्य को श्रेष्ठ बनाती है, साथ ही संवर का कारण बनकर पापकर्मों के उपार्जन को रोकती है। जो व्यक्ति अपने विवेक को जागृत रखकर अप्रिय, कटु और अहितकर भाषा का प्रयोग नहीं करता उसकी आत्मा को नये कर्म नहीं जकड़ते और शनैः शनैः बद्ध कर्मों से भी छुटकारा प्राप्त कर लेता है। हमारे शास्त्र भी व्यक्ति को यही आदेश देते हैं कि—'विवेकपूर्वक बोलो, आवश्यकतानुसार बोलो, पापरहित बोलो, धर्म प्रचार हो ऐसा बोलो तथा मधुर बोलो। ऐसा करने वाला व्यक्ति ही अपनी वचनगुप्ति पर काबू रखता हुआ अपनी आत्मा को ऊँचा उठा सकता है।

संवर पापकर्मों के आगमन को रोकने वाला बाँध है। अतः हमें अगर पापकर्मों से बचना है तो वचनगुप्ति का ध्यान रखना होगा। वचनों में बड़ी चमत्कारिक शक्ति होती है। प्रिय वचन बोलकर जहाँ एक डाक्टर मरीज को मौत के मुँह से भी खींच लाता है वहीं कटु शब्दों के प्रयोग से कमजोर दिलवाला मृत्यु का ग्रास भी बन सकता है। मधुर वचनों के प्रयोग से ही शत्रु मित्र बनता है तथा कटु वचनों के उच्चारण से मित्र शत्रु। इतना ही नहीं हमारे शास्त्र तो यहाँ तक कहते हैं—

वाया दुरुत्ताणि दुरुद्धराणि,
वेराणुबंधीणि महब्भयाणि।

—दशवैकालिक सूत्र

—वाणी से बोले हुए दुष्ट और कठोर वचन जन्म-जन्मान्तर के वैर और भय के कारण बन जाते हैं।

इसीलिये विवेकी पुरुष अपने एक-एक शब्द को तौलकर जिह्वा पर लाते हैं। वे जानते हैं कि विवेकपूर्ण शब्द अनमोल धन के रूप में होते हैं अतः उन्हें यों ही गँवाया नहीं जा सकता। कहा भी हैं—

पृथिव्यां त्रीणि रत्नानि, जलमन्नं सुभाषितम्।
मूढ़ैः पाषाणखण्डेषु, रत्न संज्ञा विधीयते॥

यानी इस पृथ्वी पर तीन रत्न हैं। पहला जल, दूसरा अन्न और तीसरा मृदुवचन। वे व्यक्ति मूर्ख हैं जो पत्थर के टुकड़ों को रत्नों के नाम से पुकारते हैं। ऐसा वे भ्रमवश करते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सारांश यही है कि जिस प्रकार अन्न और जल जीवन को कायम रखने में सहायक होने के कारण अमूल्य रत्न माने गये हैं उसी प्रकार औरों की आत्मा को सुख और शांति पहुंचाने में समर्थ होने के कारण मधुर वचन भी अनमोल रत्न माने गए हैं। इसलिए मधुर वचनों को अमूल्य रत्न मानकर ही उनका सदुपयोग करना चाहिये तथा कटु शब्दों के प्रयोग से बचना चाहिये।

मौन का महत्व

शास्त्रकार कहते हैं कि कठोर, अप्रिय एवं अहितकारी भाषा बोलने की अपेक्षा तो अधिक से अधिक मौन रखना उचित है। यहां यह बात ध्यान में रखने की है कि पूर्णतया चुप रहना तो मौन कहलाता ही है किन्तु सावद्य भाषा अर्थात् पापजनक भाषा का न बोलना भी वचन का मौन ही माना जाता है। शास्त्र में सावद्य भाषा बोलने का निषेध है क्योंकि उससे पापों का आगमन होता है।

अनेक बार संतों के सामने ऐसी जटिल परिस्थितियां आ जाती हैं कि उन्हें मौन ही रहना पड़ता है क्योंकि लोगों के प्रश्नों के उत्तर में अगर वे हां कहते हैं तो आरम्भ-समारंभ होता है और ना कहने पर व्यक्तियों की सुख शांति भंग होती है, अतः वे 'सबसे भली चुप्प' को ही प्रयोग में लाते हैं।

बंधुओ, मेरे आज के कथन का सारांश यही है कि इस संसार में रहने वाले अनंतानंत जीवों में से केवल मनुष्य को ही ऐसी शक्ति मिली है कि वह अपनी भाषा औरों को भली-भांति समझा सकता है और उसके माध्यम से अपने विचारों का आदान-प्रदान कर सकता है। अगर वह चाहे तो अपनी वाणी का अधिक से अधिक सदुपयोग कर सकता है तथा उसके द्वारा भी पुण्य-कर्मों का संचय कर सकता है। उदाहरण के लिये हम मुसलमानों के धर्मग्रन्थ कुरान को भी लें तो सूरत बकर के सकू ३६ की तीसरी आयत में लिखा हुआ है—

"कौलन मारफ़ न वा मग़फ़िर तुन,
खैरून मिन मदक तिन।"

अर्थात्—भद्र और क्षमायुक्त वचनों का प्रयोग करना दान देने से भी श्रेष्ठतर है।

कितनी सही और सुन्दर बात है? आप लोग पुण्योपार्जन करने के लिये लाखों रुपयों का दान देते हैं किन्तु फिर भी अगर आपको अहंकार और गौरव को ठेस पहुंचाने वाली छोटी-से-छोटी बात भी किसी के द्वारा कह दी जाती है तो आपका क्रोध विषधर सर्प की तरह फुफकार कर चोट करने के लिये अपनी जिह्वा रूपी फन उठा लेता है। परिणाम यह होता है कि दान-पुण्य और अन्य अनेकों धर्म-क्रियाओं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

के द्वारा आप जितना पुण्योपार्जन करते हैं, उससे अधिक कटु एवं भयंकर शब्दों का प्रयोग करके पापों की पोटली बाँध लेते हैं।

क्या इसकी बजाय यह अच्छा नहीं है कि आप धर्मक्रियाएँ वही करें जो दिखाने के लिये न हों और दान ऐसा दें जिसके पीछे दान-दाताओं की फेहरिस्त में नाम लिखवाने की आकांक्षा न हो, पर अन्य प्रत्येक प्राणी के प्रति आपका व्यवहार कोमल, सदय एवं हितकर हो। आपके वचनों से कभी किसी का दिल न दुखे, उलटे उसे शांति और सान्त्वना मिले ? ऐसे वचन और ऐसी भाषा आपकी आत्मा के लिये अधिक लाभदायक साबित होगी।

कितने आश्चर्य की बात है कि मनुष्य की यह छोटी-सी जीभ उसके लिये भयंकर अनर्थ का कारण भी बन सकती है और महान् लाभ का कारण भी यही बनती है। आवश्यकता है केवल इसके सदुपयोग की। अगर व्यक्ति इसको काबू में रखे तो यह संवर में सहायक बनेगी और बेकाबू कर दिया तो आश्रव का कार्य करेगी। वचनगुप्ति का महत्व श्रावक एवं साधु दोनों के लिये बराबर है। यह सही है कि श्रावक मुनि के समान इसपर पूर्णतया कण्ट्रोल नहीं रख सकता, किन्तु फिर भी अगर वह चाहे तो इसके द्वारा संसार में सम्मान और कीर्ति का भागी तो बनता ही है, साथ ही शुभ-कर्मों का संचय करके अगले जन्मों के लिये भी लाभ उठा सकता है।

मुनियों के लिये तो पूज्यपाद श्री अमीऋषि जी महाराज ने बताया है कि वे किस प्रकार अपनी वचनगुप्ति को वश में रखते हैं और सच्चे गुरु एवं पथ-प्रदर्शक बनकर हमारे आत्मोत्थान में सहायक बनते हैं। उन्होंने कहा है—

मौन करी रहे, नाही आश्रव के वेण कहे,
संवर के काज मृदु वचन उच्चारे हैं।
बोलत है प्रथम विचारी निज हिये मांही,
जीव दया युत उपदेश विसतारे हैं॥
आगम के वेण ऐन भाने सुखदेन पेन,
माने मिथ्या केन चित्त ऐसी विध धारे हैं।
कहे अमीरिख मुनि ऐसे मौनधारी होय,
तारण तरण सोही सुगुरु हमारे हैं॥

क्या कहा है ? यही कि सच्चे संत अधिक से अधिक मौन रखते हैं और कभी भी ऐसे वचनों का उच्चारण नहीं करते, जिनके कारण आश्रव यानी पाप कर्मों का आगमन प्रारंभ हो जाय। वे तो संवर का आराधन करने के लिये मधुर शब्दों का

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उच्चारण ही करते हैं। वे जो कुछ भी बोलते हैं उसे पहले ही विवेकपूर्वक अपने हृदय में तौल लेते हैं तथा सत्य व हितकारी जानकर तब उसे संसार के प्राणियों पर दया की भावना रखते हुए उन्हें उपदेश देते हैं।

सच्चे संत आगम के वचनों पर दृढ़ विश्वास रखते हैं तथा उन्हें आत्मा के लिये परम हितकारी मानते हैं। उनका चित्त धर्म में ऐसा रत रहता है कि मिथ्यात्व अथवा पाखंड उनके पास फटकने भी नहीं पाता। आगम की वाणी को वे स्वप्न में भी मिथ्या नहीं मानते और इसीलिये उनका वचनगुप्ति पर पूर्ण अंकुश होता है। उनकी जबान से किसी भी प्राणी को दुःख नहीं होता, किसी का अहित नहीं होता और कभी भी कोई किसी प्रकार के संकट में नहीं पड़ता। वाणी का मौन रखने वाले ऐसे सुगुरु ही स्वयं संसार-सागर से तैरते हैं तथा औरों को भी पार उतारते हैं।

कहने का अभिप्राय यही है कि प्रत्येक व्यक्ति को अनन्त पुण्यों के उदय से व्यक्त वाणी बोलने की क्षमता मिली है, उसे व्यर्थ ही नहीं गंवा देना चाहिये तथा बुद्धि और विवेकपूर्वक इसका पूरा-पूरा लाभ उठाना चाहिये। वाणी का लाभ उठाने से मेरा तात्पर्य यह नहीं है कि मनुष्य मीठा-मीठा बोलकर दूसरों का गला काटे और बेईमानी तथा अनैतिकता का आश्रय लेकर अपनी तिजोरियां भर ले। वरन यह आशय हैं कि वह दुखी और संतप्त जीवों को सान्त्वना प्रदान करे। वह ऐसी भाषा का प्रयोग न करे जिससे किसी के जान-माल की अथवा अन्य किसी भी प्रकार की हानि हो और 'मुंह में राम बगल में छुरी' यह कहावत चरितार्थ हो जाये।

तो बन्धुओ, अगर हम अपनी वचनगुप्ति को विवेकपूर्वक काम में लेंगे तो इस जन्म और अगले जन्मों में भी सुखी बन सकेंगे।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

१३ | देहस्य सारं व्रतधारणं च

धर्मप्रेमी बंधुओ, माताओ एवं बहनो !

कल हमने संवर के सत्तावन भेदों में सातवें भेद वचनगुप्ति पर विचार-विमर्श किया था। आज संवर के आठवें भेद को लेना है। आठवाँ भेद है कायागुप्ति। कायागुप्ति का अर्थ है, शरीर को पाप क्रियाओं से बचाकर शुभक्रियाओं में संलग्न करना। उदाहरण स्वरूप हमारे पास प्रकृति-प्रदत्त हाथ हैं किन्तु अगर हम इन्हें मार-पीट में लगाते हैं तो हमारी वे क्रियाएँ आश्रव का कारण बनेंगी और इन्हीं हाथों से अपने बुजुर्गों की अथवा दीन-दुखी, अपाहिजों की सेवा करते हैं तो वे क्रियाएँ संवर में सहायक बनेंगी। इसी प्रकार अपनी जिह्वा से कटु, कर्कश एवं मर्म-भेदी वचनों का उच्चारण करके अन्य व्यक्तियों को दुःख पहुँचाएँगे तो हमारी वह वाणी आश्रव का निमित्त बनेगी और अगर इसी जिह्वा से प्रभु-भक्ति करेंगे अथवा मधुर और सान्त्वना प्रदान करने वाले शब्दों का उच्चारण करेंगे तो यह जिह्वा संवर का निमित्त बन जाएगी।

संवर का महत्त्व बताते हुए पूज्यपाद श्री अमीऋषि जी महाराज ने लिखा है—

संवर की क्रिया परमोत्तम बखानी जिन,
संवर मारग दुःख, दोष को हरन है।
वारण करम दल, ठारन निजातम को,
जारन विपद, मुद, मंगल करन है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भवजल तरण हरण अघ पुंज यही,
सरण सहाई उर सुबुद्धि भरन है।
कहे अमीरिख हरीकेशी ऋषिराय धन्य,
संवर आराधी मेट्या जनम मरन है॥

कवि श्री कहते हैं संवर की क्रियाएँ अन्य समस्त क्रियाओं में सर्वोत्तम हैं और संवर का मार्ग संसार के समस्त दुःखों और दोषों को नष्ट करने वाला है।

इतना ही नहीं, संवर समस्त कर्मदलों को हटाने वाला, आत्माओं को शांति और शीतलता पहुँचाने वाला, विपत्तियों के समूह को जलाने वाला तथा सभी प्रकार से आनंद मंगल करने वाला होता है।

आगे कहा है—संवर का आराधन संसार-सागर से पार उतारता है, पापों के पुंजों को नष्ट करता है तथा हृदय को सुबुद्धि से भरने में सहायक बनता है।

कवि ने हरिकेशी मुनि को पुनः पुनः धन्य कहा है क्योंकि उन्होंने जाति और कुल से हीन होने पर भी संवर धर्म की आराधना करके सदा के लिये जन्म और मरण से मुक्ति प्राप्त कर ली।

बंधुओ, आपके मन में विचार आ सकता है कि अपनी आत्मा को संसार-मुक्त करने वाले तो सभी महापुरुष संवर की आराधना करते हैं, फिर विशेष रूप से हरिकेशी मुनि का ही उल्लेख कवि ने क्यों किया ?

इस विषय में हम यही कह सकते हैं कि जो व्यक्ति आर्यक्षेत्र, आर्यजाति और उत्तम कुल में जन्म लेता है उसमें बचपन से ही अच्छे संस्कार आ सकते हैं और वयः-प्राप्त होने पर भी वह सहज ही धर्म-मार्ग को अपना सकता है। दूसरे शब्दों में सभी उत्तम साधन सुलभ होने पर व्यक्ति सहज ही उत्तम मार्ग पर चल भी सकता है।

किन्तु हरिकेशी जैसा चांडाल कुल में जन्म लेने वाला व्यक्ति जो कि धर्म-अधर्म क्या होता है, आत्मा-परमात्मा का क्या महत्व होता है तथा आश्रव, संवर और निर्जरा किस बला का नाम है, यह स्वप्न में भी नहीं सोच पाता पर फिर भी जब वह आत्म-मुक्ति के मार्ग को पहचान लेता है तथा सच्चे धर्म को अपनाकर पूर्ण दृढ़ता से उस पर चलता हुआ आत्म-कल्याण कर लेता है तो उसका यह कार्य सराहनीय माना जाता है। जिस प्रकार धन-सम्पन्न व्यक्ति अगर लाख रुपया दान करता है तो उसका उतना महत्व नहीं हो सकता जितना एक दरिद्र व्यक्ति का स्वयं अभाव-ग्रस्त होने पर भी दो रुपये दान में देना महत्वपूर्ण एवं प्रशंसनीय होता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इसीलिये कवि ने अपने पद्य में चांडाल कुलोत्पन्न हरिकेशी को धर्म का तथा संवर का मर्म समझ लेने और उसे ग्रहण कर आत्मा को सर्वथा कर्ममुक्त कर लेने के कारण धन्य कहा है।

तो हम संवर के सत्तावन भेदों में से आठवें भेद कायागुप्ति के विषय में विचार कर रहे हैं, जिससे तात्पर्य है शरीर को अशुभ क्रियाओं में न लगाकर शुभ क्रियाओं में प्रवृत्त करना।

संस्कृत के एक पद में कहा गया है—

"देहस्य सारं व्रतधारणं च।"

शरीर प्राप्ति की सार्थकता तभी है जबकि व्रतों को धारण किया जाय। जीव को नाना योनियों में भ्रमण करते हुए तो अनन्त काल व्यतीत हो गया। मानव-जन्म भी अनेक बार मिला होगा और उसे सांसारिक सुखों को भोगने तथा मौज-मजे करने में व्यतीत कर दिया होगा। किन्तु वीतराग-वचनों पर विश्वास करते हुए धर्माराधन करने और व्रतों को ग्रहण करने की प्रवृत्ति जीव की नहीं हुई। यही कारण है कि उसे अभी तक संसार-भ्रमण करना पड़ रहा है।

इसीलिये महापुरुष एवं संत-मुनिराज मनुष्यों को यही प्रेरणा बार-बार देते हैं कि यह मनुष्य जन्म जबकि अनन्त पुण्यों के संयोग से पुनः मिल गया है तो व्रतों को धारण करके अपने शरीर को सार्थक करो तथा इससे अधिकाधिक लाभ उठाओ। व्रत चाहे छोटा ही क्यों न हो, उसे एक बार अपना लेने पर फिर आत्मा शुद्धता की ओर प्रगति करने लगती है। इस विषय को एक उदाहरण से भली-भांति समझा जा सकता है।

एक नगर में एक मुनिराज विचरण करते हुए पधारे। नगर के राजा ने उनके दर्शनार्थ जाने का विचार किया तथा अपने सभी दरबारियों और प्रजाजनों को यह सूचना भिजवादी।

सारी प्रजा संत के आगमन से प्रफुल्लित हो गई और उनके दर्शनार्थ चलने के लिये तैयार हुई। केवल उस नगर का मंत्री बड़ी दुविधा में पड़ गया। वह पूरा नास्तिक था। न वह धर्म पर विश्वास करता था न ही लोक-परलोक को मानता था। उसका कहना था —

"को जाणहि परे लोए अत्थि वा नत्थि वा पुणो।"

यानी—कौन जानता है कि परलोक है या नहीं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार वह लोक-परलोक, धर्म व अधर्म को न मानने वाला महानास्तिक व्यक्ति था, किन्तु करता क्या ? राजा का आदेश था अतः मन मारकर और मजबूरन उस मुनि के दर्शन करने के लिये सबके साथ जाना पड़ा।

बड़ी धूम-धाम से दल-बल सहित राजा शहर से बाहर मुनिराज के दर्शन करने गए और वहाँ उनका धर्मोपदेश सुना। प्रवचन सुनकर सभी लोगों को बड़ा संतोष हुआ क्योंकि उसमें संयोगवश यही विषय आया था कि —"मानव शरीर मिला है तो धर्माराधन करके तथा व्रत-नियमादि ग्रहण करके इसका समुचित लाभ उठाओ।"

लोगों पर मुनि के प्रवचन का बड़ा प्रभाव पड़ा। परिणामस्वरूप उपदेश की समाप्ति पर अधिकांश व्यक्तियों ने अपनी-अपनी सामर्थ्य के अनुसार व्रत-नियम अपनाये। धीरे-धीरे मंत्री का नम्बर भी आ गया। वह बड़ी कठिनाई में पड़ गया कि राजा के समक्ष वह किसी भी नियम को लेने से इन्कार कैसे करे और श्रद्धा न होने पर नियम ले भी कैसे ? आखिर सोच-विचार कर उसने संत से कहा—

"महाराज, मुझे गीली वस्तु में गोबर न खाने का और सूखी वस्तु में पत्थर न खाने का नियम करवा दीजिये।"

सारी सभा मंत्री की बात सुनकर मन ही मन हँस पड़ी। पर मंत्री ने सोचा—'वाह मैंने कितनी चतुराई का उदाहरण पेश किया है। साँप भी मर जाएगा और लाठी भी नहीं टूटेगी।'

इधर मुनिराज धीर-गंभीर स्वर से बोले—"कोई बात नहीं प्रधान जी ! आप यही नियम ग्रहण कर लो। पर ध्यान रखना कि भोजन में अगर छोटा सा कंकर भी आ गया तो आपका नियम भंग हो जाएगा।"

"हाँ इस बात का तो पूरा ध्यान रखूँगा महाराज ! भोजन में भी कंकर-पत्थर नहीं खाऊँगा।" कहकर प्रधान जी महाराज के साथ रवाना हो गए।

घर आने के बाद अब प्रधान जी को अपने लिये हुए नियम का ध्यान आया। वैसे वह अपनी बात के पक्के थे अतः रसोई का काम करने वाले कर्मचारियों से बोले—'देखो ! खाने की सम्पूर्ण वस्तुएँ बड़ी बारीकी से साफ करके बनाया करो, एक भी कंकर भोजन में नहीं आना चाहिये अन्यथा तुम सबको नौकरी से बर्खास्त कर दूँगा।"

नौकर सभी सावधानी से काम करने लगे। हर समय उन्हें मालिक की नाराजगी का भय बना रहता था और मंत्री भी बहुत देख-भालकर भोजन करता

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

था। इस प्रकार व्रत तो मंत्री जी ने बड़ी चालाकी से लिया था किन्तु उसे पालन करना भी सरल नहीं था, उसके लिये भी बहुत विवेक रखना पड़ता था।

इतनी सावधानी और विवेक का परिणाम यह हुआ कि भोजन की प्रत्येक वस्तु शुद्ध रहने लगी तथा कंकरों के साथ ही अनाज आदि में रहे हुए जीव-जन्तु एवं जाले आदि निकलने लग गये।

कुछ समय बाद ही प्रधान जी को महसूस हो गया कि पत्थर खाने का त्याग कर देने से वास्तव में ही बड़ा लाभ हुआ है। क्योंकि विवेकपूर्वक अनाज साफ होता है तथा इसी प्रकार खाना बनता है अतः जीव-जंतुओं की हिंसा से बचा जाता है। उन्हें यह भी समझ में आ गया कि संत जो कुछ भी कहते हैं वह बड़ा सारगर्भित होता है तथा संवर का कारण बनता है। यह शरीर तो एक दिन जाना ही है, इसकी चाहे जितनी हिफाजत क्यों न की जाय, इससे अच्छा तो यही है कि इससे कुछ लाभ उठा लिया जाय।

संस्कृत के एक श्लोक में कहा भी है—

यस्य ग्लानिभयेन नोपशमनम् नायंबिलं सेवितम्।
नो सामायिकमात्मशुद्धिजनकं नैकाशनं शुद्धितः॥
स्वादिष्टासन-पान-यान विभवैर्नक्तंदिवं पोषितम्।
हा नष्टम् तदपि क्षणेन जरया, मृत्या शरीरं रुजा॥

अर्थात्—शरीर की शक्ति क्षीण हो जाएगी इस भय से कभी उपवास नहीं किया, न ही कभी आयंबिल तप ही किया। संत महापुरुषों ने बहुत कहा कि उपवास, आयंबिल नहीं होता तो सामायिक ही कर लो, कम से कम एक घंटा ईश-भक्ति और स्वाध्याय में तो गुजरेगा और उससे आत्म-शुद्धि भी हो सकेगी। किन्तु वह भी नहीं की गई। इसके पश्चात् भी अधिक भूखा न रहा जाय इसलिये एकाशन का विधान किया गया, पर एकाशन भी नहीं हो सका और इस शरीर को खूब स्वादिष्ट खिला-पिला कर पुष्ट किया। किन्तु इससे भी क्या लाभ हुआ ? आखिर तो वह वृद्धावस्था और क्षय को पाकर नष्ट हुआ ही।

कहने का अभिप्राय यही है कि मानव शरीर पाकर भी व्यक्ति कायागुप्ति का ध्यान न रखता हुआ उसे शुभ कार्यों में लगाने के बजाय अशुभ कार्यों में लगाता है तथा दिन-रात अच्छा खिला-पिलाकर उसे पुष्ट करने के प्रयत्न में ही बना रहता है। शरीर को कष्ट न पहुँचे, इसलिये दस कदम चलना भी हो तो मोटर, गाड़ी या अन्य सवारी में चढ़कर ही जाता है। शरीर दुबला न हो जाय इसलिये उपवास,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आयंबिल अथवा एकासन भी कभी नहीं करता तथा सुबह, दोपहर शाम या रात किसी भी समय खाने-पीने में जुटा रहता है। भक्ष्याभक्ष्य का भी ध्यान नहीं रखता तथा मदिरा मांस आदि हिंसाजनित वस्तुओं का निःसंकोच उपयोग करता है। और तो और व्यक्ति रात्रि-भोजन का भी त्याग नहीं करता। भगवान के आदेशानुसार अगर मनुष्य केवल रात को खाना छोड़ दे तब भी एक वर्ष में छः महीने की तपस्या उसके पल्ले पड़ जाती है। आप पूछेंगे यह कैसे? वह इस प्रकार कि चार प्रहर का दिन और चार प्रहर की रात्रि होती है। अतः आत्मोन्नति का इच्छुक व्यक्ति अगर रात में खाने का त्याग कर दे तो रात्रि के चार प्रहर का तप तो उसका सहज ही हो सकता है। एक वर्ष में छः महीने की रात होती है और इसलिये उसकी छः महीने की तपस्या हो जाती है।

लेकिन वह भी तो आज श्रावकों से नहीं बन पाता। वे कहते हैं—'हमें जल्दी भूख नहीं लगती, शाम से खाया नहीं जाता।' अरे भाई! प्रातःकाल अगर समय पर यानी दस बजे के आस-पास व्यक्ति खाना खा ले तो उसे शाम को भूख क्यों नहीं लगेगी? लेकिन वह तो दिन को एक बजे या दो बजे तक खाना खाता है, और ऐसी स्थिति में स्वाभाविक है कि फिर रात तक वह पुनः खायेगा।

इसके अलावा चलिये, सदा ही रात्रि-भोजन का त्याग न सही, कम से कम चतुर्दशी एवं अष्टमी को रात के खाने का त्याग करना चाहिये। पर वह भी नहीं। पूछने और कहने पर जवाब मिलता है—"महाराज, याद नहीं रहती।"

सुनकर बड़ा खेद होता है कि आज व्यक्ति को खाना-पीना, घूमना-फिरना, सैर-सपाटे करना और ठीक समय पर धनोपार्जन के कार्य करना, ये सभी कुछ तो याद रहते हैं और इन्हें ठीक समय पर ही नहीं, समय से पहले ही करने को तैयार रहता है। बस केवल सामायिक, प्रतिक्रमण, पौषध, उपवास अथवा अन्य व्रत नियमों का पालन करना याद नहीं रहता।

पर बंधुओ याद रखो, इस शरीर के द्वारा चाहे आप व्रत-नियम और त्याग-तपस्या करो और चाहे यह कुछ भी न करके खूब सावधानीपूर्वक पौष्टिक खुराक दे-देकर पुष्ट करो, यह तो निश्चय ही एक दिन साथ छोड़ देने वाला है। चाहे इन्द्रियों की क्षीणता से, वृद्धावस्था के आ जाने से, रोगों के आक्रमण से और इन सबसे बच गए तो भी काल के आ जाने पर तो इसे जीव का साथ छोड़ना ही पड़ेगा।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्री उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है—

जस्सत्थि मच्चुणा सक्खं जस्स वऽत्थि पलायणं।
जो जाणे न मरिस्सामि सो हु कंखे सुए सिया॥

—अ० १४-२७

अर्थात्—जिसकी मृत्यु के साथ मित्रता हो, अथवा जो उससे भागकर बच सकता हो अथवा जो यह जानता हो कि मैं कभी मरूँगा नहीं, वही कल पर भरोसा कर सकता है।

इसीलिये भगवान का आदेश है कि जब उत्तम मानव जन्म मिल गया है और काल का आक्रमण कब हो जाय, इसका कोई भरोसा नहीं है तब फिर इस अमूल्य जीवन का एक क्षण भी व्यर्थ नहीं गँवाना चाहिये। साथ ही यह ध्यान रखना चाहिये कि इस जीवन का लाभ शरीर से ही उठाया जा सकता है। सभी प्रकार की धर्म-क्रियाएँ शरीर के माध्यम से ही हो सकती हैं अतः इसे केवल सुख-सुविधा से रखने और पुष्ट करने में ही न लगे रहकर इसके द्वारा त्याग, तपस्या, दान तथा सेवा आदि शुभ क्रियाएँ करके परलोक सुधारने का प्रयत्न करना चाहिये। अगर ऐसा मानव ने नहीं किया तो अन्त में पश्चात्ताप के सिवाय कुछ भी हाथ नहीं आएगा। और अगले जन्म में फिर जीव किस गति में जाएगा क्या, पता। शास्त्र कहते भी हैं—

संबुज्झह, किं न बुज्झह?
संबोही खलु पेच्च दुल्लहा।
णो हूवणमंति राइओ,
नो सुलभं पुणरावि जीवियं॥

—सूत्रकृतांग १-२-१-१

अर्थात्—अभी इसी जीवन में समझो, क्यों नहीं समझ रहे हो? मरने के बाद परलोक में सम्बोधि का मिलना कठिन है।

कितनी सुन्दर बात कही गई है कि इस मानव-जीवन में तो आर्यक्षेत्र, आर्य-जाति, उच्चकुल और सबसे बढ़कर संत जनों का समागम भी हमें मिला है जो कि अपने आत्महितकारी प्रवचनों से हमें पुनः पुनः चेतावनी देते हैं तथा धर्माराधन की कल्याणकारी क्रियाओं में प्रवृत्त होने की प्रेरणा प्रदान करते हैं। पर इतने सब साधनों के प्राप्त होने पर भी, संत-दर्शन तथा उनके धर्मोपदेशों को सुनने का सुयोग प्राप्त होने पर भी हमारी आत्मा नहीं जागती है तो फिर अगले जन्म में यानी परलोक

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

में हमें कौन उद्‌बोधन देगा और हम उद्‌बोधन समझ सकने की स्थिति में होंगे भी या नहीं, यह कौन जान सकता है ?

इसलिये बंधुओ, इस शरीर को सब कुछ मानकर हमें इसकी सार संभाल में ही अपना समय व्यतीत नहीं कर देना है, अपितु इसके द्वारा अधिक से अधिक आत्म-कल्याण कर लेना है। इस शरीर को तो एक दिन समाप्त होना ही है। हम तो क्या चीज हैं, मरुदेवी माता, जिनका आयुष्य एक करोड़ पूर्व का था और धर्मग्रन्थों के अनुसार जिन्होंने अपनी पैंसठ हजार पीढ़ियाँ अपनी आँखों से देखीं थीं, उन्हें भी काल आकर ले ही गया था। फिर आप व हमारी आयु उनके मुकाबले क्या है ? और जितनी हम अंदाज लगाते हैं उतने में भी कदम-कदम पर क्या मृत्यु के द्वारा भय नहीं है ? मृत्यु तो न बच्चे को छोड़ती है न जवानों पर तरस खाती है और न ही वृद्धावस्था का लिहाज करती है। यानी किसी भी अवस्था में और किसी भी क्षण वह तो पलक झपकते ही जीव को ले उड़ती है।

तो इस बात को भली-भाँति समझकर मनुष्य को संवर का आराधन करने के लिये कायागुप्ति को ध्यान में रखते हुए शरीर को शुभ क्रियाओं में प्रवृत्त करना चाहिये। प्रश्न उठता है कि शरीर से शुभ क्रियाएं किस प्रकार की जायें ? इस विषय में कहा गया है—

जयं चरे जयं चिट्ठे, जयमासे जयं सए।
जयं भुञ्जन्तो भासन्तो पावकम्मं न बन्धई॥

—दशवैकालिक सूत्र, अ, ४

अर्थात्—जीव यत्नपूर्वक चले, यत्नपूर्वक खड़ा होवे, यत्नपूर्वक बैठे, यत्नपूर्वक सोवे, यत्नपूर्वक भोजन करे और यत्नपूर्वक भाषण करे तो वह पाप कर्म को नहीं बाँधता है।

सारांश यही है कि अगर मनुष्य पूर्ण सावधानी से जीव-जन्तुओं की रक्षा करते हुए चले, बैठे, सोए तथा भोजनादि करे एवं इसी प्रकार विवेकपूर्वक किसी का मन न दुखाते हुए बोले तो उसकी आत्मा पाप कर्मों से नहीं बँधती। अतः अपनी सामर्थ्य के अनुसार व्यक्ति को व्रतादि ग्रहण करने चाहिए।

शास्त्रों में सभी प्रकार के विधान हैं। जो अधिक त्याग नहीं कर सकता अथवा कड़े नियमों का पालन नहीं कर सकता उसके लिए अणुव्रत बताए गये हैं और जो पूर्णतया दृढ़ है उसके लिए महाव्रत बताए हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आप श्रावकों के व्रत एकदेश कहलाते हैं फिर भी वे सुवर्णालंकार के समान हैं। जिस प्रकार सोने के आभूषण टूट-फूट जाएँ तो पुनः बनवाकर उन्हें नया रूप दिया जाता है, इसी प्रकार आपके व्रतों के भंग होने पर प्रायश्चित्त आदि के विधान से उन्हें पुनः नया बना लिया जाता है।

किन्तु हम लोगों के व्रत मोतियों के आभूषणों के समान हैं। मोती का पानी उतरने पर फिर वह किसी महत्व का नहीं रह जाता, उसी प्रकार हमारे व्रतों का भंग भी साधुत्व को पूर्णतया समाप्त कर देता है। साधु बनने वाला अगर कहे कि मुझे अमुक व्रत में थोड़ी छूट और अमुक व्रत में कुछ गुंजाइश चाहिए तो वह कदापि नहीं हो सकता।

एक बार हमारे पास एक दीक्षार्थी आया। वह बोला—"महाराज ! मैं संयम ग्रहण करना चाहता हूँ किन्तु शरीर के लिए बस रात को थोड़ी सी तम्बाकू खाने की सुविधा चाहिए।" उस दीक्षार्थी को हमने उसी वक्त रवाना कर दिया। क्योंकि हमारे व्रतों में कहीं छूट नहीं है। साधु चाहे जितना बीमार हो और मर भी क्यों न जाय, वह रात्रि को दवा भी नहीं लेता फिर तम्बाकू-सिगरेट जैसी नशीली वस्तु ग्रहण करने का तो सवाल ही कहाँ उठता है ?

तो मेरे कहने का तात्पर्य यही है कि मनुष्य से जितना भी हो सके शरीर-गुप्ति का ध्यान रखना चाहिये तथा प्रत्येक कार्य पूर्ण विवेक एवं यतना पूर्वक करना चाहिये। उसे संकल्पी हिंसा का तो क्या असावधानी और अनजानपने से होने वाली हिंसा से ही बचना चाहिये। जो व्यक्ति अपने व्रतों में दृढ़ होता है, वह अपने आपको तो पाप से बचाता ही है, कोशिश करके औरों को भी पाप-क्रियाओं से बचा लेता है। एक उदाहरण से आप यह बात भली-भाँति समझ लेंगे।

जयपुर के एक राजा के दरबार में दिगंबर धर्म को मानने वाला मंत्री था। वह जैन था अतः श्रावक के व्रतों का पूर्णतया पालन करता था। वह मंत्री अत्यन्त होशियार और राज-कार्य में निपुण था अतः राजा भी उसका बड़ा सम्मान करता था तथा अपना हितैषी मानकर सदा अपने साथ रखा करता था।

एक बार राजा ने शिकार के लिए जाने का निश्चय किया और मंत्री को भी साथ चलने के लिये कहा। मंत्री बड़े पशोपेश में पड़ गया। वह सोचने लगा—"मैं न तो शिकार खेल सकता हूँ और न ही शिकार खेलने वाले की सहायता ही कर सकता हूँ। इसके अलावा शिकार होने वाले प्राणी को किस प्रकार अपनी आँखों के सामने तड़पते हुए देखूँगा ? मेरा तो हृदय ही फट जाएगा। किन्तु राजा की आज्ञा को अमान्य भी कैसे करूँ ?"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार सोचते-सोचते अन्त में उसे विचार आया कि—'मैं राजा के साथ जाऊँगा तो सम्भव है राजा को किसी प्रकार शिकार करने से बचा भी लूं। और अगर भाग्य ने साथ दिया तो हो सकता है राजा का शिकार करना सदा के लिये छूट जाय।'

इसी प्रकार विचारों के ताने-बाने बुनते हुए वह राजा के साथ चल दिया क्योंकि राजाज्ञा का उल्लंघन करना उचित नहीं था।

राजा और मंत्री दोनों ही घोड़े पर सवार गहन वन में चले जा रहे थे कि उन्हें एक हरिण भागता हुआ दिखाई दिया। हरिण की आदत होती है कि वह भागते-भागते भी पीछे मुड़कर देखता जाता है। वह हरिण भी उसी प्रकार बीच-बीच में पीछे मुड़कर देख लेता था।

हरिण की यह क्रिया देखकर राजा ने कुतूहलवश मंत्री से पूछ लिया—"मंत्रिवर! हरिण के इस प्रकार मुड़-मुड़कर देखने का क्या अर्थ है? क्यों देखता है यह इस प्रकार?"

मंत्री बड़ा हाजिर जवाब था अतः उसने ठीक मौका देखकर पहले तो कहा—"महाराज! हरिण के इस प्रकार मुड़कर देखने कारण तो मैं जानता हूं किन्तु कैसे बताऊँ? आप कुपित हो जाएँगे।"

राजा हँस पड़े और बोले—"आप भी क्या बात करते हैं मंत्री जी? भला ऐसी बातों पर भी कहीं मैं नाराज हो सकता हूँ? आप निस्संकोच बताइये कि क्या कारण है इसके मुड़-मुड़कर देखने का।"

"तो सुनिये महाराज! आप क्षत्रिय हैं और यह हरिण भली-भाँति जानता है कि क्षत्रिय भागते हुए दुश्मन पर भी गोली नहीं चलाते। इसी बात को ध्यान में रखकर यह भागता जा रहा है और यही सोचता हुआ मुड़कर देख रहा है कि आप सच्चे क्षत्रिय हैं या नहीं?'

मंत्री की बात सुनकर राजा चुप रह गया। वास्तव में यह बात सच थी कि सच्चा क्षत्रिय पीठ फेरने वाले पर वार नहीं करता। यद्यपि राजा का प्रश्न एवं मंत्री का उत्तर दोनों ही मन बहलाने के लिये थे। किन्तु राजा को बड़ी शर्मिन्दगी महसूस हुई और उसने सोचा—

"सच्चे क्षत्रिय तो भाग जाने वाले शत्रु पर भी गोली नहीं चलाते हैं तो फिर इस भोले हरिण ने या वन के अन्य पशु-पक्षियों ने मेरा क्या बिगाड़ा है जो मैं उन्हें अपनी गोली का शिकार बनाऊँ?"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यह विचार कर उसने उसी क्षण से शिकार खेलने का सदा के लिए त्याग कर दिया।

बन्धुओ, आप समझ ही गए होंगे कि त्याग-नियमों में कितनी शक्ति होती है? मंत्री व्रतधारी था अतः उसने राजा को भी प्रभावित करके उसकी शारीरिक हिंसक क्रियाओं को तिलाञ्जलि दिलवा दी और शरीर के द्वारा की जाने वाली निरर्थक हिंसा पर काबू करवा दिया।

इस प्रकार मुझे यही कहना है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी इन्द्रियों पर, मन पर और शरीर पर अंकुश रखना चाहिए तथा अपना और पर का कल्याण करने का प्रयत्न करते हुए संवर-मार्ग पर बढ़ना चाहिये। तभी भगवान के आदेश का पालन होगा तथा अपनी आत्मा भी कर्म-मुक्त हो सकेगी।

हमारा इतिहास बताता है कि अमितगति नामक एक महा विद्वान जैनाचार्य हुए हैं। आपने 'सुभाषित रत्न संदोह' नामक ग्रन्थ की रचना की है। सुभाषित का अर्थ ही सुन्दर वचन लिया जाता है पर उसमें भी रत्न के समान बहुमूल्य श्लोकों का संग्रह होने के कारण ग्रन्थ बहुत ही उत्तम और दूसरे शब्दों में अमूल्य साबित हुआ है। ग्रन्थ में अनेक विषयों पर प्रकाश डाला गया है और उनमें पाँच समिति एवं तीन गुप्ति भी हैं।

गुप्तियों के विषयों में आचार्य अमितगति का एक श्लोक इस प्रकार है—

'प्रवृत्ये स्वांतवचस्तनूनां, सूत्रानुसारेण निवृत्तयो वा।
यास्ता जिनेन्द्राः कथयन्ति तिस्रो, गुप्तिर्विधूताऽखिल कर्मबन्धः॥

स्वांत यानी मन, वच यानी वाणी और तनु याने काया। मन, वचन और तन, ये तीनों गुप्तियाँ हैं। इन तीनों की प्रवृत्तियाँ हैं जिन्हें बुद्धि एवं विवेक के द्वारा शुभ कार्यों की तरफ ले जाने से आत्म-कल्याण होता है। अभिप्राय यही है कि मन, वचन एवं शरीर की प्रवृत्ति कषायों की ओर होती है जिनसे कर्मों का निविड़ बंध होता है। किन्तु उन प्रवृत्तियों को सूत्र यानी सिद्धान्त के अनुसार निवृत्त करना यानी अशुभ कार्यों की ओर प्रवृत्त होते हुए मन, वचन एवं शरीर को शुभ कर्मों की ओर ले जाना कल्याण मार्ग है और इसी को श्री जिनेश्वर भगवान ने गुप्ति कहा है।

आगे कहा है—जो मुमुक्षु प्राणी इन तीनों गुप्तियों को प्रवृत्ति की ओर से निवृत्ति की ओर मोड़ लेते हैं वे अखिल कर्मों के बन्धनों को तोड़ डालने में पूर्ण समर्थ बन जाते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

क्षणों की महत्ता

इस पंचम काल में तो वैसे भी प्राणियों की औसतन आयु अत्यल्प है पर हम तो इसे भी एक-एक क्षण करके निरर्थक करते चले जा रहे हैं। परिणाम क्या होगा ? जब हम समय की कद्र नहीं करेंगे तो समय कब हमारी परवाह करेगा ? वह तो पानी के स्रोत की तरह निरंतर बहता चला जाएगा।

बन्धुओ, एक-एक क्षण का कितना महत्व है इसका आप अन्दाजा नहीं लगा सकते। फिर भी अगर कुछ समझना है तो धन्ना मुनि के जीवन से यह समझा जा सकता है।

धन्ना मुनि अतुल सम्पत्ति एवं ऋद्धि-सिद्धि से परिपूर्ण कुल में उत्पन्न हुए थे। किन्तु उस सब को ठोकर मारकर वे साधु बन गये और आत्म-कल्याण में जुट गये। उनका संयमी जीवन केवल नौ मास का रहा, जिसमें वे बेले-बेले के पश्चात् पारणा करते थे और पारणे के दिन आयंबिल में वे जो भी रूखा-सूखा लाते थे उसे भी पानी में भिगो देते और कहा जाता है कि इक्कीस बार पुनः-पुनः धोकर उस अन्न को ग्रहण करते थे।

केवल नौ मास की दीक्षावधि में ही उन्होंने ऐसी सराहनीय तपस्या की और मोक्ष में ले जाने वाली 'करणी' कर ली किन्तु आयुष्य-कर्म थोड़ा सा बाकी रह गया था अतः उन्हें सर्वार्थसिद्धि-विमान में जाना पड़ा और उसके पश्चात् एक जन्म लेकर ही वे मोक्ष के अधिकारी बन गए।

यहाँ मुझे आपको यह बताना है कि उनकी आयु में कितना समय बाकी था, जिसके कारण उन्हें सर्वार्थसिद्धि में जाकर एक जन्म और लेना पड़ा ? आपको जानकर आश्चर्य होगा कि केवल सात 'लव' अर्थात् सात क्षण ही उनके आयुष्य-कर्म को और मिल जाते तो वे उसी जन्म में मुक्ति प्राप्त कर लेते किन्तु सात क्षणों की कमी के कारण उन्हें मोक्ष-प्राप्त करने में विलम्ब हुआ।

केवल सात क्षण; क्या इस ज्वलंत उदाहरण से भी आपको समय का महत्व नहीं मालूम होता ? धन्ना मुनि के तो सात क्षणों की कमी ही मुक्ति प्राप्त करने में बाधा बनी, किन्तु हमारे तो क्षण ही क्या, मिनिट, घन्टे, प्रहर, दिन, महीने और वर्ष के वर्ष ही प्रमाद और केवल शरीर को सुख पहुंचाने में व्यतीत होते जा रहे हैं। और व्यतीत भी हो रहे हैं तो सार्थक नहीं वरन् पूर्णतया निरर्थक जा रहे हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यह शरीर तो आप जानते ही हैं कि एक दिन निर्जीव होकर मिट्टी में दब जाएगा या अग्नि की भेंट चढ़ेगा। फिर इसको पुष्ट करना ही जीवन का लक्ष्य मानकर चलने से हमारा कब कल्याण होगा? जीवन का लक्ष्य देह को पुष्ट करते रहना है या संसार से मुक्त होकर पुनः कभी भी देह धारण से निवृत्त होना? इस शरीर की कद्र कब तक है? जब तक इसमें आत्मा है। आत्मा के अलग होते ही यह असह्य ग्लानि और नफरत का कारण बनती है। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार बाल मस्तक पर रहते हैं तब तक वे सुगंधित तेल से सुवासित किये जाते हैं और दिन भर में कई बार संवारे जाते हैं। किन्तु मस्तक से अलग होते ही उनकी कोई कद्र होती है? कोई उन्हें पूछता है या उन्हें सम्हाल कर रखता है? किसी कवि ने कहा भी है—

"हा, केश आज भूपर, कैसे पड़े हुए हैं?
मस्तक से जो कतर कर नीचे गिरा दिये हैं।
अब वो नहीं है खुशबू, पैरों तले दबे हैं,
पुंछते जो रोज थे वो, धूली पै आ पड़े हैं।
राजा रईस उनमें, नाना इतर लगाते
सुरभित उन्हें बनाकर, दिल में खुशी मनाते।
पर हाय, आज केशव, निज स्थान च्युत हुए हो,
हा! स्थान भ्रष्ट होकर अपमान पा रहे हो।"

भावुक कवि जमीन पर पड़े हुए धूलि-धूसरित बालों को देखकर खेद प्रकट करता हुआ कहता है अफसोस है कि ये बाल जो कभी किसी के मस्तक की शोभा थे, आज काटकर जमीन पर फेंक दिये गये हैं।

इन्हीं बालों को जब कि वे किसी राजा, रईस या अन्य व्यक्तियों के सिरों पर होंगे, नाना प्रकार के सुगन्धित तेल व इत्र से सुवासित किया जाता होगा और इन्हें भाँति-भाँति से संवारा जाता होगा। लोग बड़े गर्व से इन्हीं बालों पर हाथ फेरकर प्रसन्न होते होंगे।

किन्तु अपने स्थान से च्युत होकर आज ये कितने अपमानित हो रहे हैं और पैरों तले रौंदे जा रहे हैं।

यह तो हुई है केशों की बात। यद्यपि केशों को मस्तक से काटकर गिरा दिया गया है और वे यत्र-तत्र बिखर रहे हैं, फिर भी इनकी दशा शरीर से बेहतर है। बालों को काट कर कम से कम छोड़ तो दिया जाता है। पर शरीर से जीवात्मा के चले जाने पर तो मनुष्य उसे देखकर डरता है। अल्पकाल में ही उसमें से उठने

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वाली दुर्गन्ध से नाक-भौंह सिकोड़ता है, इतना ही नहीं वह तब तक चैन नहीं लेता, जब तक कि उसे श्मशान में ले जाकर शीघ्रातिशीघ्र भस्मीभूत न कर दे या पृथ्वी में बहुत गहरे न दबा दे।

शरीर के इस अन्त को प्रत्येक व्यक्ति देखता है और समझता है कि मृत्यु के पश्चात् इसका कोई लाभ नहीं, कोई इसे देखकर प्रसन्न होने वाला नहीं और न ही इसके सौन्दर्य और परिपुष्टता पर रीझने वाला ही है। फिर भी वह नहीं चेतता। अर्थात् केवल शरीर का जतन ही जीवन भर करता है,आत्मा का भला नहीं सोचता। आत्मा का भला अगर व्यक्ति सोच ले तो वह इसी शरीर के द्वारा अनन्त कर्मों का क्षय कर सकता है।

आत्म-उत्थान का साधन भी यह शरीर है और आत्म-पतन का भी। जिस प्रकार तीक्ष्ण औजारों से ऑपरेशन आदि करके डॉक्टर मरीज की जीवनावधि बढ़ा देते हैं, उन्हीं औजारों से क्षण भर में ही जीवन-डोरी काटी भी जा सकती है। दूसरा उदाहरण अग्नि का भी लिया जा सकता है कि जिस आग से बनाया हुआ भोजन शरीर को जीवन प्रदान करता है वही आग जीवन को नष्ट भी कर डालती है।

अन्त में मुझे केवल यही कहना है कि संवर के भेदों में मनगुप्ति, वचन-गुप्ति और कायगुप्ति का जो महत्व बताया है उस पर दृढ़ विश्वास रखते हुए हमें अपने मन, वचन और शरीर को विषयों की ओर जाने से मोड़ना चाहिए तथा धर्माराधन की ओर प्रवृत्त करना चाहिये। शरीर की अपेक्षा आत्मा का महत्व अधिक है क्योंकि शरीर तो अल्पकाल में ही साथ छोड़ देगा किन्तु उसके कारण अगर आत्मा कर्म-बन्धनों से अधिक जकड़ गई तो न जाने कितने जन्मों तक नाना प्रकार की यातनाएँ भोगनी पड़ेंगी। अतः अपनी गुप्तियों की सहायता से हमें शरीर का मोह छोड़कर संवर-धर्म पर अग्रसर होना है।

दशवैकालिक सूत्र में धर्म पर दृढ़ रहने के लिए कितना प्रेरणात्मक आदेश दिया है—

'चइज्ज देहं न हु धम्मसासणं।

यानी देह को (आवश्यकता पड़ने पर) भले ही छोड़ दो, किन्तु अपने धर्म-शासन को मत छोड़ो।

जो भव्य पुरुष इस बात को हृदयंगम कर लेते हैं वे इस लोक में भी संतुष्ट और सुखी रहते हैं तथा परलोक में भी सुखी बनते हैं।

●●

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

१४ | भोजन किया न किया....!

धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एवं बहनो !

भगवान ने संवर तत्त्व के सत्तावन भेद बताए हैं। उनमें से प्रथम आठ भेद जिनमें पाँच समिति और तीन गुप्ति हैं, इनका वर्णन अब तक किया जा चुका है। अब अगले भेदों में बाईस परिषह बताए जाएँगे।

परिषह किसे कहते हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में विषय इस प्रकार समझा जा सकता है कि धर्मरक्षा के लिए, निवृत्ति मार्ग पर सुदृढ़ रहने के लिए तथा आत्म-कर्मों की निर्जरा के लिए जब साधक संयम मार्ग पर बढ़ता है तब उसके मार्ग में नाना प्रकार की बाधाएँ और कष्ट आते हैं, उन्हें ही परिषहों की संज्ञा दी जाती है।

श्री तत्त्वार्थसूत्र के नवें अध्याय में लिखा गया है—

मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहाः।

धर्म के मार्ग से च्युत न होने के लिए और निर्जरा के लिए जो कष्ट सहन किये जाते हैं वे ही परिषह कहलाते हैं। शास्त्रकारों ने बाईस परिषह बताये हैं। हम संतों के लिए तो परिषह सिर्फ बाईस हैं किन्तु आप लोगों के तो बाईस पर दो बिन्दियाँ और लगा दी जायें तब भी शायद कम पड़ेंगी।

परिषहों को समता पूर्वक सहन करने से कर्मों की निर्जरा होती है पर अगर मन चचल हो गया और उन्हें सहते समय दुःख और खेद का अनुभव किया या हाय-हाय करने लग गये तो कर्मों की निर्जरा नहीं होगी। इसलिये महापुरुष कहते हैं कि अगर कर्म क्षय करने हैं जो पूर्ण सम-भाव रखो तथा उस समय इस जीवन को अल्प तथा शरीर को नाशवान मानकर इन पर से ममता छोड़ दो। कष्ट सहन करते समय ऐसी भावना होनी चाहिए कि—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

"कौन बच सकता है यहाँ, इस काल की तलवार से ?
क्यों न पकड़ूँ सत्य मारग सुख से रहने के लिए।
ज्ञान रूपी जल को ले मैं द्वेष अग्नि दूँ बुझा,
लोभ, मोह अरु क्रोध आदि सब को हरने के लिये।

कवि का कथन है कि काल रूपी इस तलवार से न तो आज तक कोई बचा है और न भविष्य में भी बचेगा। फिर मैं परलोक में शाश्वत सुख को प्राप्त करने के लिए सत्य एवं संवर का मार्ग क्यों न अपनाऊँ ?

सन्त-मुनिराज अपने मन में यही भावना रखते हैं कि जब मुझे शाश्वत सुख की प्राप्ति करना ही है तो फिर परिषहों से घबराना कैसा ? कर्मों के भुगतान को अगर रोते-रोते चुकाया तो क्या लाभ होगा ? जब भोगना ही है तो हँसकर भोगना चाहिये। पूज्यपाद श्री तिलोकऋषिजी महाराज अपनी कविता में फरमाते हैं कि—

लेनदार मांगन को आया,
तैयारी रख देवन की।

लेनदार तो अपना धन वसूल करेगा ही, छोड़ेगा तो नहीं, चाहे रो-रोकर दें या हँसकर। तब फिर रोने से क्या फायदा। कर्मों के भुगतान का भी यही हाल है। वे तीर्थंकर, चक्रवर्ती को भी नहीं छोड़ते। समदृष्टि जीव भी नरक में जाते हैं क्योंकि समदृष्टि तो वे बाद में बनते हैं लेकिन पूर्व में बंधे हुए कर्म तो भोगने ही पड़ते हैं।

राजा श्रेणिक जो कि आगामी चौबीसी में तीर्थंकर बनने वाले हैं, इस समय नर्क की क्षेत्र-वेदना को भोग रहे हैं क्योंकि तीर्थंकर गोत्र बाँधने से पहिले ही उनके निविड़ कर्म बँधे हुए थे।

तो मेरे कहने का अभिप्राय यही है कि कर्मों का भुगतान तो अवश्य ही करना पड़ता है और वे ही परिषह के रूप में सामने आते हैं। किन्तु अगर उन्हें सम-भाव से सहन कर लिया जाय तो कर्मों की निर्जरा हो जाती है और विषम भाव हृदय में लाने पर जहाँ पूर्व कर्म ही नहीं झड़ पाते, वहाँ नवीन कर्मों का बन्धन हो जाता है।

कवि ने आगे कहा है—'कितना अच्छा हो कि मैं सम्यक् ज्ञान रूपी जल से संसार के अन्य प्राणियों के प्रति रही हुई अपनी द्वेषाग्नि को बुझा दूँ। क्योंकि जब मुझ में ईर्ष्या-द्वेष नहीं रहेगा तो क्रोध, लोभ एवं मोह आदि भी मेरा पीछा छोड़ देंगे।' लेकिन यह तभी तो हो सकेगा जबकि ज्ञान एवं समता रूपी शीतल जल अन्तः करण में हिलोरें लेगा।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

गज सुकुमाल मुनि के मस्तक पर उनके ससुर सोमिल ब्राह्मण ने खैर के जलते हुए अंगारे रख दिये थे लेकिन उनके अन्तर्मानस में समभाव की इतनी शीतल धारा प्रवाहित थी कि मरणांतक कष्ट पहुंचाने वाले उस व्यक्ति के प्रति भी उनके मन में क्रोध या द्वेष की अग्नि प्रज्वलित नहीं हुई। यह उनकी दृढ़ समता की भावना से ही संभव हुआ। ऐसे-ऐसे उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि भावना में कितनी शक्ति होती है और उसका कितना महत्व माना जाता है। एक छोटा सा उदाहरण है—

अद्भुत अतिथिसत्कार

एक बार एक घी का व्यापारी और चमड़े का व्यापारी दोनों साथ-साथ अपनी इच्छित वस्तुएँ खरीदने के लिए अपने नगर से रवाना हुए।

चलते-चलते एक शहर आया और वे एक सेठ के यहाँ रात्रि व्यतीत करने के लिये ठहरे। सेठ ने उन्हें खुशी से अपने यहाँ ठहराया किन्तु घी खरीदने वाले व्यापारी को अपनी हवेली के अन्दर स्थान दिया और चमड़ा खरीदने वाले को बाहर। चमड़े के खरीददार को यह बहुत बुरा लगा किन्तु वह करता क्या? रात बितानी थी अतः मन मारकर हवेली के बाहर बरामदे में ही सो गया। उधर घी का व्यापारी हवेली के अन्दर ठहराया जाने के कारण बड़ा प्रसन्न हुआ और ठाठ से सो गया।

प्रातःकाल होते ही दोनों पुनः रवाना हो गये। सेठ से दोनों ने ही कुछ नहीं पूछा। कुछ दिन पश्चात् दोनों अपनी-अपनी वस्तुएँ खरीदकर अपने नगर में पहुँच गये।

संयोगवश कुछ महीनों के पश्चात् वे घी और चमड़े के व्यापारी फिर साथ-साथ अपनी-अपनी चीजें बेचने के लिए निकले। मार्ग में फिर उसी शहर के पास रात्रि हो गई जहाँ वे पहले ठहरे थे। अतः वे इस बार भी उसी सेठ के यहां पहुंचे और रात्रिविश्राम के लिए इच्छा व्यक्त की।

सेठजी बड़े भले थे और अतिथियों के सत्कार की भावना रखते थे। उन्होंने सहर्ष दोनों को ठहरने के लिये स्वीकृति दे दी। किन्तु आश्चर्य की बात यह हुई कि इस बार उन्होंने चमड़े के व्यापारी को अन्दर हवेली में ठहराया तथा घी के व्यापारी को बाहर! दोनों ही सेठजी के इस व्यवहार को देखकर दंग रह गये और प्रातःकाल इसका कारण पूछे बिना न रह सके।

प्रभात होते ही व्यापारियों ने पूछ लिया—

"सेठ साहब! हम वही तो दोनों व्यक्ति हैं जो आपके यहाँ पहले और अब

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आये हैं। पर आपके अतिथि-सत्कार में क्या रहस्य है कि आपने हम दोनों को पिछली बार जिन स्थानों पर ठहराया था, इस बार उन्हें बदल दिया?"

सेठजी व्यापारियों के प्रश्न पर मुस्कराये और बोले—"भाई मैं जानता हूँ कि आप वही दोनों व्यक्ति हैं जो पहले भी मेरे यहाँ आकर ठहरे थे। पर मैंने इस बार जानबूझकर आप दोनों के स्थान बदले हैं। इसका कारण यह है कि आप दोनों की भावनाओं में पहले और अभी में बड़ा अन्तर है।"

सेठ की बात सुनकर व्यापारी और भी चकराये पर बोले कुछ नहीं, क्योंकि उन्हें कुछ सूझ ही नहीं रहा था। अतः सेठजी ने स्वयं ही उनकी जिज्ञासा को शांत करने के लिये बताना शुरू किया—"देखो बन्धु! आप दोनों ही व्यापारी हैं और मेरे लिये समान रूप से आदरणीय हैं। किन्तु आप लोगों के दोनों बार आने में स्वयं आपकी भावनाओं में बड़ा अन्तर था। और वह इस प्रकार कि आप में से जो घी खरीदना चाहता था वह चाहता था कि घी सस्ता मिले और जो चमड़ा खरीदना चाहता था वह सोचता था कि चमड़ा सस्ता मिले। किन्तु घी तभी सस्ता होता जबकि देश में खुशहाली होती और चमड़ा तब सस्ता होता जबकि पशु अधिक मरते।"

"तो उस समय घी खरीदने वाले की भावना उत्तम थी और चमड़ा खरीदने वाले की निकृष्ट। इसीलिए मैंने भावना को महत्व देते हुए घी खरीदने वाले को अन्दर ठहराया था और चमड़ा खरीदने वाले को बाहर। किन्तु इस बार आप दोनों की भावनाएँ बदली हुई हैं क्योंकि आप में से एक घी बेचना चाहता है और एक चमड़ा। पर घी बेचने वाला घी महँगा बेचना चाहता है और सोचता है कि देश में घी-दूध की कमी हो जाय तो मेरा घी महँगा बिक सके। इस हीन भावना के कारण मैंने इस बार घी बेचने वाले को बाहर ठहराया और चमड़ा बेचने वाले को अन्दर क्योंकि वह चमड़ा महँगा बेचना चाहता है अतः सोचता है कि पशु बहुत कम मरें तो चमड़ा कम निकले और मेरा चमड़ा महँगा बिक सके।"

सेठ की बात सुनकर तथा उनके हृदय में भावनाओं की ऐसी परख देखकर दोनों व्यापारी अत्यन्त शर्मिन्दा हुए और अपनी भावनाओं के लिये पश्चात्ताप करते हुए वहाँ से रवाना हो गये।

कहने का अभिप्राय यही है कि मनुष्य को कर्मों की निर्जरा करने के लिये संवर धर्म का आराधन करना चाहिये और उसके लिए सर्वप्रथम उसे अपनी भावनाओं में सरलता, शुद्धता एवं समता लाना चाहिये। जब तक व्यक्ति की भावनाओं में क्रोध, मोह, लोभ एवं तृष्णा का स्थान रहेगा, तब तक उसकी आत्मा निर्मल नहीं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हो सकेगी। अतः प्रत्येक विषम परिस्थिति में मनुष्य को समभाव रखने का प्रयत्न करना चाहिए और जो भी संकट या कष्ट आएँ उन्हें शांति के साथ सहना चाहिए।

अभी मैंने आपको बताया है कि संयम की साधना के मार्ग में मुख्य बाईस परिषह समय-असमय आते हैं जो कि भूख, प्यास, शीत, ताप आदि— हैं। क्रमानुसार इनका विवेचन किया जाएगा। आज तो हम प्रथम परिषह भूख अर्थात् क्षुधा को ले रहे हैं।

संसार का प्रत्येक प्राणी क्षुधा परिषह से परिचित है। किन्तु इससे विशेष परिचित वे अभावग्रस्त व्यक्ति हैं जिन्हें कठिन परिश्रम करने पर भी भरपेट अन्न कभी नहीं मिलता और नित्य ही आधा पेट खाकर रहना पड़ता है। आप अमीरों को तो क्षुधा-परिषह का कष्ट भोगना नहीं पड़ता क्योंकि आपका तो पहले का खाया हुआ ही पच नहीं पाता कि आप और खा लेते हैं तथा दिन या रात जिस समय भी इच्छा होती है उत्तमोत्तम खाद्य पदार्थ उदरस्थ करते रहते हैं।

तो प्रथम तो निर्धन व्यक्ति क्षुधा परिषह सहन करते हैं और दूसरे संत-मुनिराज। अब हमें यह देखना है कि दोनों के सहन करने में क्या अन्तर होता है तथा किसके कर्मों की निर्जरा होती है?

इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार दिया जा सकता है कि एक निर्धन व्यक्ति जिसे भरपेट अन्न जुट ही नहीं पाता उसे प्रथम तो मजबूर होकर भूख का कष्ट सहन करना पड़ता है, दूसरे वह उस कष्ट को रोते-झींकते और हाय-हाय करते हुए सहन करता है। भोजन के अभाव में वह आर्तध्यान करता है और उठते-बैठते भगवान को कोसा करता है। ऐसी स्थिति में क्या उसके कर्मों की निर्जरा होती है? नहीं, जो वस्तु प्राप्त ही नहीं होती उसके लिये त्याग का प्रश्न कहाँ आता है? दूसरे वह अप्राप्य वस्तु के अभाव को शांति और सम-भाव से भी तो स्वीकार नहीं करता। अतः भोजन के अभाव में उस भूख को सहने का कष्ट परिषह को सहना या जीतना नहीं कहलाता।

इसके अलावा कभी-कभी भोज्य-पदार्थों के अभाव में अत्यन्त दुखी और क्रोधित व्यक्ति मौका पाते ही चोरी करने लगता है, डाकू बन जाता है तथा अनेक बार तो किसी की हत्या करके भी अपनी उदरपूर्ति का उपाय करता है। इसलिये ऐसे व्यक्तियों का भूखा रहना परिषह को सहना नहीं कहलाता और न ही उससे आत्मा को कोई लाभ ही होता है। कभी-कभी तो ऐसे व्यक्ति जिनको न खाने को पूरा मिलता है और न ही उनके घर द्वार या सम्पत्ति होती है, वे यह सोचकर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

संन्यासी भी बन जाते हैं कि कम से कम साधु बन जाने पर भरपेट भोजन तो मिलता रहेगा। किसी ने कहा भी है—

नारि मुई घर सम्पत्ति नासी।
मूड़ मुड़ाय भये संन्यासी॥

पर ऐसे संन्यासियों के साधुत्व की नींव त्याग पर आधारित नहीं होती अतः वे संन्यस्त-धर्म का पालन भी समीचीन रूप से नहीं कर सकते। सच्चा साधु या संन्यासी वही होता है जो प्राप्त ऐश्वर्य या जितनी धन-सम्पत्ति भी उसके पास होती है, उसका वह इच्छा से त्याग करता है। ऐसा त्याग ही उसकी आत्मा को कर्म-मुक्त कर सकता है।

योगशास्त्र में कहा गया है—

"स्वयं त्यक्ता ह्येते शमसुखमनन्तं विदधति।"

—इन सांसारिक भोगों का अपनी इच्छा-पूर्वक परित्याग कर देने से अनन्त सुख रूप मोक्ष की प्राप्ति होती है।

यहाँ यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि अधिक धन-सम्पत्ति या अथाह वैभव का त्याग करना ही अधिक महत्वपूर्ण नहीं कहलाता है, अपितु थोड़ा धन या चार बरतन भी जिसके पास हों और वह व्यक्ति पूर्ण रूप से उन्हें त्याग करने की भावना से छोड़ता है तो वह त्याग भी उतना ही महत्वपूर्ण होता है जितना अधिकाधिक वैभव का त्याग करना। तात्पर्य यह कि त्याग की भावना का महत्व अधिक होता है, त्यागी जाने वाली सम्पत्ति की मात्रा का नहीं। त्याग तृष्णा का कहलाता है और उसका त्याग करने वाला ही त्यागी साबित होता है। एक छोटा सा उदाहरण है—

बाईसवीं पीढ़ी क्या खाएगी ?

एक सेठजी अपनी दुकान पर बैठे थे। दीपावली का समय था अतः मुनीम के द्वारा किये हुए हिसाब-किताब के बही-खाते उनके समक्ष खुले हुए रखे थे। सेठजी ने बहीखातों को देखा तो उन्हें महसूस हुआ कि मेरे पास इतना धन तो है कि मेरी इक्कीस पीढ़ियाँ भी कुछ कार्य न करें तो बैठे-बैठे खा सकती हैं।

पर साथ ही उन्हें यह भी विचार आया कि मेरा यह धन इक्कीस पीढ़ियों तक के लिये तो पर्याप्त है किन्तु बाईसवीं पीढ़ी फिर क्या खायेगी ? यह विचार आते ही सेठजी को चिन्ता सवार हो गई और उनका चेहरा उतर गया।

ऐसी ही मनःस्थिति में वे घर पहुंचे। घर पर सेठानी पति की प्रतीक्षा कर रही थी कि सेठजी आएँ तो भोजन करें। किन्तु जब सेठजी घर आए और सेठानी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ने उनका चेहरा चिन्तित और उदास देखा तो पूछ लिया—"क्या बात है ? क्या दुकान पर कोई गड़बड़ हो गई ?"

सेठजी ने उत्तर दिया—"नहीं, गड़बड़ तो कुछ नहीं हुई। बात यह कि आज अपनी दुकान का और अन्य सभी प्रकार की आमदनियों का हिसाब-किताब हुआ है और उससे मालूम हुआ है कि हमारी इक्कीस पीढ़ियाँ अपने धन को बैठे-बैठे खा सकती हैं। किन्तु मैं सोचता हूँ कि यह धन जब इक्कीस पीढ़ियाँ ही खा पाएँगी तो फिर बाईसवीं पीढ़ी क्या करेगी, वह क्या खायेगी ?"

सेठानी ने पति की बात सुनकर मन ही मन अपना माथा ठोक लिया। सेठजी की भावना पर उसे बड़ा आश्चर्य और खेद हुआ। किन्तु वह बड़ी समझदार थी अतः उसने पति को ठिकाने लाने के प्रयत्न में कहा "सेठजी ! लगता है कि हमारी ग्रह-दशा आजकल ठीक नहीं है अतः अच्छा हो कि हम कुछ दान-पुण्य करें और ब्राह्मणों को भोजन कराएँ।"

सेठजी ने अन्यमनस्कता की स्थिति में उत्तर दिया—'मेरा दिमाग तो कुछ काम नहीं करता, तुम जो ठीक समझो करो, जाओ, और अपने पड़ौस में ही जो ब्राह्मण देवता हैं उन्हें भोजन के लिए बुला लाओ।"

सेठजी की बात सुनकर सेठानी ब्राह्मण को बुलाने गई, किन्तु कुछ देर बाद वह अकेली ही लौट आई। यह देखकर सेठ ने पूछा—

"क्या हुआ ? ब्राह्मण देवता भोजन करने नहीं आये ?"

"नहीं, उन्होंने कहा है कि हम भिक्षुक हैं और हमें आज का भोजन प्राप्त हो चुका है।"

"तो उन्हें कल के लिए निमन्त्रण दे दिया होता।" सेठ ने पुनः कहा।

सेठानी बोली—"मैंने ब्राह्मण से कहा था कि आप कल हमारे यहाँ भोजन करने के लिए पधारना किन्तु उन्होंने कहा दिया है—मैं कल की चिन्ता आज नहीं करता।"

यह बात सुनकर सेठजी दंग रह गये और विस्मय से सेठानी की ओर देखने लगे। मौका ठीक जानकर सेठानी ने सेठ को समझाने के तौर पर कहा—"सेठजी, वह ब्राह्मण तो कल की चिन्ता भी आज नहीं करता पर आप तो बाईसवीं पीढ़ी के लिए भी आज ही चिन्ता कर रहे हैं।"

सेठानी की बात सुनकर सेठजी की अक्ल ठिकाने आ गई और उन्होंने अपनी निरर्थक चिन्ता और तृष्णा के लिये पश्चात्ताप करते हुए सतोषवृत्ति को धारण किया।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उदाहरण से स्पष्ट होता है कि ब्राह्मण के समान ही संतोष, निश्चितता और तृष्णारहित वृत्ति जिसकी होती है वही व्यक्ति इस संसार में सुखी रहता है तथा अवसर आते ही अपने परिग्रह को तिनके की भांति छोड़ सकता है।

शंकराचार्य ने 'मोहमुद्गर' में लिखा है—

सुरमन्दिरतरुमूलनिवासः शय्याभूतलमजिनं वस्त्रः।
सर्वपरिग्रहभोगत्यागः कस्य सुखं न करोति विरागः॥

—जो देवमंदिर या पेड़ के नीचे पड़े रहते है, जमीन ही जिनकी शैय्या है, मृगछाला ही जिनका वस्त्र है और सारे विषय भोग के सामान जिन्होंने त्याग दिये हैं यानी जो सम्पूर्ण कषाय और वासना से रहित हो गये हैं, ऐसे मनुष्य क्यों नहीं सुखी रहते ? यानी त्यागी सदा सुखी हैं।

क्षुधा परिषह

बन्धुओ, प्रसंगवश मैंने अभी त्याग तथा तृष्णा आदि के विषय में बताया है, किन्तु हमारा आज का मूल विषय बाईस परिषहों में से प्रथम क्षुधा परिषह को लेकर है।

आप जानते ही हैं और अभी मैंने भी बताया है कि दो प्रकार के व्यक्ति क्षुधा परिषह सहन करते हैं। एक तो वे जिन्हें अन्न जुटता नहीं अतः वे रोते-धोते मजबूरन उस कष्ट को भोगते हैं तथा दूसरे सच्चे सन्त-मुनिराज, जो इच्छा और त्याग की भावना से इस परिषह को जीतते हैं। उन्हें भिक्षा मिलती है तो अपनी संयमसाधना का निर्वाह करने के लिए शरीर को भाड़ा दे देते है, और न मिले तो भी पूर्ण आनन्द और शांति से अपने मार्ग पर बढ़ते जाते हैं। इतना ही नहीं, भिक्षा मिल जाने से ही वे उसे ले लेते हैं, यह भी बात नहीं है। वे वही भोज्य-पदार्थ ग्रहण करते हैं जो पूर्णतया निर्दोष हो।

भगवान महावीर ने बाईस परिषहों में से प्रथम परिषह क्षुधा-वेदनीय बताया है। इस विषय में 'श्री उत्तराध्ययन सूत्र' में कहा गया है—

परिसहाणं पविभत्ती, कासवेणं पवेइया।
तं मे उदाहरिस्सामि, आणुपुव्विं सुणेह मे।
दिगिंछा परिगए देहे, तवस्सी भिक्खु थामवं,
न छिंदे न छिंदावए, न पए न पयावए।

—अध्ययन २, गा० १-२

कहा गया है—काश्यप गोत्रीय भगवान महावीर ने परिषहों का विभाग

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

करने के लिए जो कुछ कहा है, वह मैं आपके सामने कहूँगा और आप मेरी बात क्रमशः सुनें।

कहते हैं— सन्त-मुनिराज एवं तपस्वी अपने शरीर को रखने के लिये भिक्षार्थ जावें किन्तु वे किसी वस्तु का छेदन-भेदन न करें और न किसी से करावें। न वे स्वयं पकावें और न ही किसी से पकवाएँ। अपितु श्रावक के घर में सहज भाव से मिला हुआ अचित्त और निर्दोष आहार लावें।

वस्तुतः सधे संत जहाँ तक बनता है, कर्मों की निर्जरा करने के लिए एकाशन, उपवास, आयंबिल आदि तप करते हैं। उन्हें भोज्य-पदार्थों में तनिक भी आसक्ति नहीं होती। जो कुछ भी रूखा-सूखा तथा निर्दोष आहार मिल जाता है उसे केवल शरीर कायम रखने के लिये ग्रहण करते हैं। क्योंकि बिलकुल ही आहार या ओंगन न देने पर यह शरीर रूपी गाड़ी नहीं चलती और इसके न चलने पर ज्ञान, ध्यान, जप एवं तप आदि कुछ नहीं हो पाता।

यह तो हुई भिक्षा ग्रहण करने की बात। पर भिक्षा लाते समय भी साधु के समक्ष अनेक कठिनाइयाँ आ उपस्थित होती हैं। अनेक बार तो गृहस्थ भिक्षा दें चाहे नहीं, पर गालियां तो दे ही देते हैं। उनके द्वारा कहे गए अपशब्दों को भी साधु पूर्ण धैर्य और समता के साथ सहन करता है। अपशब्दों और कटु-वचनों का सुनना भी 'आक्रोश परिषह' में आता है। जिसके विषय में समयानुसार कहा जाएगा।

तो, साधु भी आहार ग्रहण करता है किन्तु गृहस्थों के समान नहीं कि चाहे जैसा और चाहे जब खा लिया। वह भिक्षा के मुख्य ब्यालीस दोषों को टलाकर ही निर्दोष आहार लेता है अन्यथा कुछ नहीं खाता और फिर भी पूर्ण आनन्द तथा शांति पूर्वक अपनी साधना में लग जाता है। इस प्रकार एक निर्धन व्यक्ति घर में अन्न न रहने पर भूखा रहता है और साधु अपने नियमों का पालन करने के लिए तथा सदोष आहार न लेने के कारण भूखा रहता है। दोनों में कितना अन्तर है? निर्धन व्यक्ति जबकि भूखा रहने के कारण अत्यन्त दुःख का अनुभव करता है, साधु उलटा शांति और आनन्द को प्राप्त करता है। क्योंकि वह जानता है—

अप्पाहारस्स न इंदियाइं, विसएसु संयंन्तंति।
नेव किलम्मइ तवसा, रसिएसु न सज्जए यावि॥

—बृहत्कल्पभाष्य १३३१

अर्थात् जो अल्पाहारी होता है, उसकी इन्द्रियाँ विषयभोग की ओर नहीं दौड़तीं। तप का प्रसंग आने पर भी वह क्लांत नहीं होता और न ही सरस भोजन में आसक्त होता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार साधु आहार ग्रहण करके और न करके भी वैसे ही प्रसन्न, शांत और सुखी रहते हैं। उनकी आत्मा दोनों अवस्थाओं में एक समान रहती है। वे खाकर भी उपवास करते हैं और न खाकर भी।

आप सुनकर चकित होंगे कि यह कैसी बात है ? क्या खा लेने पर भी उपवास होता है ? हां, खा लेने पर भी व्यक्ति उपवास कर सकता है। पर इसे समझने के लिए हमें पहले यह जानना होगा कि उपवास किसे कहते है। उपवास का अर्थ है—आत्मा के समीप रहना। जो व्यक्ति आत्म-रमण करता है। चिंतन और मनन की गहराई में उतरता है वह अपनी आत्मा के निकट अधिक से अधिक रहता है। इस विषय को एक सुन्दर उदाहरण से समझा जा सकता है।

गंगाजी ने मार्ग कैसे दिया ?

कहा जाता है कि एक बार द्वारिका नगरी के बाहर दुर्वासा ऋषि आए। प्राचीन काल में संत-मुनिराज नगरों के बाहर ही प्रायः ठहरा करते थे। दुर्वासा ऋषि भी नगर के बाहर ठहर गये। जब नगरी में उनके आने का समाचार आया तो महाराज कृष्ण की रानियों ने उनके दर्शन करने का विचार किया और कृष्ण से इस बात की आज्ञा मांगी।

कृष्ण ने सहर्ष रानियों के लिये दुर्वासा ऋषि के दर्शनार्थ जाने का सम्पूर्ण प्रबन्ध कर दिया। किन्तु मार्ग में गंगा नदी आती थी अतः रानियों ने शंका व्यक्त कि—"हम गंगा नदी को कैसे पार करेंगी ?"

रानियों की बात सुनकर कृष्ण बोले—

"वाह ! यह कौन सी बड़ी बात है ? तुम लोग गंगा नदी से कह देना कि अगर कृष्ण ब्रह्मचारी हों तो वह मार्ग दे देवे।"

रानियाँ यह सुनकर सोचने लगीं—

'अब तो हो चुके ऋषिराज के दर्शन। महाराज कैसे ब्रह्मचारी हैं यह तो हम लोग जानती ही हैं। पर खैर····चलने में क्या हर्ज है ? गंगाजी को पार नहीं कर सकेंगी तो घूम-घाम कर लौट आएँगी।" यह विचार कर वे सब रवाना हो गईं। जब उनकी पालकियाँ और रथ आदि गंगा के तट पर पहुंच गये तो कौतुकवश एक रानी ने हाथ जोड़कर कहा—"गंगा मैया, अगर हमारे पति ब्रह्मचारी हैं तो आप हमें मार्ग दे दीजिये !"

इन शब्दों का उच्चारण करने के साथ ही साथ रानियों ने दंग होकर देखा कि वास्तव में ही गंगा नदी दो हिस्सों में बँट गई है। फिर क्या था, सारी रानियाँ

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अपार हर्ष से भरकर सहज ही गंगा के उस पार पहुँच गईं और दुर्वासा ऋषि के दर्शनार्थ जा पहुंचीं।

रानियों का काफिला काफी समय तक वहाँ रुका। सबने वहीं पर भोजन किया और महारानियों की तीव्र भक्ति एवं अत्यन्त आग्रह करने के कारण दुर्वासा ऋषि ने भी उनका लाया हुआ भोजन ग्रहण किया।

इस सब के बाद पुनः लौटने की तैयारी हुई, पर रानियाँ फिर चिन्ता में पड़ गईं कि एक बार तो गंगा नदी ने शायद कृपा करके ही रास्ता दे दिया होगा पर अगर अब वह मार्ग नहीं देगी तो फिर किस प्रकार हम घर पहुंचेगीं ? अपनी उस समस्या को उन लोगों ने इस बार ऋषिराज के समक्ष रखा।

रानियों की बात सुनकर दुर्वासा ऋषि मुस्कराये और बोले—"तुम लोग तनिक भी फिक्र मत करो। जब गंगा नदी आ जाये तो उससे कह देना—"अगर दुर्वासा सदा उपवास करते हों तो वह हमें मार्ग दे दे।"

ऋषि की बात सुनकर सभी रानियाँ फिर भौंचक्की रह गईं। आज उनके लिये आश्चर्य पर आश्चर्य था। वे सोचने लगीं—"अभी-अभी तो ऋषि ने हमारे निमन्त्रण और आग्रह पर भोजन किया है और गंगा मैया से कहलवा रहे हैं कि दुर्वासा प्रतिदिन उपवास करते हों तो वह हमें मार्ग देवें।"

ऐसा विचार आने से रानियों को भरोसा तो नहीं हुआ कि गंगाजी उन्हें मार्ग देगीं, किन्तु यह शंका ऋषि के समक्ष रखी भी कैसे जा सकती थी ? वे दुर्वासा ऋषि थे, पलक झपकते ही आगबबूला होकर श्राप दे देते तो फिर क्या होता ? चुपचाप रानियां वहाँ से रवाना हो गईं और गंगा के तट पर पहुंचीं। बड़ी व्यग्रता से उन्होंने पुनः गंगा से निवेदन किया—

"गंगा माता ! अगर दुर्वासा ऋषि प्रतिदिन उपवास करते हों तो आप हमें उस पार पहुँचने के लिए मार्ग दीजिये।"

इन शब्दों का उच्चारण होना ही था कि गंगा नदी पुनः दो हिस्सों में विभाजित हो गई और बीच में सुन्दर रास्ता बन गया। श्री कृष्ण की समस्त रानियाँ अपने दल सहित आनन्द पूर्वक गंगा के इस पार आ गईं और समय पर राजमहल में पहुँच गईं। पर आज की अद्भुत बातों को वे पचा नहीं सकीं और कृष्ण महाराज के महल में आते ही उनसे प्रश्न कर बैठीं—

"महाराज ! कृपया हमें बताइये कि आप स्त्री-सुख भोगते हुए भी ब्रह्मचारी कैसे हैं, और दुर्वासा ऋषि भोजन करने पर भी उपवास किस प्रकार किया करते हैं ? जिनके प्रभाव से गंगाजी भी रास्ता दे देती हैं।"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

श्री कृष्ण ने अपनी रानियों को समझाया—"बात यह है कि उस व्यक्ति के प्रभाव से गंगाजी रास्ता देती हैं जो सदा अपनी आत्मा में रमण करता हो, यानी अपनी आत्मा के निकट रहता हो। मैं सचमुच ही ब्रह्मचारी हूं क्योंकि 'ब्रह्म' का अर्थ आत्मा और 'चर्य' का अर्थ रमण करना होता है। इसी प्रकार 'उप' का अर्थ निकट और 'वास' का मतलब निवास करना होता है। इस प्रकार हम दोनों ही आत्मा में रमण करते हैं और आत्मा के निकट रहते हैं। यही कारण है कि गंगा मैया ने हमारी प्रार्थना पर तुम लोगों को मार्ग दे दिया था।"

बन्धुओ ! आप भी समझ गए होंगे कि उपवास का अर्थ क्या होता है, और व्यावहारिक दृष्टि से जो उपवास किया जाता है वह किसलिये किया जाता है ? यद्यपि हम एक दिन भूखे रहने को उपवास की संज्ञा देते हैं किन्तु उसका सच्चा आशय आत्मा में रमण करना होता है। संत मुनिराज ऐसे ही उपवास करते हैं और इसीलिये उन्हें आहार मिले या न मिले, कोई अन्तर महसूस नहीं होता। आत्मिक आनन्द की अनुभूति कुछ ऐसी ही होती है, जिसके कारण भूख-प्यास आदि कोई भी परिषह अपना दुखदायी प्रभाव साधक के मन पर नहीं डाल पाता। उसकी आत्मिक शक्ति मरणांतक परिषह को भी परिषह नहीं समझती अपितु निर्जरा का साधन मानती है।

हमें भी ऐसी प्रबल शक्ति को प्राप्त करना चाहिये ताकि संवर-मार्ग पर हम सुगमता से बढ़ सकें तथा अपना इहलोक और परलोक सुधार सकें।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

१५ | कटिबद्ध हो जाओ !

धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एवं बहनो !

इस विश्व में जो भी व्यक्ति जन्म लेता है, उसका यह कर्तव्य होता है कि वह जिस धर्म में और जिस जाति में उत्पन्न हुआ हो उसके लिये कुछ न कुछ करे। देश, धर्म और कौम का उस पर एक प्रकार से ऋण होता है और वह ऋण इस प्रकार माना जाता है कि वह जहाँ जन्म लेता है वहाँ की धरती से अपने शरीर को टिकाता है, अपनी जाति और समाज में शिक्षा प्राप्त करता है तथा धर्म के द्वारा उत्तम संस्कारों को अपनाता है। दूसरे शब्दों में वह जो कुछ भी होता है अपनी मातृभूमि, धर्म और समाज की देन होता है। अतः उस ऋण को चुकाने के लिए उसे केवल अपना और अपने परिवार का ही नहीं, अपितु देश, धर्म और समाज का ध्यान भी रखना चाहिये।

आप योग्य बनकर जो कुछ कमाते हैं, उससे अपने परिवार का पालन-पोषण तो करते ही हैं किन्तु उस धन का कुछ भाग औरों के लिये या परमार्थ के लिये खर्च करना भी आवश्यक है।

संत-महापुरुष आपको यही उपदेश देते हैं कि आप अपना और साथ ही दूसरों का भी भला करो। संतों को उपदेश देने का निषेध नहीं है। वे आपको मार्ग सुझा सकते हैं, किन्तु आपको मजबूर नहीं कर सकते। संतों की बात मानना और उसके अनुसार करना यह आपकी इच्छा और रुचि पर निर्भर है।

श्री मुणोत जी ने अभी हमसे शुभ-कामना करने के लिये कहा है। मुणोतजी का कहना उचित है और हम भी इस बात को मानते हैं। किन्तु वैसे भी अपनी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मर्यादा को भंग न करते हुए जो कुछ कहना चाहिये उसे कहने में हम पीछे नहीं रहते और न ही पहले कभी रहे हैं। दिल केवल उसी बात को कबूल नहीं करता है, जिसके कारण किसी भी प्रकार से हमारी मर्यादा टूटती हो।

उदाहरण स्वरूप किसी ने कहा—"आप लाउडस्पीकर में क्यों नहीं बोलते ?" अब इसका क्या उत्तर दें ? यही कि, इससे हमारी परम्परा में बाधा आती है। वैसे जहाँ पच्चीस या सौ व्यक्ति हों, वहाँ भी लाउडस्पीकर में बोलने वाले हैं, किन्तु हमने अगर उसका उपयोग किया तो हम पराधीन हो जाएँगे। जिस प्रकार कोई गवैया सदा तबले और हारमोनियम के साथ ही गाता है और ऐसी आदत होने पर फिर कभी उनके न होने पर गाने में कठिनाई का अनुभव करता है।

संत सब एक साथ नहीं रहते, अलग-अलग विचरण करते हैं और उनकी धारणाएँ भी अलग-अलग हैं। आज अगर मैं लाउडस्पीकर का प्रयोग करूँगा तो पंखे की आदत भी शुरू हो जाएगी। गोचरी के लिए जाने पर कहीं पंखा चालू हुआ तो वहाँ भी कुछ थम जाएँगे। इसलिये मेरा कहना यह है कि अगर चली आ रही परम्परा में सामूहिक रूप से कोई परिवर्तन आता है तो उससे किसी एक पर आक्षेप नहीं आता। आप सब मिलकर चाहें तो प्रयत्न करें। अकेला एक संत क्या कर सकता है ?

पुस्तकों के प्रकाशन के बारे में भी अभी कहा गया है, किन्तु यह तो सभी करते हैं अतः किसका निषेध करेंगे ? हाँ, कोई नई चीज प्रारम्भ करने के विषय में मैं मौन रहता हूं और टाल देता हूं। आप लोग चाहें तो कर सकते हैं। आपको कुछ काम करना है तो अकेले भी प्रारम्भ कर सकते हैं और धीरे-धीरे औरों को साथ लेकर उसे ठीक ढंग से निर्णय की ओर ले जा सकते हैं। उसमें मेरा निषेध नहीं है।

आप लोग श्रीमन्त हैं अतः अन्य साधारण व्यक्तियों पर सहज ही प्रभाव डाल सकते हैं इसलिए सर्व-प्रथम आपको शिक्षण देने के लिए तैयार होना चाहिए। हमें उपदेश देने में समय नहीं लगेगा, समय तो आपको कार्य करने में लगेगा।

प्रसन्नता और संतोष की बात है कि महाराष्ट्र में श्रावकों का संगठन हो सके, इसके लिये पूना और चिंचवड़ में कमेटियाँ बनी हैं और उनकी मीटिंगें हुई हैं। वे कमेटियाँ संगठन करना चाहती हैं अतः आप भी इसके लिये तैयार रहें। यह कार्य एक व्यक्ति का नहीं है, समाज का है और समाज मिलकर ही कर सकेगा। किन्तु उसके लिये आप सभी व्यक्तिगत रूप से सहयोग देने की भावना रखेंगे तभी सफलता मिल सकेगी।

अभी-अभी आपने जिन बातों के कार्य-रूप में परिणत होने की इच्छा व्यक्त

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

की हैं, वे कब संगठित होंगी ? जबकि आप लोगों में संगठन होगा । इसलिए स्थान-स्थान पर अधिवेशन करते हुए तथा लोगों को अपने विचार समझाते हुए और उनके भी विचार लेते हुए उनका पालन करना आपका प्रथम कर्तव्य है । इस प्रकार आपको संगठित होकर कार्य करना है और सफलता तभी मिलेगी जब श्रावक-संघ प्रत्येक कार्य करने में एकमत होगा ।

संगठन से किस प्रकार सफलता मिलती है, यह किसी कवि के द्वारा लिखी गई एक सीधी-साधी कवितामय लघु कथा से आपको ज्ञात हो सकता है । कविता इस प्रकार है—

एक पिता के कई पुत्र थे,
पर वे सब थे बड़े गँवार ।
कलह परस्पर उनमें अक्सर,
होती रहती थी निस्सार ॥
किया बहुत उद्योग पिता ने,
पुत्रों को समझाने का ।
मगर हुआ निष्फल सब उसका,
सुतविद्वेष मिटाने का ॥

कविता का अर्थ बिलकुल सरल है । इसमें कहा गया है कि एक व्यक्ति के कई पुत्र थे, किन्तु वे सब अज्ञानी और अविवेकी थे । इसी कारण वे सब आपस में निरर्थक और नगण्य बातों को लेकर सदा झगड़ते रहते थे । पिता ने नाना प्रकार से समझाते हुए उन्हें आपस में प्रेम और संप रखने के लिये कहा । किन्तु उसका सारा प्रयत्न निष्फल गया ।

कहानी बड़ी सरल है पर उससे बड़ा गम्भीर अर्थ भी लिया जा सकता है । जैसे—हम भी परम पिता भगवान महावीर के पुत्र और अनुयायी हैं, लेकिन दिगम्बर, श्वेताम्बर, मन्दिरमार्गी, स्थानकवासी एवं तेरापंथी आदि अपने आपको मानकर आपस में भेदभाव रखते हैं । परिणाम यह होता है कि सरकार के द्वारा किसी बात को मनवाने की शक्ति हम में उत्पन्न नहीं होती । अगर हममें से प्रत्येक व्यक्ति स्वयं को किसी सम्प्रदाय का ठेकेदार न मानकर सिर्फ जैन-धर्म को मानने वाला जैन कहे और इस प्रकार एक होकर बुलन्द आवाज से माँग करें तो क्या हमारी माँग को सरकार ठुकराने की हिम्मत कर सकती है ? नहीं, बहुमत के समक्ष तो उसे झुकना ही पड़ेगा, ईसाई और पारसी आदि धर्मों के अनुयायी इने-गिने हैं । किन्तु वे संगठित रहते हैं अतः अपने इरादों में सफल हो जाते हैं । इधर जैनधर्म के अनुयायी लाखों

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हैं पर वे संगठित नहीं रहते इसलिये सरकार को झुकाने की बात तो दूर है, वे अपना सोचा हुआ स्वयं भी अमल में नहीं ला पाते।

आज आप में से और हम लोगों में से भी अनेक व्यक्ति देश, काल और वस्तु स्थिति को देखते हुए पुरानी परम्पराओं में कुछ सुधार करना आवश्यक समझते हैं, किन्तु वे हो नहीं पाते क्योंकि हम सबके विचार ही आपस में नहीं मिलते। उलटे कविता में बताये गये पिता के उन पुत्रों के समान आपस में एक-दूसरे को उपालम्भ देते हैं, एक-दूसरे पर आक्षेप करते हैं और मौका मिलने पर औरों को बदनाम करने से भी नहीं चूकते।

ऐसी स्थिति में किस प्रकार सामाजिक या धार्मिक-सुधार हो सकता है ? यह ठीक है कि कभी-कभी चन्द व्यक्ति स्टेज पर खड़े होकर अपने विचार प्रस्तुत करते हैं किन्तु वे कार्यान्वित किस प्रकार हो सकते हैं, जबकि अन्य सभी व्यक्ति उन विचारों पर एकमत न हों और उन्हें अमल में लाने का प्रयत्न न करें।

कविता में आगे कहा गया है—

हो हताश अंत में उसने,
मन में ऐसा किया विचार।
वे उत्तम दृष्टान्त ऐक्य का,
इनका अब मैं करूं सुधार॥
ले गट्ठर लकड़ी का उसने,
उनके सम्मुख फेंक दिया।
जोर लगाकर इसे तोड़ दो,
ऐसा उसने हुक्म दिया॥

आपस में निरन्तर झगड़ने वाले पुत्रों के पिता ने जब देखा कि समझाने से उसके लड़के नहीं समझते तो उसने उनकी अक्ल ठिकाने लाने के लिए एक उपाय सोचा। वह उपाय यह था कि उसने लकड़ियों का गट्ठर मंगवाया और उसे अपने लड़कों के सामने रखते हुए बोला—'मैं देखना चाहता हूँ कि तुममें कितनी ताकत है ? कौन इस बंधे हुए गट्ठर को तोड़ सकता है ? जरा तोड़कर बताओ !'

पर परिणाम क्या निकला ? यह बताते हैं—

किया जोर बहुतेरा सबने,
टूट सका ना वह गट्ठर।
फेंक दिया पृथ्वी पर सबने,
थके सभी ताकत कर कर॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पिता की बात सुनकर लड़कों ने एक-एक करके उस गट्ठर को तोड़ने की कोशिश की। किन्तु किसी से भी वह टूट नहीं सका। अन्त में हताश होकर उन्होंने पुनः उसे पृथ्वी पर पटक दिया।

देख हाल उसने पुत्रों का,
उस गट्ठर को खोल दिया।
एक-एक लकड़ी को तोड़ो,
यह उनको आदेश दिया॥
तब तो उन्होंने आसानी से,
झटपट उनको तोड़ दिया।
कहा पिता ने क्या तुमने कुछ,
इस शिक्षा पर ध्यान दिया॥

पिता ने जब देखा कि लड़कों में से किसी से भी वह गट्ठर नहीं टूटा तो उसने भारी को खोलकर एक-एक लकड़ी अलग कर दी और कहा—"अब इनको एक-एक करके तोड़ो !" फिर क्या था, लड़कों ने एक-एक लकड़ी उठाई और आसानी से उन्हें तोड़ डाला। इस पर पिता ने कहा—"क्या इस कार्य से तुम्हें कुछ शिक्षा मिली ?" लड़के चुप रहे, उन्हें कुछ नहीं सूझा। यह देखकर पिता ने कहा—

देखो मेरे प्यारे पुत्रो !
यही एकता का है सार।
जब तक ये सब मिली हुई थीं,
टूट सका नहीं तुम से भार॥
इसी तरह तुम भी हिलमिलकर,
अगर रहोगे आपस में।
क्या मजाल है प्रबल शत्रु भी,
जो तुमको कर ले बस में॥
भिन्न-भिन्न रहने से पुत्रो,
दुश्मन तुम्हें दबायेगा।
बिखरे हुए काष्ठ सम तुमको,
खंड खंड कर डालेगा॥

पिता कहता है—' पुत्रो ! इस गट्ठर ने तुम्हें एकता की शिक्षा दी है। जब तक ये संगठित थीं यानी इनमें एकता थी, तब तक इन्हें तुम तोड़ नहीं सके। किन्तु ज्यों ही ये बिखरीं, तुम लोगों ने अलग-अलग पाकर इन्हें तोड़ डाला।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इसीलिए मैं कहता हूं कि तुम सब भी आपस में मिल-जुल कर रहना सीखो। अगर तुम सब में एकता रहेगी तो प्रबल दुश्मन भी तुम्हारा बाल बांका नहीं कर सकेगा। अन्यथा कोई साधारण व्यक्ति भी तुम्हारी इज्जत को, गौरव को तथा अभिमान को धूल में मिला देगा।"

बन्धुओ! हमें भी इस सुन्दर कथा से शिक्षा ग्रहण करनी है। आज के इस विषम युग में अगर हम जैनधर्म के अनुयायी भी आपस में संगठित होकर नहीं रहेंगे तो अन्य धर्मावलम्बी हमारे धर्म पर आक्षेप करेंगे और इसे हीन साबित करने में नहीं चूकेंगे। हमारे धर्म और समाज रूपी भवन को दृढ़ रखने के लिये हमें उसकी नींव मजबूत बनानी होगी। आप देखते ही हैं कि व्यक्ति एक साधारण सा मकान भी अगर बनाता है तो पहले उसकी नींव को पक्की करता है। यद्यपि वहाँ कोई रहता नहीं है, किन्तु मकान को स्थिर रखने के लिये उसका पक्का होना अनिवार्य है। इसी प्रकार हमारे जैनधर्म या स्याद्वादधर्म का भवन जो कि सभी धर्मों को अपने में स्थान देता आया है, और जिसका लोहा सारा विश्व मानता है उसे हमें उसी प्रकार दृढ़ रखना है और उसे दृढ़ रखने के लिये एकता रूपी नींव को खोखली नहीं होने देना है।

हम लोग तो आपको उपदेश देते हैं और प्रेरणा प्रदान करते हैं। किन्तु कार्य तो आपको ही करना होगा। श्रावकों के बिना सन्त क्या कर सकते हैं? कुल्हाड़ी में शक्ति बहुत होती है पर जब तक उसमें डंडा नहीं लगा होता, वह अपना कार्य नहीं कर पाती। इसी प्रकार संतों की वाणी में प्रबल शक्ति होती है किन्तु वह तभी काम में आती है जब श्रावकों का सहयोग होता है। दोनों पूरी एकता से काम करें, तभी समाज और धर्म की उन्नति हो सकती है। अगर श्रावक समुचित सहयोग न दें तो सन्त का कोई भी सुझाव कार्यरूप में परिणत नहीं हो सकता।

अभी आपने फिजूलखर्ची के विषय में भी बहुत कुछ कहा है। आपका कहना यथार्थ है पर इस पर रोक भी आप लोगों को सम्मिलित होकर लगानी पड़ेगी। एकता का एक सुन्दर उदाहरण आपको बताता हूँ। प्रतापगढ़ में दिगम्बर समाज के चार सौ घर हैं। पर वहाँ के लोगों में बड़ी भारी एकता है। यहाँ तक कि वे फिजूलखर्ची न हो इसलिये वे एक ही वक्त में ब्याह-शादियाँ करते हैं। कभी-कभी तो पचास-पचास दूल्हे एक ही बैंड-बाजे के साथ जाते हैं, जिनके साथ उतनी ही दुल्हिनें भी होती हैं।

इस रिवाज का कारण संभवतः आप नहीं समझे होंगे। बात यह है कि समाज में सभी व्यक्ति अमीर नहीं होते और जो अमीर नहीं होते उनके लिये अधिक खर्च करना अपने पेट पर लात मारने के समान होता है। इसलिये धनी व्यक्ति बाजे वगैरह में

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

खर्च करते हैं और साथ में उन लोगों का कार्य भी निकल जाता है जो अधिक खर्च नहीं कर सकते। इस प्रकार कम खर्च में उनके यहाँ अधिक शादियाँ हो जाती हैं। पर आप ऐसा सोचने वाले कितने हैं ? गरीबों को सहारा देना तो दूर, श्रीमन्त व्यक्ति अधिक से अधिक खर्च करके मध्यम श्रेणी के व्यक्तियों को कठिनाई में डाल देते हैं। मध्यम श्रेणी के लिये मैंने इसलिये कहा है कि निर्धन व्यक्ति, जिनका समाज में विशेष स्थान नहीं होता, जैसा भी बनता है खर्च करके अपने कार्य निपटा लेते हैं, क्योंकि कोई उनकी निन्दा नहीं करता।

किन्तु लखपति और करोड़पति न होने पर भी मध्यम वर्ग के व्यक्ति अपनी योग्यता, शिक्षा और उच्च पदवियों के कारण समाज में अपना उच्च स्थान रखते हैं और उनका गौरव श्रीमन्तों से कम नहीं होता। वे कीर्ति और प्रतिष्ठा तो बहुत अर्जित कर लेते हैं किन्तु लाखों रुपया उनके पास शादियों में लगाने के लिए नहीं होता। इधर पैसे वाले होड़ा-होड में अधिक से अधिक खर्च करके उन्हें कठिनाई में डाल देते हैं।

मैंने सुना था कि जयपुर के धनी व्यक्ति बीस-बीस हजार तो केवल रोशनी के प्रबन्ध में ही खर्च कर देते हैं। इस हिसाब से शादियों में कितना व्यय किया जाता होता ? क्या मध्यम श्रेणी का व्यक्ति इस प्रकार लाखों रुपये एक-एक विवाह में खर्च कर सकता है ? नहीं, इन्हीं सब बातों को ध्यान में रखते हुए आपको दहेज आदि की प्रथाओं में सुधार करना चाहिए।

मारवाड़ में तो लोगों ने मीटिंग करके एक 'धाम भरण' बाँधा है, ऐसा मालूम हुआ है। किन्तु उस पर कितना अमल होता है यह कहा नहीं जा सकता। इसके अलावा दहेज आदि की प्रथा में तो उधर भी कोई सुधार हुआ हो यह बात दिखाई नहीं देती। एक कवि ने कहा है—

लड़के का जब ब्याह रचावें, श्री मुख से श्रीमान् सुनावें,
चाहिये तीस हजार।
घड़ी अंगूठी सूट चाहिये, सैंडल चप्पल बूट चाहिये,
हार रेडियो कार।
इस मशीन हो सीने वाली, सोफा, सैट कटोरी थाली,
मेज कुर्सियां चार।
ऐसे आते कई बराती, पीते मद्य शर्म न आती,
गिरते बीच बाजार।
फैला ऐसा भ्रष्टाचार .....

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कवि ने लड़के वालों के लोभ का दृश्य अपनी पंक्तियों में प्रस्तुत किया है। आज के युग में किस प्रकार अपने लड़कों के दाम बढ़ाकर वे लड़की वालों को परेशान करते हैं यह असत्य नहीं है। इसीलिये आप सबको मिलकर समाज की सभी कुप्रथाओं को त्याज्य घोषित करके उनमें सुधार करना चाहिये। किन्तु ये सभी बातें तभी संभव हो सकेंगी जबकि आप श्रीमन्त लोग पहले कदम उठाएंगे और कटिबद्ध होकर इन कार्यों में जुटेंगे।

केवल सन्त ही यह बोझ नहीं उठा सकते। वे आपको समझा सकते हैं, आपको मार्गदर्शन कर सकते हैं पर संतों के विचारों को मूर्त-रूप तो आप लोग संगठित होकर ही दे सकते हैं। इसीलिये मैं बार-बार आपसे कहता हूँ कि आप लोग अपने विचारों में साम्य लावें और यह ध्यान रखें कि अगर समाज सुदृढ़ रहेगा तभी धर्म टिकेगा। दीवार रहने पर ही उस पर रंग ठहरता है। दीवार के न रहने पर रंग के ठहरने का प्रश्न ही नहीं उठता।

बन्धुओ! समाज में कुरीतियाँ और कुप्रथाएँ नई नहीं हैं। इन्हें बहुत दिनों का कचरा समझना चाहिये। और काफी प्रयत्न की जरूरत समझ कर इन्हें साफ करने का प्रयत्न भी अधिक करना चाहिये। ऐसा करने पर ही परिवारों में शांति रहेगी, समाज गौरवशाली बनेगा तथा देश भी विश्व के अन्य देशों के समक्ष अपना मस्तक ऊँचा रख सकेगा।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

१६ | समझ सयाने भाई !

धर्मप्रेमी बंधुओ, माताओ एवं बहनो !

संवर आत्म-कल्याण का मार्ग है। संवर शब्द का अर्थ होता है 'रोकना'। संस्कृत में भी कहा गया है—'संव्रियते इति संवरः।' कर्मों को आने से रोकना संवर कहलाता है। इसके लिये मन और इन्द्रियों को इनके विषयों की ओर प्रवृत्त होने से रोकना चाहिये।

संवर तत्व के सत्तावन भेदों में प्रथम पाँच भेद समितियों के और तीन गुप्तियों के हैं। इन आठों का वर्णन करने के बाद बाईस परिषहों में से प्रथम क्षुधा-परिषह का वर्णन मैंने किया था। क्षुधा-परिषह संवर का नवाँ भेद है।

क्षुधा यानी भूख। भूख प्रत्येक व्यक्ति को लगती है चाहे वह साधु हो या श्रावक। संत तुकाराम जी ने कहा है—

'पोट लागले पाठीशी, हिंडविते देशोदेशी।'

यह पेट जो कि पीठ से लगा हुआ है, व्यक्ति को देश-विदेश में भटकाता है। आप लोग अपनी जन्मभूमि, माता-पिता और पत्नी-पुत्रादि सभी को छोड़कर दूर-दूर के देशों में जाते हैं, वह क्यों ? दो पैसे कमाकर पेट भरने के लिए ही तो। अगर पेट न होता या उसके कारण भूख का अनुभव न होता तो कोई भी व्यक्ति अथक परिश्रम नहीं करता और अपने परिवार को छोड़कर इधर-उधर नहीं भटकता।

भूख हमें भी लगती है

हम लोग भी यद्यपि साधु बन गये हैं और सांसारिक झमेलों से दूर हैं, किन्तु भूख हमें भी लगती है और इसलिये भिक्षाचरी के लिये घर-घर में जाते हैं। यह

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बात दूसरी है कि आप लोग अपना पेट भरने के लिए धन का संग्रह तो करते ही हैं साथ ही वर्षों के लिए अनाज आदि का संग्रह करके अपने भंडार भी भर लेते हैं। इसलिये आपको क्षुधा-परिषह सहन करने की नौबत कम ही आती है।

किन्तु साधुओं के लिये यह बात नहीं है। वे न तो अपने पास पैसा ही रखते हैं और न ही अन्न का संचय करते हैं। यहाँ तक कि सुबह भिक्षा लाने के पश्चात् वे शाम की भी फिक्र नहीं करते, फिर कल की बात तो दूर होती है। आहार का वक्त होने पर वे अपने स्थान से निकलते हैं और निर्दोष आहार मिल जाता है तो ले आते हैं। भिक्षा सदोष होने पर या न मिलने पर वे परम शांति पूर्वक लौट आते हैं तथा अपने ज्ञान, ध्यान में लग जाते हैं।

अनेक बार ऐसे प्रसंग आते हैं जबकि निर्दोष आहार नहीं मिलता और उन्हें भूखा रहना पड़ता है। आप जानते ही हैं कि शरीर खुराक माँगता है और वह न मिलने पर साधारण व्यक्ति आकुल-व्याकुल हो जाता है। किन्तु साधारण व्यक्ति और साधु में जमीन आसमान का अन्तर होता है। भिक्षा के मिलने और न मिलने की स्थिति में भी साधु के हृदय में किसी प्रकार की व्याकुलता अथवा खेद उत्पन्न नहीं होता है। इसी को क्षुधा-परिषह पर विजय पाना अथवा परिषह को सहना कहते हैं।

तो आज हमें क्षुधा-परिषह के समान ही महत्व रखने वाले संवर के पिपासा-परिषह को लेना है। यह संवर का दसवां भेद है। जीवन के धारण करने के लिए अन्न के समान ही जल भी आवश्यक है, बल्कि अन्न से अधिक इसकी आवश्यकता रहती है। अन्न के अभाव में तो मनुष्य कई घन्टे, कई दिन और कई महीने भी जीवित रह जाता है, किन्तु जल के बिना वह अधिक समय जीवित नहीं रह सकता। इसलिये ही जीवन प्रदान करने वाले जल का अभाव पिपासा-परिषह कहलाता है।

पिपासा-परिषह

आप लोगों को तो यह परिषह सहन करने का अवसर क्वचित् ही आ पाता होगा और वह भी कभी घण्टे दो घण्टे के लिए। क्योंकि आप सचित्त जल ग्रहण करते हैं और वह कदम-कदम पर मिल सकता है।

पर साधु के लिए अचित्त अथवा प्रासुक जल की प्राप्ति होना कठिन होता है। और जब वे एक शहर से दूसरे शहर और एक गाँव से दूसरे गाँव जाते हैं तब तो उनके लिये निर्दोष जल की प्राप्ति कठिनाई से भी बढ़कर मरणांतक कष्ट का कारण बन जाती है। किन्तु उस अवस्था में भी वे कभी सचित्त जल ग्रहण नहीं करते। पूर्ण समभाव रखते हुए परिषह को सहन करते हैं। दूसरे शब्दों में शरीर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

और शरीर की आवश्यकता के प्रति उपेक्षा रखते हुए आत्म-चिंतन में लीन रहते हैं। यहाँ तक कि समाधिभाव धारण करके प्राण-त्याग भी हो जाय तो परम शांतिपूर्वक शरीर छोड़ देते हैं।

'श्री उत्तराध्ययन सूत्र' में कहा गया है—

तओ पुट्ठो पिवासाए, दोगुंछी लज्जसंजए।
सीओदगं न सेविज्जा, वियडस्सेसणं चरे॥

अध्ययन २, गा. ४

भगवान महावीर ने संयम की सही साधना करने वाले के लिए कहा है—'तओ पुट्ठो', अर्थात् उसके पीछे, यानी क्षुधा के पीछे पिपासा का अनुभव करने पर भी कदाचार से घृणा करने वाला साधु सीओदगं, यानी शीतजल, दूसरे शब्दों में सचित्त जल का सेवन कदापि न करे। अपितु प्रासुक जल की खोज करे।

इसी विषय को और भी स्पष्ट करते हुए आगे कहा गया है—

छिन्नावाएसु पंथेसु आउरे सुपिवासिए।
परिसुक्कमुहाऽदीणे तं तितिक्खे परीसहं॥

— उत्तराध्ययन सूत्र, २-५

अर्थात् गरमी के कारण लोगों के आगमन से रहित मार्ग में अति तृषा से आकुल और परिशुष्क मुख हुआ साधु भी अदीन मन से पिपासा के इस परिषह को सहन करे।

भावार्थ यही है कि भले ही ग्रीष्म ऋतु का ताप कितना ही प्रखर हो और मार्ग में विचरण करते हुए साधु को असह्य प्यास सताये, पर फिर भी वह सचित्त जल का कभी उपयोग न करे तथा समता पूर्वक पिपासा-परिषह को सहन करे, इसी को सच्ची साधुवृत्ति का धारण करना कहा जा सकता है।

और वास्तव में ऐसा होता भी है। अनेक बार संत अपने प्राण-त्याग कर देते हैं किन्तु ग्रहण किये हुए व्रतों का भंग नहीं करते। एक उदाहरण आपको बताता हूं जो कि हमारे मगन मुनि जी का आँखों देखा है।

परिषह-विजय

बोदवड़ में मोतीलालजी कोटेचा थे। घर भी उनका बड़ा सम्पन्न था और परिवार भी। पाँच भाई थे और सभी एक-दूसरे पर जान देने वाले। किन्तु मोतीलाल जी को मानव जन्म की कीमत महसूस हो गई और उन्होंने संसार से विरक्त होकर दीक्षा ग्रहण कर ली। वे पूज्य श्री जवाहरलाल जी म० के शिष्य बने और शूरवीरता से सच्चे मायने में संयम का पालन करने लगे।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

एक समय जबकि मगन मुनिजी उनकी सेवा में थे और साथ ही विचरण कर रहे थे। एक गांव की ओर चले। भयंकर गर्मी पड़ रही थी और मोतीलालजी म०, मगन मुनिजी तथा करनीलाल जी म० आगे बढ़ते गये। अस्वास्थ्य की दशा में तथा भीषण गर्मी में चलते हुए सभी को प्यास का अनुभव हुआ और मोतीलाल जी म०, को तो तीव्र ज्वर, साथ ही सन्निपात भी हो गया। यद्यपि मार्ग में शीत जल प्राप्त हो सकता था किन्तु साधु कब अपना व्रत-भंग करके सचित्त जल ग्रहण करता है ?

तो जब मोतीलाल जी म० का स्वास्थ्य चिंतनीय हो गया तो मगन मुनिजी को उनके पास छोड़कर करनीलाल जी म० पानी की गवेषणा में आगे गये। उन्हें लौटकर आने में देर लगी और इधर पिपासा-परिषह को परम शांतिपूर्वक सहन करते हुए मोतीलालजी म० स्वर्गवासी हो गये। मगन मुनिजी के द्वारा ही उन्होंने संथारा ग्रहण किया था।

तात्पर्य यही है कि चाहे प्राण चले जायँ, किन्तु मुनिराज सचित्त जल का कभी स्पर्श भी नहीं करते। यहाँ यह भी ध्यान में रखने की बात है कि जिस प्रकार संयम मार्ग में बढ़ने वाले साधु क्षुधा की तीव्रता होने पर भी सदोष आहार नहीं लेते तथा पिपासा-परिषह के असीम होने पर भी सचित्त जल को ग्रहण नहीं करते, उसी प्रकार सद् श्रावक को भी अभक्ष्य को अंगीकार नहीं करना चाहिए। धर्मवीर व्यक्तियों का गौरव इसी में है कि वे महा-संकट के समय में भी अपने धर्म से मुँह न मोड़ें तथा अपने कर्तव्यों से च्युत न हों।

श्रावकधर्म की महत्ता

बन्धुओ, आपको जानना चाहिये कि साधु के तथा श्रावकों के नियमों में यद्यपि अन्तर होता है, किन्तु श्रावक या सद्गृहस्थ को पूर्णतया छूट नहीं रखनी चाहिये। यह ठीक है कि परिषहों को सहन करने में उनके बीच तरतमता होती है और न्यूनाधिकता भी आ जाती है, पर वहाँ भी भावना महत्वपूर्ण होती है।

आपने अबड़ संन्यासी के विषय में सुना होगा, जिनके सात सौ शिष्य थे। यद्यपि उनके लिये सचित्त जल का त्याग नहीं था किन्तु अदत्त अर्थात् बिना दिए जल नहीं लेना ऐसा व्रत लिया था, अटवी में किसी गृहस्थ का संयोग नहीं मिलने के कारण सभी ने अनशन करके अपने प्राण त्याग दिये पर अदत्त जल ग्रहण नहीं किया।

इसीलिये मेरा कहना है कि साधु-पुरुषों के समान ही श्रावकों को भी अपने व्रतों के अनुष्ठान में पूर्णतया सजग रहना चाहिये।

योगशास्त्र में कहा गया है—

"सकाम निर्जरा सारं तप एव महत् फलम्।"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

—इच्छापूर्वक कष्ट, परिषह एवं उपसर्ग आदि सहन करने से सकाम-निर्जरा की उत्पत्ति होती है, जो कि आदर्श तपस्या है और जिसके फलस्वरूप कर्म क्षय होते हैं।

तो बन्धुओ, ग्रहण किये हुए व्रतों को तथा अनमोल धर्म को प्राप्त करने के बाद कैसा भी संकट क्यों न आए और कितने भी परिषह क्यों न सहन करने पड़ें, उन्हें छोड़ना नहीं चाहिये। सोना कसौटी पर कसने से ही अपनी परख करवाता है, इसी प्रकार धर्म और व्रत-नियम, उपसर्ग और परिषहों की कसौटी पर कसे जाने पर ही फल प्रदान करते हैं तथा उसी समय साधक की परीक्षा होती है। अतः प्रत्येक साधक को प्राणों की परवाह छोड़कर अपने व्रतों का पालन करना चाहिये। संस्कृत के एक श्लोक में कहा गया है—

"प्राणान्तेपि न भंक्तव्यम् गुरुसाक्षे कृतं व्रतम्।
....प्राणाः जन्मनि जन्मनि॥"

कहते हैं—गुरु के द्वारा ग्रहण किये हुए व्रतों को प्राण जाने पर भी भंग नहीं करना चाहिये। क्योंकि प्राण तो प्रत्येक जन्म में मिल जाते हैं, किन्तु व्रत धारण करने का संयोग सदा नहीं मिलता।

मरना कबूल है

हमारे अनेक भाई-बहन आज भी ऐसे हैं जो चाहे जैसी बीमारी आ जाय और डॉक्टर लाख बार क्यों न कहे, पर वे अपने नियमों का भंग हो ऐसी वस्तु ग्रहण नहीं करते। उनका यही कथन होता है—"मरना तो एक दिन है ही, फिर अपने नियमों को कैसे छोड़ें ?"

एक बार हम वर्धा की ओर गये। वर्धा के समीप बायफड़ नामक एक गाँव है। वहाँ का पटेल जबर्दस्त मांसाहारी था। जीवों की हड्डियों और मुर्गियों के पंख आदि से उसके मकान के बाजू में रहा हुआ एक बड़ा सारा खड्ढा भी भर गया था।

हमारे वहाँ पहुँचने के पश्चात् उसने कभी-कभी हमारे यहां आना प्रारम्भ किया और जिनवाणी में रुचि लेनी शुरू की। धीरे-धीरे उसके मन पर सत्संगति का असर पड़ा और वह दुखी होता हुआ कहने लगा—"महाराज ! मैंने जीवन भर महा-पाप किये हैं, इनसे मेरा छुटकारा कैसे होगा ?"

मैंने उसे दिलासा दी और कहा—"भाई ! तुमने अज्ञानावस्था में पाप किये हैं पर अगर उनके लिये पश्चात्ताप करके आगे से पाप-कर्म करना छोड़ दो तो भी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तुम्हारा छुटकारा जरूर हो जाएगा। मैंने उसे संत तुकाराम के वचन भी सुनाए जिनमें से एक है—

"मागे केले, नका पाहूं, पुढे जामीन आम्हीं होवू।"

—अगर आगे पाप नहीं किये तो तुम्हारी मुक्ति होगी, जरूर होगी। यही पटेल से कहा गया कि—किये हुए के लिए पश्चात्ताप करो और आगे न करने की प्रतिज्ञा करो। अगर की हुई प्रतिज्ञाओं का बराबर पालन करोगे तो कर्म-बन्धनों से छूट जाओगे।

पटेल ने हिंसा और मांसाहार न करने का व्रत लिया और जहाँ वह सदा शराब के नशे में धुत्त रहता था, वहाँ उसका भी सर्वथा त्याग कर दिया।

कर्मसंयोग से कुछ समय पश्चात् वह बीमार पड़ा और डॉक्टरों ने कहा—"तुम्हें शराब पीनी पड़ेगी अन्यथा स्वस्थ नहीं हो सकोगे।"

किन्तु पटेल ने स्पष्ट इन्कार करते हुए कह दिया—"मरना कबूल है पर शराब नहीं पीऊँगा।"

मराठों में भी ऐसे बहुत हैं जो नियमों का पालन करते हैं। एक बार हमारा चातुर्मास चिचोंड़ी गाँव में था। वहाँ एक महाराष्ट्रीय कोलाटी जाति का आया। उसने कहा—"महाराज! मुझे मांस-मदिरा का त्याग करा दो।" मैंने कहा—"तुम साँप-बिच्छू को भी मत मारना।" उस व्यक्ति ने यह भी कबूल कर लिया और वहाँ से चला गया।

संयोग की बात थी कि उसके खेत में एक भयंकर सर्प निकल आया। बेचारा वह व्यक्ति भागा भागा हमारे पास आया और बोला—"महाराज! अब क्या करूँ?"

उस व्यक्ति के मन में श्रद्धा थी अतः मैंने कहा—"भगवान शांतिनाथ का नाम लेकर खेत के चारों तरफ राख डाल दो।" उसने वैसा ही किया और बाद में आकर बोला—"महाराज साँप चला गया।"

वास्तव में ही जिसके हृदय में श्रद्धा होती है, और जो अपने त्याग-नियमों का पक्का होता है, उसकी रक्षा भगवान भी करते हैं। इसीलिये अभी एक श्लोक के द्वारा बताया गया है कि गुरु के द्वारा लिये गये नियमों को किसी भी अवस्था में भंग मत करो। संक्षेप में प्राण जाने पर भी प्रण मत छोड़ो।

मेरे कहने का सारांश यही है कि प्रत्येक मुमुक्षु को चाहे वह साधु हो या श्रावक, अपने व्रतों पर दृढ़ रहना चाहिये तथा आत्म-कल्याणकारी बारह भावनाओं

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

को भाते हुए धर्म-पथ पर बढ़ना चाहिये। इन्हीं भावनाओं का महत्व बताते हुए पूज्यपाद श्री अमीऋषि जी महाराज ने अपने सुन्दर पद्य में कहा है—

जग है अनित्य नहीं, शरण संसार माँही,
भ्रमत अकेलो जीव, जड दोउ भिन्न है।
परम अशुचि लखी, देह तजी आश्रव को,
संवर निर्जरा ही तें होय भव छिन्न है।
चित्त में विचारी लोकाकार बोधबीज सार,
सम्यक् धरम उर धारो निश दिन है।
कहे अमीरिख बारे भावना यों भाव उर,
धारे जिनवेण एन ताको धन धन है॥

यह जगत नश्वर है, प्रत्येक वस्तु अनित्य है। अतः इस जीव के लिये कोई भी शरणभूत नहीं है। जीव अकेला ही इस संसार में आता है और अकेला ही पुनः जाता है। यह देह जो उसे प्राप्त हुई है, अनेक अशुद्ध, एवं घृणित पदार्थों से निर्मित है अतः यह मनुष्य का साध्य नहीं है। इसे साधन बनाकर ही मुक्ति के अभिलाषी प्राणी को आश्रव से यानी कर्मों के आगमन से बचना चाहिए तथा संवर एवं निर्जरा के द्वारा पुनः-पुनः जन्म लेने से छुटकारा प्राप्त करना चाहिये।

बोधि-दुर्लभ

प्रत्येक मनुष्य को बोध प्राप्त करना चाहिये कि मैंने अनंत काल तक नरक और निगोदादि के कष्ट भोगे हैं और उसके पश्चात् भी असंख्य जन्म लेकर त्रस पर्याय प्राप्त की। किन्तु त्रस पर्याय प्राप्त होने पर भी विकलेन्द्रिय रहकर अज्ञानावस्था में समय गँवाया है। और फिर किसी प्रकार प्रबल पुण्यों के फलस्वरूप यह पाँचों इन्द्रियों और मन से परिपूर्ण मानव-शरीर मिल पाया है। अगर अब भी हमने सम्यक्त्व पाकर उसका लाभ नहीं उठाया तो इसे पाने से क्या हासिल होगा ? कुछ भी नहीं।

विद्वत्रत्न पं० शोभाचन्द्रजी भारिल्ल ने भी प्राणी को बोध देते हुए समझाया है—

अंगोपांग पूर्ण होने पर भी चिर जीवन पाना,
चिर जीवन पाकर भी सुन्दर शीलयुक्त हो जाना।
चिन्तामणि के सदृश परम सम्यक्त्वरत्न सुखदायी,
दुर्लभ है, दुर्लभतर है रे ! समझ सयाने भाई॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कहा गया है – इस जीव को प्रथम तो सम्पूर्ण अंग एवं उपांग मिलने कठिन होते हैं और ये मिल गये तो लम्बा जीवन मिलना मुश्किल हो जाता है। संसार में हम देखते ही हैं कि कच्ची कलियों के समान अनेक शिशु जन्म लेते समय या उसके पश्चात् शैशवावस्था में और तब भी बच गये तो पूर्ण युवावस्था में भी काल-कवलित हो जाते हैं।

इसीलिये कवि ने कहा है कि लम्बा जीवन भी मुश्किल से मिलता है। पर आगे क्या कहा है ? यही कि लम्बा जीवन व्यक्ति प्राप्त कर ले तो भी अगर वह शील एवं सदाचार से युक्त न हो तो व्यर्थ है। और भाग्य से कदाचित् यह सब मिल गया तो अमूल्य चिन्तामणि के समान सम्यक्त्व रत्न प्राप्त होना तो बहुत ही कठिन है या दुर्लभ है।

तो बन्धुओ ! मनुष्य जन्म, परिपूर्ण इन्द्रियाँ, लम्बा जीवन, और सम्यक्त्व की प्राप्ति करके भी कषायों के वेग से मन को नहीं बचाया और आश्रव करते चले गये तथा संवर एवं निर्जरा की आराधना नहीं की तो यह शरीर पाने का क्या लाभ होगा ? कुछ नहीं।

यह ध्यान में रखते हुए हमें संवर-मार्ग अपनाना है एवं धर्म की आराधना के लिये अपने मन व इन्द्रियों पर काबू पाना है। पर यह तभी हो सकता है, जबकि व्रत और नियमों का इन पर अंकुश रखा जाय। संयमित जीवन के लिये व्रतों का बड़ा भारी महत्व है और उनका पालन करना आत्मोन्नति के लिये अनिवार्य है।

इसलिये व्रतों का पालन करते समय कोई भी बाधा, कैसी भी कठिनाइयाँ और कितने भी परिषह क्यों न सामने आएँ, साधक को उनसे घबराना नहीं चाहिये। अपितु दृढ़ मनोबल से उनका मुकाबला करना चाहिये। परिषहों से घबराकर व्रतों को भंग कर देने वाले व्यक्ति का व्रत-धारण करना कोई महत्व नहीं रखता। क्योंकि जिस प्रकार जूतों का महत्व घर में नहीं वरन कंटकाकीर्ण मार्ग पर होता है, इसी प्रकार व्रतों का महत्व साधारण दिनचर्या में नहीं वरन उपसर्गों और परिषहों के समय साबित होता है। परिषह भी व्रतों की कसौटी हैं।

तो, जो मुमुक्षु प्राणी ऐसा मानकर परिषह सहते हुए भी अपने व्रतों का पालन करेंगे वे इस लोक और परलोक में सुखी बनेंगे।

●●

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

१७ | असली और नकली

धर्मप्रेमी बंधुओ, माताओ एवं बहनो !

कल हमने संवर तत्व के सत्तावन भेदों में से दसवें भेद पिपासा-परिषह को लिया था, जिसका अर्थ है साधुवृत्ति अंगीकार करने के बाद कड़ी से कड़ी प्यास लगने पर भी अचित्त पानी न मिले तो सचित जल ग्रहण न करना। जल के अभाव में होने वाला कष्ट पिपासा-परिषह कहलाता है। सच्चे साधु अगर अचित्त जल न मिले तो इस परिषह को समभाव से सहन करते हैं। चाहे प्राण भी क्यों न चले जायँ वे सचित्त जल ग्रहण नहीं करते। इसका ज्वलन्त उदाहरण त्यागी मुनि श्री मोतीलाल जी थे, जिनके विषय में मैंने कल बताया था।

धर्म के लिये प्राणों की भेंट

हमारे इतिहास में ऐसे महापुरुषों के अनेक प्रसंग आते हैं जिन्होंने अपने महाव्रतों के पालन करने के लिये तथा धर्म की प्रभावना के लिये अपने प्राणों को भी न्यौछावर किया था। पूज्य श्री धर्मदास जी म० ऐसे ही साधु-रत्न थे। आपने भी धर्म की रक्षा के लिये अपने प्राणों की बाजी लगा दी थी।

श्री धर्मदासजी म० के निन्यानवें शिष्य थे। उनमें से एक शिष्य एक बार अस्वस्थ हुआ और जीवन की आशा न रहने पर धार शहर में उसने संथारा ग्रहण किया।

किन्तु कुछ दिन पश्चात् उसकी भावना बदल गई और उसने अन्य संतों से कहा—"मुझे खाने-पीने के लिए दो।" संतों ने समझाया कि समाधि धारण करने के पश्चात् अन्न-जल ग्रहण नहीं करना चाहिए, पर शिष्य माना नहीं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उन दिनों श्री धर्मदास जी म० दूसरे गांव में विराज रहे थे; किन्तु यह समाचार पाकर उन्होंने तुरन्त वहां से विहार कर दिया और 'धार' पधार गये। वहाँ आकर आपने अपने शिष्य को पुनः-पुनः समझाया कि—"तुमने संथारा ग्रहण किया है और इसलिए अब खाने-पीने की इच्छा करना पाप है। हम तुम्हें मारना नहीं चाहते पर व्रत ग्रहण कर लेने के पश्चात् उन्हें निभाना साधु का मुख्य कर्तव्य है। ऐसा न करने पर धर्म की बदनामी होती है तथा लोगों को टीका-टिप्पणी करने का अवसर मिलता है।"

पर शिष्य पर गुरुजी की बातों का कोई प्रभाव नहीं पड़ा और उसने स्पष्ट कह दिया—"मुझसे रहा नहीं जाता, अब मैं अवश्य अन्न-जल ग्रहण करूँगा।"

जब धर्मदास जी म० ने शिष्य की ऐसी भावना देखी तो कहा—"ठीक है, फिर तुम संथारे के आसन से उठकर चले जाओ, तुम्हारा स्थान मैं ग्रहण करूँगा।"

जो लोग वहाँ उपस्थित थे, वे यह बात सुनकर सन्नाटे में आ गये और महाराज को रोकने लगे। किन्तु धर्मदासजी धर्मवीर भी थे। उन्होंने आहार और जल केवल मार्ग में कहीं ग्रहण किया था। धार आने के पश्चात् जल भी नहीं लिया था अतः प्यासे भी थे। पर क्षुधा या पिपासा-परिषह की परवाह न करते हुए वे उसी क्षण शिष्य के छोड़े हुए आसन पर बैठ गये। पूर्ण समाधि भाव धारण करके अन्त में उन्होंने अपने प्राणों की आहुति धर्म के लिये चढ़ा दी।

भगवद्गीता में एक श्लोक है—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय,
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा—
न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥

—अ० २-२२

श्री धर्मदासजी म० ने गीता की इस बात को सत्य साबित किया है। वे ज्ञानी पुरुष थे और जानते थे कि मृत्यु कोई आश्चर्यजनक या दुखद वस्तु नहीं है। जिस प्रकार पुराना वस्त्र उतार कर नया वस्त्र धारण कर लिया जाता है और ऐसा करने में किसी को तनिक भी दुःख या खेद नहीं होता उसी प्रकार अपने वर्तमान शरीर का त्याग करने में महाराज श्री ने रंचमात्र भी हिचकिचाहट और विचार नहीं किया, अपितु परम प्रसन्नता पूर्वक, स्वेच्छा से उसे धर्म के लिए अर्पण कर दिया। भगवान की आज्ञा का पालन करने के लिये अपने प्राणों की परवाह भी नहीं की।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वास्तव में समय आने पर ही असली और नकली की परीक्षा होती है। किसी ने कहा भी है—

धीरज, धर्म, मित्र अरु नारी,
आपत काल परखिये चारी।

संकट में धीरज

धैर्यवान व्यक्ति की परीक्षा संकट के समय ही होती है। अपनी दुकान और अपने घर में सुरक्षित रहकर तो व्यक्ति चाहे जितनी डींगें हाँक सकता है पर अगर घर में चार चोर आ जाएँ तो मुँह से बचाओ—शब्द भी नहीं निकल पाता वह भी हलक में ही रह जाता है।

इसके अलावा दुःख, कष्ट और परेशानी में भी मनुष्य चिड़चिड़ा हो जाता है तथा धीरज खो बैठता है, पर सभी व्यक्ति ऐसे नहीं होते। जो धैर्यवान पुरुष होते हैं वे कैसी भी आपत्ति क्यों न आ जाए, विचलित नहीं होते।

एक मारवाड़ी व्यापारी को एक बार गुड़ के व्यापार में लगभग चालीस हजार रुपये का घाटा हो गया। जब किसी अन्य व्यक्ति ने उससे इस नुकसान के लिये सहानुभूति प्रकट की तो वह व्यापारी हँसने लग गया और बोला—"अरे भाई! मुझे चालीस हजार का घाटा नहीं वरन् तीस हजार का लाभ हुआ है।" सहानुभूति दिखाने वाला व्यक्ति यह सुनकर चकित हुआ और व्यापारी का मुँह देखने लग गया।

मारवाड़ी सज्जन ने तब कहा—'देखो मित्र! अगर आज मैं यह माल न बेचकर पन्द्रह दिन बाद बेचता तो मुझे चालीस के स्थान पर सत्तर हजार का नुकसान होता। तब तुम्हीं बताओ मुझे तीस हजार का लाभ हुआ है या नहीं?" यह सुनकर दूसरा व्यक्ति चुप रह गया और व्यापारी के धीरज की मन ही मन प्रशंसा करने लगा।

हमारे धर्म के इतिहास में तो ऐसे अनेक उदाहरण भरे पड़े हैं। अल्प-वय के मुनि गजसुकुमाल के मस्तक पर उनके ससुर द्वारा अंगारे रखे गये तब भी उन्होंने उफ तक नहीं किया, महावीर भगवान के कानों में कीले ठोक दिये तब भी वे उसी शांत मुद्रा में ध्यानस्थ रहे। सत्यवादी हरिश्चन्द्र को अपना विशाल साम्राज्य छोड़कर चांडाल के घर पानी भरना पड़ा और यही नहीं पत्नी व पुत्र को भी बेचना पड़ा। पर क्या उन्होंने धैर्य खोया? नहीं। महापुरुष किसी स्थिति में धैर्य च्युत नहीं होते। परिणाम यह होता है कि वे संसार में सदा के लिये अमर हो जाते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वाल्मीकि ने अपने एक श्लोक में कहा है—

व्यसने वार्थकृच्छ्रे वा भये वा जीवितान्तगे।
विमृशंश्च स्वया बुद्ध्या धृतिमान्नावसीदति॥

अर्थात्-शोक में, आर्थिक संकट में अथवा प्राणान्तकारी भय उपस्थित होने पर भी जो अपनी बुद्धि से दुःख निवारण के उपाय का विचार करते हुए धैर्य धारण करता है, उसे कष्ट नहीं उठाना पड़ता।

दार्शनिक रूसो का भी कथन है—

"Patience is Witter, But its fruit is sweet."

—धैर्य कड़वा होता है पर उसका फल मधुर होता है।

कहने का अभिप्राय यही है कि धैर्य की परीक्षा संकट में होती है और जो महापुरुष उस कसौटी पर खरा उतर जाता है, उसे अपने धीरज का बड़ा उत्तम और मधुर फल मिलता है।

धर्म-परीक्षा

धीरज के पश्चात दोहे में धर्म के लिए कहा गया है कि धर्म की परीक्षा भी आपत्तिकाल में ही की जाती है कि व्यक्ति उस समय अपने धर्म पर किस प्रकार दृढ़ रहता है।

'अन्तगढ़ सूत्र' में बताया गया है कि सेठ सुदर्शन अपने माता-पिता से भगवान महावीर के दर्शनार्थ जाने की इजाजत मांगते हैं।

सुदर्शन जी के माता-पिता यह सुनकर अत्यन्त व्याकुल हो उठते हैं और कहते हैं—"बेटा ! वहाँ जाने का नाम भी मत लो। हम भगवान के दर्शन करने से तुम्हें नहीं रोकते, किन्तु मार्ग में हत्यारा अर्जुनमाली घूमता है जो यक्ष के प्रभाव से प्रति-दिन कई व्यक्तियों की नृशंसता से हत्या कर देता है तुम्हीं बताओ हम कैसे अपने पुत्र को मौत के मुँह में धकेल सकते हैं ? अच्छा तो यही है कि तुम यहीं से पूर्ण भक्ति के साथ भगवान को वन्दन कर लो। प्रभु तो अन्तर्यामी हैं, वे तुम्हारी वन्दना कबूल कर लेंगे। उस मार्ग पर न जाने के लिये तो यहाँ के राजा ने भी मुनादी करवा दी है और इसीलिये उधर कोई घास-फूस लेने भी नहीं जाता।"

सुदर्शन सेठ ने अपने पिता की बात बड़ी शांति से सुनी और नम्रतापूर्वक बोले—"पिताजी ! आपका फरमाना सही है, कोई भी पिता अपने पुत्र को इस प्रकार आज्ञा नहीं दे सकता। पर भगवान के दर्शन तो बड़े दुर्लभ हैं और ऐसा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अवसर बार-बार नहीं आता। यह सच है कि मैं यहीं से उन्हें वन्दन करूंगा तो वे जान लेंगे। पर मैं अपने चर्म-चक्षुओं से उन्हें कब देखूंगा ? इसके अलावा अर्जुनमाली के कारण मार्ग में भय अवश्य है, पर मौत का भय कहाँ नहीं है ? क्या मैं यहाँ रहकर नहीं मर सकता ? इस शरीर को एक दिन तो जाना ही है फिर स्वयं भगवान के दर्शन करने जाते समय या धर्म-कार्य करते समय चला जाये तो क्या हर्ज है ? आप मुझे प्रभु के दर्शन करने से न रोकें।"

इस प्रकार विनम्रता पूर्वक माता-पिता से आज्ञा लेकर सेठ सुदर्शन भगवान के दर्शन के लिये रवाना हो गये। उनके हृदय में तनिक भी मृत्यु का भय नहीं था, उलटे धर्म का बल जाग रहा था।

एक कवि ने ऐसे ही प्रसंग को लेकर कहा है—

धर्म को भेंट जो इन्सान अपनी जान करते हैं,
अवध तक जिंदगी के वास्ते सामान करते हैं।
नहीं है शय कोई ऐसी, जो बाइस खौफ हो उनको,
धर्म के वास्ते जो कशमकश इन्सान करते हैं।
मुबारिक जिंदगी उनको जो कर दें धर्म पर कुरबान,
वमे-आखिर तलक इस रास्ते का ध्यान करते हैं।

कवि कहता है—उन महामानवों का जीवन धन्यवाद का पात्र है जो अपने आखिरी श्वास तक के लिये अपना प्रत्येक प्रयत्न करते हैं तथा आवश्यकता पड़ने पर अपनी जान भी भेंट कर देते हैं। उन शूरवीर प्राणियों के लिए धर्म-मार्ग बेखौफ होता है, अर्थात् वे स्वयं किसी भी बाधा, परिषह और उपसर्ग से भयभीत नहीं होते तथा पूर्ण आत्म-बल के सहारे बढ़ते चले जाते हैं।

हमारे सुदर्शन सेठ भी इसी प्रकार धर्म के मार्ग पर बढ़े चले जा रहे हैं और भगवान के दर्शन की चाह उन्हें परम प्रसन्नता से उन्हें भगवान की ओर खींचकर ले जा रही है।

किन्तु उपसर्ग और परिषह भी कब पीछे रहते हैं ? प्रत्येक महापुरुष को वे अपनी कसौटी पर कसे बिना आगे नहीं बढ़ने देते। सेठ सुदर्शन के सामने भी हत्यारा अर्जुनमाली यक्ष का मुद्गर लिये हुए साक्षात् यम के समान आ खड़ा हुआ। लेकिन धर्मवीर सेठ डरे नहीं और उन्होंने यही प्रार्थना की—"हे प्रभो ! अगर मेरी जिन्दगी रही तो प्रत्यक्ष में आकर दर्शन करूंगा अन्यथा इसी क्षण मैं संथारा ग्रहण करता हूँ।"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सुदर्शन सेठ घबराये नहीं और न ही उनके मन में यह विचार आया कि—"हे भगवान ! मुझे बचाओ।" वे पूर्ण समाधिपूर्वक ध्यानस्थ हो गये।

इधर अर्जुनमाली भयंकर रूप धारण किये हुए दूर से ही सुदर्शन जी की ओर दौड़ता हुआ आया और समीप आकर उन्हें मारने के लिये मुद्गर ऊँचा किया। पर घोर आश्चर्य की बात तब हुई जबकि उस हत्यारे का मुद्गर लिये हुए जो हाथ ऊँचा उठा था, वह ऊपर ही थम गया। नीचे झुका ही नहीं।

बंधुओ ! आप सोचेंगे कि ऐसा कैसे हो गया ? पर इसमें आश्चर्य की बात नहीं है। जो दिव्य-पुरुष धर्म को अपने सम्पूर्ण अन्तःकरण से ग्रहण कर लेता है, क्या धर्म उसकी रक्षा नहीं कर सकता ? धर्म में तो इतनी शक्ति है कि वह अनन्त जन्म-मरण से भी छुटकारा दिला देता है तो फिर सेठ सुदर्शन के लिये तो एक बार की मृत्यु का ही सवाल था।

कहने का अभिप्राय यही है कि सेठ सुदर्शन मृत्यु का भय होने पर भी अपने धर्म से नहीं डिगे और कसौटी पर खरे उतरे। परिणाम स्वरूप वे सदा के लिये अजर-अमर हो गए।

आपके पास कलेजा नहीं है ?

वैष्णव साहित्य में भी एक छोटी सी कथा आती है कि नारद जी अपने आपको महान धर्मात्मा और भगवान का सच्चा भक्त मानते थे। उन्होंने एक बार विष्णु जी से कहा भी कि—"भगवन् ! आपका सबसे बड़ा भक्त मैं हूं। मेरे जैसा भक्त आपको इस संसार में दूसरा नहीं मिल सकता।"

विष्णु यह सुनकर उस समय तो मौन रहे पर एक बार नारद जी की परीक्षा लेने का उन्होंने निश्चय किया। कुछ काल व्यतीत हो जाने पर एक बार जब नारद जी पुनः उनके पास आए तो उन्होंने असह्य दर्द का दिखावा करते हुए छटपटाना शुरू कर दिया।

नारद जी ने जब उनकी तकलीफ के विषय में और उसके ठीक होने के बारे में पूछा तो वे बोले—

"आज मेरे पेट में असह्य दर्द है। और यह तभी ठीक हो सकता है, जब कि मुझे किसी महान् धर्मात्मा और मेरे सच्चे भक्त का कलेजा मिले।"

नारद जी बोले—"इसकी क्या फिक्र है प्रभो ! मैं अभी चुटकियों में ही इस कार्य को सम्पन्न करता हूँ तथा आपके लिये औषधि लेकर आता हूँ।"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यह कहकर नारद ऋषि तीर की तरह वहाँ से दौड़ गये और सबसे पहले कुंभ के मेले पर प्रयाग जा पहुंचे। वहाँ गंगाजी के किनारे पर असंख्य भक्त जोर-शोर से भगवान विष्णु का नाम जपते हुए भक्तिभाव से स्नान कर रहे थे। नारद जी यह देखकर बड़े प्रसन्न हुए और सोचने लगे—"ओह, यहाँ तो अनेकों भक्त मौजूद हैं मुझे एक ही तो क्या, अनेकों धर्मात्मा व्यक्तियों के कलेजे मिल सकते हैं भगवान के पेट का दर्द मिटाने के लिये।"

यह विचार करते-करते वे एक व्यक्ति के समीप जा पहुंचे जो जोर-जोर से विष्णु भगवान के नाम का उच्चारण करता हुआ गंगा में स्नान कर रहा था। उस व्यक्ति से नारद जी बोले —"भक्तराज; क्या तुम भगवान विष्णु के सच्चे भक्त हो ?"

"अरे वाह ! क्या तुम्हें दिखाई नहीं देता कि मेरी जबान पर विष्णु के अलावा और किसी का नाम आया ही नहीं है। मेरे भक्त होने में क्या तुम्हें कोई संदेह है ?" व्यक्ति ने उत्तर दिया और पुनः जल्दी जल्दी विष्णु का जप करता हुआ स्नान करने लगा।

नारद जी उस भक्त का उत्तर सुनकर खुश हुए और बोले—"तो भाई ! मेरी बात सुनो, आज भगवान विष्णु जी के पेट में असह्य दर्द हो रहा है, क्या तुम मुझे उनके लिये औषधि दे सकते हो ?"

वह भक्त प्रसन्न होकर बोला—"मेरा लाखों का कारोबार है. जितना धन और जितनी दवाइयाँ चाहो भगवान के लिये ले जाओ। चाहो तो पूरी दवाइयों की दुकान ही खरीद लो।"

नारद जी मन में विचार करने लगे—'वास्तव में ही सच्चा भक्त और बड़ा भारी धर्मात्मा व्यक्ति है यह. अब मेरा कार्य बनने में क्या देर लगेगी ?" यह सोचते हुए वे प्रत्यक्ष में बोले —

"बंधु ! भगवान के पेट का दर्द साधारण नहीं है। किसी अन्य दवाई से वह ठीक नहीं हो सकता। उसके लिये एक ही औषधि है और वह है किसी सच्चे भक्त और धर्मात्मा पुरुष का कलेजा। तुम वास्तव में ही सच्चे भक्त और धर्मात्मा प्राणी हो, अतः अपना कलेजा निकाल कर मुझे दे दो ताकि भगवान का कष्ट मिट जाय।"

यह सुनते ही वह भक्त चोट खाए हुए सर्प की तरह उछल पड़ा और आग-बबूला होकर कह उठा—"आपका दिमाग खराब हो गया है क्या ? संसार में कौन

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बेवकूफ होगा जो अपना कलेजा निकालकर देगा ? चले जाइये यहाँ से । बड़े आए हैं कलेजा लेने वाले ।"

नारद जी अपना सा मुँह लेकर वहाँ से खिसक गये, पर उन्हें भगवान का काम करके अपने को भक्त साबित करना था अतः एक-एक करके कई भक्तों के पास पहुंचे । किन्तु अपना कलेजा तो किसी ने भी नहीं दिया, उलटे नाना प्रकार के अपशब्द कहे । सबकी बातें सुनते हुए वे तीर्थराज प्रयाग से रवाना होकर बड़े-बड़े ठाकुरद्वारों में और मन्दिरों में भी गये जहाँ भक्तों की मंडलियाँ आकाश को फाड़ देने वाले ऊँचे स्वरों में कीर्तन कर रही थीं और विष्णु का गुणगान कर रही थीं पर नारद जी के लाख समझाने पर भी किसी ने अपना कलेजा तो नहीं दिया सो नहीं ही दिया ।

आखिर हारकर वे एक जंगल में निकल गये और एक वृक्ष के नीचे बैठकर उदास मन से नाना-प्रकार के विचार करने लगे । उसी वृक्ष पर एक लकड़हारा चढ़ा हुआ था और अपनी कुल्हाड़ी से लकड़ियाँ काट रहा था ।

उसने जब नारद जी को इस प्रकार गमगीन देखा तो पूछा—"ऋषि जी ! क्या बात है ? आप इस प्रकार सोच में डूबे हुए क्यों बैठे हैं ?"

नारद जी निराशा से भरे हुए तो थे ही, बोले 'तुम जानकर क्या करोगे ? इस संसार में कोई भी भगवान का सच्चा भक्त नहीं है । सब दिखाने की भक्ति करते हैं ।"

लकड़हारा बेचारा अपढ़ था पर भगवान और भक्त का उल्लेख सुनकर उसके कान खड़े हो गये । वह आजिजीपूर्वक पूछने लगा—

"महाराज; कृपा करके मुझे बताइये तो सही कि आखिर बात क्या है ?"

इस पर नारद जी ने अनमने ढंग से संक्षेप में अपनी कठिनाई बता दी । लकड़हारा यह सुनते ही बोला—"महाराज ! इतनी सी बात के लिये आप इतने परेशान हो रहे हैं ? अभी, इसी क्षण मेरा कलेजा भगवान के लिये ले जाइये । वह अत्यन्त गद्गद स्वर से कहने लगा— मेरे धन्य भाग्य कि आज मुझे ऐसा अवसर मिल रहा है । मेरा शरीर स्वयं भगवान विष्णु के काम आए, इससे बढ़कर इसका और क्या फायदा है । देर मत कीजिये, आप शीघ्रातिशीघ्र मेरा कलेजा ले जाइये । मुझे एक-एक क्षण का विलम्ब भी अब अच्छा नहीं लग रहा है ।"

नारद जी को प्रथम तो लकड़हारे की बात का विश्वास ही नहीं हुआ और वे आँखें फाड़-फाड़कर उसे देखने लगे । सोचने लगे कि यह कोई स्वप्न तो नहीं है ? पर जब लकड़हारे ने पुनः उन्हें अपने काम को पूरा करने की याद दिलाई तो उन्हें

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वास्तविकता का ध्यान आया और वे बड़ी प्रसन्नता पूर्वक लकड़हारे का कलेजा लेकर विष्णु जी के पास पहुँच गये।

विष्णु जी के समक्ष पहुँचकर नारद जी बोले--"देखिये प्रभो! मैं आपके लिये कलेजा लेकर आ गया हूँ, भला आपके कष्ट को मिटाने के लिये मैं पीछे रह सकता था?"

विष्णु नारद जी की बात सुनकर मुस्कुराए और बोले---"अच्छा किया नारद जी। पर आप यह बताइये कि इस काम में आपको इतनी देर कैसे लग गई?"

भगवान के इस प्रश्न के उत्तर में नारद जी ने अथ से इति तक का सारा हाल नमक-मिर्च लगाकर कह सुनाया कि वे कितनी कठिनाई से और भक्त की खोज-बीन करके यह कलेजा ला पाये हैं।

नारद जी की बात सुनकर विष्णु हँस पड़े पर साथ ही बोले—'मेरे लिये सच्चे भक्त और धर्मात्मा की खोज करने में आपको वास्तव में बड़ी दिक्कत हुई, किन्तु ऋषि जी! क्या आपके पास कलेजा नहीं था?"

बंधुओ, आप समझ गए होंगे कि विष्णु ने ऐसा क्यों कहा? कारण यही है कि जो नारद अपने आपको बड़ा धर्मात्मा और भगवान का सच्चा भक्त कहकर डींगें हांकते थे, वे स्वयं ही विष्णु भगवान के कष्ट के समय अपना कलेजा देने के लिये तैयार नहीं हुए तथा सारे संसार में दूसरे का कलेजा लाने के लिये घूमते फिरे। विष्णु ने तो केवल परीक्षा लेने के लिये पेट-दर्द का बहाना किया था। पर परीक्षा की कसौटी पर नारद ऋषि जैसे महापुरुष खरे नहीं उतरे, खरा उतरा एक साधारण लकड़हारा। यही धर्म-परीक्षा होती है।

मित्र कैसा हो?

अभी कहे हुए दोहे में धीरज और धर्म के पश्चात् मित्र का उल्लेख किया गया है कि आपत्तिकाल में सच्चे मित्र की परीक्षा होती है। वैसे आज की दुनिया में किसी को भी मित्रों की कमी नहीं होती। चाय का एक कप पिलाते ही पीने वाला मित्र बन जाता है, एक बार सिनेमा दिखाते ही सिनेमा देखने वाला आपको मित्र कहने लगता है। किन्तु ऐसे मित्र क्या संकट में आपके काम आ सकते हैं, और आपके दुःख को कम कर सकते हैं? नहीं, वे मित्र केवल सुख के साथी होते हैं, खिलाते-पिलाते रहो और सैर-सपाटे कराते रहो, तभी तक वे मित्रता निभाते हैं। आपके दुःख में वे काम आएं, ऐसी आशा उन लोगों से नहीं की जा सकती। उदाहरण स्वरूप दो

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मित्र हैं, साथ-साथ रहते हैं। किन्तु अगर एक की पत्नी या पुत्र बीमार पड़ जाय और पैसे की जरूरत पड़ने पर वह अपने मित्र के पास जाएगा तो मित्र तुरंत ही बगलें झाँकने लगेगा या कह देगा—"दोस्त ! इस समय तो मेरा हाथ भी खाली है।"

किन्तु संसार में सभी व्यक्ति ऐसे नहीं होते। ऐसे-ऐसे भी व्यक्ति होते हैं जो संकट में अपने मित्र की तो क्या, शत्रु की भी सहायता करते हैं।

शत्रु को मारता हूं

अब्राहिम लिंकन ऐसे ही महापुरुष थे। वे जिस प्रकार अपने मित्रों के साथ सरलता एवं सौजन्यता का व्यवहार करते थे, उसी प्रकार अपने शत्रुओं के साथ भी बड़ा प्रेमपूर्ण संबंध रखते थे।

यह देखकर एक बार उनके एक मित्र ने झुंझलाहट के साथ कहा—"यह आपका क्या रवैया है ? शत्रु को तो जान से मार देना चाहिये। किन्तु आप उनसे भी दोस्त के समान पेश आते हैं।"

मित्र की बात सुनकर लिंकन हँस पड़े और बोले—"भाई ! मैं शत्रु को मारता ही तो हूँ। फर्क केवल यह है कि तुम उन्हें जान से मार डालना चाहते हो और मैं मित्र बनाकर मारना चाहता हूँ।"

कितनी महानता थी लिंकन में और कितने उच्च विचार थे उनके ? उनका शत्रु, शत्रु के रूप में मरकर मित्र बन जाता था। अगर ऐसी गहराई और महानता से व्यक्ति विचार करे तभी वह सच्चा मित्र बन सकता है। वह मित्र, मित्र नहीं कहला सकता जोकि प्रत्यक्ष में तो खुशामद और चापलूसी करके मित्रता का दंभ करे और परोक्ष में निंदा-बुराई करता रहे।

हितोपदेश में कहा गया है—

परोक्षे कार्य हन्तारं, प्रत्यक्षे प्रियवादिनम्।
वर्जयेत्तादृशं मित्रं विषकुम्भं पयोमुखम्॥

—मुँह के सामने मीठी बातें करने और पीठ पीछे छुरी चलाने वाले मित्र को विष से भरे हुए और ऊपर से दूध डले हुए घड़े के समान त्याग देना चाहिए।

तात्पर्य कहने का यही है कि व्यक्ति को बहुत ठोक-बजाकर ही किसी से मित्रता करनी चाहिये। जिस-तिस पर विश्वास करना, और उसे मित्र मान लेना बुद्धिमानी नहीं है, क्योंकि ऐसे मित्र कभी आवश्यकता पड़ने पर और विपत्ति के

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

समय साथ नहीं देते। मित्रता कृष्ण और सुदामा जैसी होनी चाहिये। अधिकतर हम देखते हैं कि साथ-साथ पढ़ने और रहने वाले दो विद्यार्थियों में से भी एक बड़ा होने पर अगर किसी ऊँचे पद पर पहुँच जाता है और दूसरा भाग्यहीनता का शिकार बनकर रह जाता है तो उच्च पदवी-धारी व्यक्ति दूसरे को अपना मित्र कहने में भी शर्म का अनुभव करता है। समय-असमय अपने घर बुलाना तो दूर की बात है।

सच्ची जीवनसंगिनि कौन सी ?

अब हमारे सामने नारी का विषय आता है। नारी की परीक्षा भी विपत्ति में हो जाती है। जब तक पति अपनी स्त्री को अच्छा खिला-पिला सके, अच्छे वस्त्राभूषण पहना सके और जीवन के सभी सुख-साधनों को प्रदान कर सके, तब तक तो वह पूर्ण सन्तुष्ट और प्रसन्न रहती है। किन्तु अगर कभी पति को व्यापार में घाटा आ गया या दिवाला निकलने की नौबत आई तथा उस समय उससे लज्जा रखने के लिये जेवर माँगे जायँ तो वह फौरन इन्कार कर देगी और कहेगी---"गहने मेरे मायके के हैं, तुम्हारा इन पर क्या अधिकार है ?"

इसके अलावा जब पुरुष की वृद्धावस्था आ जाती है और वह कमा नहीं पाता तो वही स्त्री पति की सेवा करना तो दूर उलटे उसकी मृत्यु की कामना करने लगती है।

राजा परदेशी ने जब अपना सम्पूर्ण समय आत्म-कल्याण में लगाना आरम्भ कर दिया तो उसकी रानी सूर्यकान्ता ने राजा को विष दे दिया। इससे साबित हो जाता है कि स्वार्थ-साधना में कमी होते ही स्त्री अपना रूप बदल देती है।

इसीलिये तुलसीदास जी ने 'अयोध्याकाण्ड' में कहा है—

सत्य कहहिं कवि नारि सुभाऊ,
सब बिधि अगम अगाध दुराऊ।
निज प्रतिबिम्ब मुकुर गहे जाई।
जानि न जाय नारिगति भाई॥

कवि का कहना है कि—"मैं सत्य कहता हूं, नारी का स्वभाव पूर्ण रूप से अगम्य यानी समझा न जा सकने वाला और कपट से भरा हुआ होता है। व्यक्ति दर्पण में पड़ने वाले अपने प्रतिबिम्ब को तो फिर भी पकड़ सकता है पर नारी की गति यानी उसके कार्य-कलाप को कभी नहीं समझ सकता।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कबीर तो तुलसीदास जी से एक कदम और आगे बढ़ गये हैं। उनका कथन है—

सांप बीछि को मंत्र है, माहुर झारे जात।
बिकट नारि पाले परी, काटि करेजा खात॥

क्या कहा है इन्होंने ? कहा है कि सांप और बिच्छू के काटने पर तो उनका जहर मंत्र से उतर जाता है, किन्तु नारी जब पल्ले पड़ जाती है तो वह कलेजे को ही खा डालती है।

बन्धुओ, ये कथन अवश्य ही स्त्रियों के लिये कहे गये हैं और इनके द्वारा नारी जाति की तीव्र निन्दा झलकती है। किन्तु अगर हम गम्भीरता से विचार करते हैं तो इन कवियों के कथन अपवाद ही कहला सकते हैं। उदाहरण के तौर पर इसी वसुंधरा पर तो सावित्री जैसी सती ने जन्म लिया था जो यमराज के मुँह से अपने पति सत्यवान को छुड़ा लाई थी। यहीं पर सीता भी हुई थी, जिसने वनवास में भी अपने पति रामचन्द्रजी का साथ नहीं छोड़ा था। आप सभी जानते हैं कि वनवास केवल 'राम' को दिया गया था, सीता को नहीं। उलटे सभी ने उसे अयोध्या में रहने का ही आग्रह किया था। किन्तु सीता ने स्पष्ट कह दिया था कि जिस प्रकार छाया शरीर को नहीं छोड़ सकती, इसी प्रकार मैं भी अपने पति को वन में भटकने के लिये भेजकर आनन्द से अयोध्या में नहीं रह सकती। इनके सुख में ही मेरा सुख और इन्हीं के दुख में मुझे दुख है। सीता के विषय में सारा संसार जानता है कि उस पतिव्रता ने कितने कष्ट सहन किये और रावण द्वारा हरण किये जाने पर भी किस प्रकार अपने सतीत्व की रक्षा की। इसीलिये अग्नि-परीक्षा में भी वह खरी उतरी तथा कुंड में धधकती हुई अग्नि शीतल जल में बदल गई।

ऐसे उदाहरणों से साबित होता है कि इस विश्व में नारी-रत्नों की भी कमी नहीं रही और वे आपत्ति, विपत्ति आदि सभी प्रकार की कसौटियों में खरी उतरी हैं। उन्होंने पति का प्रत्येक समय में साथ दिया है और गृहस्थ धर्म व आत्म-धर्म का भी यथाविधि पालन किया है। उन्हें लक्ष्य में रखकर ही कहा गया है—

'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवता।"

अन्त में केवल इतना ही कहना है कि इस संसार में अगर नकल है तो असल भी अवश्य है और समय आने पर उसकी परख हो जाती है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

१८ | कर्तव्यमेव कर्तव्यं....!

धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एवं बहनो !

इन दिनों हमारा विषय परिषहों को लेकर चल रहा है। भगवान की आज्ञा है कि अगर साधक को संसार-मुक्त होना है तो उसे अपने अनियंत्रित जीवन को व्रतों एवं नियमों से नियन्त्रित या संयमित करना चाहिये। साथ ही ध्यान रखना चाहिये कि लिये हुए व्रत किसी भी स्थिति में और कैसे भी कष्ट आने पर भंग न हों।

जीवन में परिषहों का आना कोई बड़ी बात नहीं है। साधु के लिये तो कदम-कदम पर परिषह आ उपस्थित होते हैं क्योंकि सदोष आहार वे ग्रहण नहीं करते और निर्दोष मिलने में कठिनाई होती है। कहीं कोई दोष सामने आता है और किसी घर में कोई दोष। इस प्रकार उन्हें अनेकों बार क्षुधा-परिषह सहन करना होता है। और इसी प्रकार पिपासा-परिषह का भी सामना पड़ता है।

मुनिव्रत अंगीकार करने के पश्चात् सचित्त जल का साधक के लिये सर्वथा त्याग होता है केवल अचित्त जल ही वे ग्रहण कर सकते हैं। अचित्त जल अथवा उष्ण जल ही उनके काम आता है अतः ऐसा जल मिलना कम से कम विचरण करते हुए मार्ग में तो अत्यन्त कठिन हो जाता है। किन्तु उसके न मिलने पर भी किसी भी अवस्था में साधु शीतोदक ग्रहण न करे, यह शास्त्रों का विधान है।

कर्तव्याकर्तव्य की पहचान

शास्त्रों का कर्तव्य मार्गदर्शन करना है। वे साधक को साधना के पथ पर चलने की सम्पूर्ण विधियां बताते हैं, किन्तु उन पर चलना साधक की दृढ़ता या कायरता पर निर्भर है। जिस प्रकार सरकार एक गाँव से दूसरे गांव के लिए, और

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

एक शहर से दूसरे शहर को जाने के लिये सड़कें बनवा देती है। पर उस पर कौन चलता है और कौन नहीं, इस पर वह विचार नहीं करती।

इसी प्रकार भगवान ने साधु-साध्वी, श्रावक और श्राविका इन चारों तीर्थों के लिए क्या कर्तव्य और क्या अकर्तव्य हैं, यह बता दिये हैं और साथ ही यह भी समझा दिया है कि कर्तव्यों का पालन करने पर आत्मा विशुद्ध बनकर उत्थान की ओर बढ़ती है तथा अकर्तव्य या अकरणीय करने पर अवनति की ओर अग्रसर हो जाती है। इतना सब कुछ जानकर और समझकर भी अगर व्यक्ति अपने व्रतों पर दृढ़ नहीं रहता, अपने कर्तव्यों का पालन नहीं करता तो समझना चाहिये कि उसके जन्म-मरण का चक्र चलता रहने वाला है।

कर्तव्यों का महत्व बताते हुए एक श्लोक भी कहा गया है—

कर्तव्यमेव कर्तव्यं, प्राणैः कंठगतैरपि।
अकर्तव्यम् न कर्तव्यं, प्राणैः कंठगतैरपि ॥१॥

कहा है चाहे प्राण कंठ में ही क्यों न आ जायं, अर्थात् मृत्यु निकट ही क्यों न आ खड़ी हो, व्यक्ति को कर्तव्य ही करना चाहिये अकर्तव्य नहीं।

जो महापुरुष इस बात को समझ लेते हैं, वे ही संसार-मुक्त होते हैं तथा सदा के लिए अमर हो जाते हैं। सुदर्शन सेठ को अभया रानी ने लालच दिया और न मानने पर धमकी भी दी किन्तु उन्होंने ब्रह्मचर्य का खंडन कर अकर्तव्य नहीं किया। इसके अलावा रानी दोषी थी, पर उन्होंने उसका नाम भी नहीं बताया तथा मौन धारण कर लिया। सती चन्दनबाला की माता रानी धारिणी ने जीभ खींचकर मृत्यु का आलिंगन किया पर शील-धर्म का पालन किया।

इसी प्रकार जो धर्म और नीति का पालन करने वाले पुरुष होते हैं वे किसी भी परिस्थिति में धैर्य खोकर अकरणीय कार्य नहीं करते।

कर्तव्य का मधुर फल

एक व्यापारी को व्यापार में बड़ा घाटा लग गया। घाटा आ जाने पर उसने विचार किया कि अगर मैं अन्य साहूकारों से कह देता हूँ कि मेरे पास कुछ भी नहीं है तो उनका नुकसान होगा अतः मुझे ऐसा नहीं करना चाहिये।

वह घर आया और अपनी प्रतिष्ठा कायम रखने के लिये तथा औरों को अधिक हानि न हो इसलिये पत्नी से बोला—"अपने घर में पड़ा हुआ जो भी सोना या जेवर है वह इस समय दे दो।"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

व्यापारी की पत्नी उन औरतों में से नहीं थीं जो जेवर के लिए मरती हैं और पति की जान जाने का अवसर आ जाने पर भी उसे निकाल कर नहीं दे सकतीं। उस व्यापारी की पत्नी ने सहर्ष घर का सम्पूर्ण जेवर पति के हवाले कर दिया। व्यापारी ने सब आभूषणों को इकट्ठा किया और दुकान पर ले आया। उसके पश्चात् उसने सभी साहूकारों को बुलवाया और उनसे स्पष्ट कहा—

"बन्धुओ! हाल ही में मुझे व्यापार में जबर्दस्त घाटा लग गया है, और मैं इस स्थिति में नहीं हूँ कि आप सबका पूरा ऋण चुका सकूँ। किन्तु यह मेरे घर का सम्पूर्ण जेवर मकान तथा खेत आदि जो कुछ भी हैं आपके सामने हैं। मैं चाहता हूं कि इस सबको लेकर आप सब आपस में बाँट लें तथा मुझे ऋण से कुछ हलका करें। ईश्वर ने चाहा तो भविष्य में कभी मैं आप सबका बचा हुआ ऋण भी अवश्य चुकाऊँगा।"

साहूकार लोग व्यापारी की बात सुनकर हक्के-बक्के रह गये। पर उसकी ईमानदारी और नैतिकता से बहु प्रभावित हुए। सबके दिलों में विचार आया कि यह ईमानदार व्यक्ति हमारे रुपये कभी हजम नहीं कर सकता। इस वक्त यद्यपि इसे नुकसान उठाना पड़ा है, पर अगर इसे अपने व्यापार को संचालन करने का मौका मिल जाए तो यह सबका ऋण अवश्य ही चुका देगा। वैसे भी हमें अभी पूरा रुपया तो मिल नहीं सकता है अतः अच्छा यही है कि यह अपने व्यापार में संभल जाय ताकि अपनी प्रतिष्ठा भी बनाए रखे और हमारा रुपया भी सुरक्षित हो जाय।

ऐसा विचार कर सब व्यापारियों ने सलाह की तथा प्रत्येक ने पच्चीस-पच्चीस हजार रुपये उस व्यापारी को पुनः दे दिये। उन्होंने कहा—भाई! संकट का समय किसी के लिये और कभी भी आ सकता है। इसके अलावा तुम इतने नीति वान और ईमानदार हो कि हमारा पैसा कभी न कभी निश्चय ही चुका दोगे। अतः यह सब रुपया लो और पुनः अपने व्यापार को चालू करो। हमें उस समय कुछ भी नहीं चाहिए। यह जेवर और सोना वापिस घर ले जाओ और अपनी जायदाद भी रहने दो।

इस प्रकार बिना कुछ भी लिये, उलटे अपने पास से पच्चीस-पच्चीस हजार और देकर वे सब साहूकार अपने-अपने स्थान पर चले गये। यह सब क्यों हुआ? इसलिये कि व्यापारी ने अपना कर्तव्य पूर्ण रूप से निभाया तथा सच्चाई पूर्वक अपनी सही स्थिति लोगों के सामने रख दी। अगर वह किसी प्रकार की बेईमानी करता और अपने कर्तव्य से च्युत होता तो उसका फल कभी इतना सुन्दर नहीं होता।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

व्यापारी को लोगों की सहायता और सहानुभूति से हिम्मत बँध गई और प्राप्त हुई पूँजी से उसने पुनः अपना व्यापार जमा लिया। सौभाग्य से कुछ ही समय में उसने आशा से अधिक धन कमा लिया और उन्हीं सब साहूकारों को बुलाकर बोला—

"भाइयो ! मैं आपका बड़ा कृतज्ञ हूं कि आप लोगों ने मेरी विपत्ति में सहायता की, अन्यथा मैं कभी ऋण-मुक्त नहीं हो सकता था। पर आप सबकी सद्भावना से आज मैं इस काबिल हो गया हूं कि आपका कर्ज चुका सकूं अतः अब कृपा करके अपने रुपये ब्याज सहित ले जाइये। मैं केवल आपके पैसे का ऋण ही चुका रहा हूँ, आपके प्रेम का ऋण तो असीम है और उसका चुकना संभव नहीं है।

बन्धुओ, जिस प्रकार घाटा खाये हुए व्यापारी ने अपने कर्तव्य का पालन किया, उसी प्रकार साहूकारों ने भी अपने कर्तव्य का पालन किया तथा एक गिरते हुए व्यक्ति को सहारा देकर पुनः उठाया। इसीप्रकार साधु और श्रावक को भी अपने कर्तव्य, यानी व्रतों के पालन में दृढ़ रहना चाहिये। तथा परिषह या उपसर्ग आने पर जिन वचनों का सहारा लेकर अपनी आत्मा को पुनः सम्हाल लेना चाहिये। उन्हें सोचना चाहिये—

उपसर्ग और परिषह हैं ऋण का देना।
बदला लेकर क्यों नया कर्ज फिर लेना ?
मानापमान जिन ने समान पहचाना,
कर कर्म निर्जरा पाया मोक्ष ठिकाना।

—शोभाचन्द्र भारिल्ल

भारिल्ल जी ने अपने इस पद्य में गूढ़ भावों को गागर में सागर के समान भर दिया है। उन्होंने बताया है कि पूर्वकृत कर्मों का निविड़ बन्धन होने पर ही प्राणी पर नाना प्रकार की विपत्तियाँ आती हैं उसे अनेकानेक संकटों का सामना करना पड़ता है। तथा और तो और संत-मुनिराजों को भी उपसर्गों और परिषहों से बचना असंभव हो जाता है।

बहुत से व्यक्ति आकर हमें यह कहते हैं—

"महाराज ! हम संसारी प्राणियों को तो दुःख एवं कष्ट भोगना पड़ता है सो ठीक ही है पर साधु-संत तो कोई पाप नहीं करते फिर उन्हें क्यों कष्टों का सामना करना पड़ता है ?

अरे भाई ! यह ठीक है कि संत-मुनिराज अपनी साधना के कड़े नियमों का पालन करते हुए पाप नहीं करते। किन्तु पिछले जन्म के कर्मों का फल तो भोगना

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ही पड़ता है। इस जन्म में पाप नहीं करेंगे तो अगले जन्मों में शुभ फल प्राप्त होगा किन्तु पिछले कर्म कहाँ जाएँगे ? उदाहरण स्वरूप किसी व्यक्ति ने अपनी गरीबी हालत में किसी से दो रुपये कर्ज ले लिये। अब उसके पश्चात् संयोगवश उसके नाम लॉटरी निकल आई और वह लखपती बन गया। खूब धन प्राप्त हो जाने पर उसने स्वयं लोगों को रुपया उधार देना प्रारम्भ कर दिया और ब्याज-बट्टे से अपना काम सुचारु रूप से चलाने लगा।

किन्तु भले ही वह औरों को लाख रुपये भी कर्ज के रूप में दे दे, पर उसने जो लॉटरी निकलने से पूर्व दो रुपये कर्ज में लिये थे वे तो उसे चुकाने पड़ेंगे या नहीं ? क्या औरों को लाख रुपये का कर्ज देने से उसका दो रुपये का कर्ज चुक जाएगा ? नहीं, कर्ज तो चाहे एक पाई का ही क्यों न हो, उसे स्वयं चुकाना पड़ेगा और तभी वह चुकेगा।

यह मानव-जन्म भी एक लॉटरी के समान है जो कि संयोगवश जीव को मिल गया है। इसके द्वारा अवश्य ही यह महान पुण्यों का संचय कर सकता है, यहाँ तक कि तीर्थंकर गोत्र बाँधकर मुक्ति भी हासिल कर सकता है। किन्तु पिछले जन्म में जो पाप किये होंगे चाहे वे थोड़े रहे हों या अधिक, उनमें से तो एक-एक का फल उसे अवश्य ही भोगना पड़ेगा। एक भी कर्म इधर-उधर नहीं होगा। महाभारत में कहा भी है—

यथा धेनुसहस्रेषु वत्सो विन्दति मातरम्।
एवं पूर्वकृतं कर्म कर्तारमनुगच्छति॥

—वेदव्यास (महा० शांतिपर्व)

—जिस प्रकार बछड़ा हजारों गायों के बीच में से भी अपनी मा को ढूँढ़ लेता है, उसीप्रकार पहले का किया हुआ कर्म भी कर्ता को पहचान कर उसका अनुसरण करता है। अर्थात्-फल भोगने को बाध्य कर देता है।

भगवान महावीर तीर्थंकर थे किन्तु उन्हें भी अपने कानों में कीले ठुकवाने पड़े। पार्श्वनाथ प्रभु को भी कमठतापस ने पूर्व दस जन्मों की शत्रुता के कारण हर बार उन्हें उपसर्गों में डाला। ऐसे अनेकों उदाहरण हम धर्म ग्रंथों से जान सकते हैं।

अतः कवि का यह कथन है कि उपसर्ग और परिषह ऋण का देना है यानी पूर्व जन्मों में बँधे हुए कर्मों का भुगतान करना है। इसीलिये उन्हें परम समाधि भाव से सहन करना चाहिये। आगे कहा है—'बदला लेकर फिर नया कर्ज क्यों लेना ?

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बात कितनी सुन्दर और यथार्थ है। कि अगर हम शांति पूर्वक परिषहों को सहन कर लेते हैं तो पूर्वकृत कर्मों पर अगर आर्त ध्यान पैदा हो गया और उपसर्ग-प्रदान करने वाले के प्रति बदला लेने की भावना मन में आ गई तो पुनः कर्मों का बन्धन हो जाएगा। दूसरे शब्दों में फिर जीव कर्मों का कर्जदार हो जाएगा और अगली बार उन्हें फिर भुगत कर चुकाना पड़ेगा।

इसलिए, मान और अपमान, दुःख और सुख सभी को समान समझकर मुमुक्षु को अपने कर्मों की निर्जरा करनी चाहिये। वही व्यक्ति मुक्ति का अधिकारी बनता है जो प्रत्येक स्थिति में समभाव रखता है तथा परिषहों को पिछला कर्ज समझ-कर उसे शांति से चुकाता है। वह भव्य प्राणी नवीन कर्म बांधकर पुनः कर्जदार कभी नहीं बनता।

साधना के पथ का पथिक कभी परिषहों से नहीं घबराता, वरन उन्हें अवश्य भावी या होनहार मानकर स्वीकार करता है। क्योंकि वह भली-भाँति जानता है कि वही कुछ जीवन में घटता है जो होना अनिवार्य है। आप और हम भी प्रायः यही कहते हैं—'होनहार बलवान है।' इस सम्बन्ध में एक बड़ा मनोरंजक किन्तु शिक्षाप्रद उदाहरण वैष्णव साहित्य में पाया जाता है—नमस्कार किसको ?

घटना इस प्रकार बताई जाती है कि एक बार एक कुए पर तीन स्त्रियाँ पानी भर रहीं थीं। वे पानी भरते-भरते आपस में हँसी-मजाक और गप-शप करती जा रही थी।

संयोगवश उसी समय उधर से नारदजी घूमते-घामते निकल आए। नारदजी, नारदजी ही थे, उन्होंने तीनों के समक्ष एक बार झुककर नमस्कार किया और वहाँ से चलते बने।

नारदजी के नमस्कार करते ही वे तीनों स्त्रियां खुश हुई और उनमें से एक बोली—

"नारदजी कितने अच्छे हैं ? उन्होंने मुझे पहचान लिया और नमस्कार भी किया।

यह सुनकर दूसरी स्त्री बोली—"अरे वाह ! नारदजी ने तो मुझे पहचाना है, तभी तो उन्होंने नमस्कार किया था।" उन दोनों स्त्रियों की बातें सुनते ही तीसरी भड़क उठी और बोल पड़ी—

"तुम दोनों अपने आपको समझती क्या हो ? नारदजी ने केवल मुझे ही नमस्कार किया था। भूल जाओ इस बात को कि उन्होंने तुम्हें प्रणाम किया है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इस पर पहले बोलने वाली दोनों कैसे चुप रहतीं ? प्रत्येक अड़ गई कि नारदजी ने मुझे ही नमस्कार किया। बस फिर क्या था, कुए पर तीनों ने झगड़ना शुरू कर दिया और पानी भरना भूल गईं।

ठीक उसी समय एक वृद्ध महात्माजी उस रास्ते से आए जो कुए के बगल से ही जाता था। वे कुए पर तीन स्त्रियों को इस बुरी तरह झगड़ते देखकर बड़े चकित हुए और उनके पास आकर झगड़ने का कारण पूछने लगे—

वृद्ध पुरुष को समीप आया देखकर वे कुछ शांत हुईं और उन्हें अपने लड़ने का कारण बताया। स्त्रियों की बात सुनकर महात्माजी समझ गए कि यहाँ भी नारदमुनि कुछ गोल-माल कर गए हैं। पर प्रत्यक्ष में वे बोले—"तुम लोग कहो तो मैं उन ऋषिजी को वापिस ढूँढ़ लाऊँ और उन्ही से यह पूछ लिया जाय कि उन्होंने किसे नमस्कार किया है ?"

महात्माजी की बात से तीनों स्त्रियाँ सहमत हो गईं और बोलीं—"भगवन, यही ठीक है। आप शीघ्र जाकर उन्हें लौटा लाइये ताकि हमें मालूम तो हो जाय कि नारदजी ने हममें से किसे नमस्कार किया है।"

यह सुनकर महात्माजी जिस दिशा में नारदजी गये थे, उस ओर चल पड़े। किन्तु नारदजी को जाना कहाँ था ? जैसी उनकी आदत थी, वे कुछ ही दूरी पर झाड़ियों की आड़ में बैठे तमाशा देख रहे थे। महात्माजी ने उन्हें देख लिया और जा पकड़ा। तत्पश्चात् बोले—"आपका यह कैसा काम है ? आग लगाकर तमाशा देखने बैठ जाते हैं। चलिये अब निपटाइये उनके झगड़े को !"

बेचारे नारदमुनि अचानक ही पकड़े गये समझकर घबरा उठे पर करते क्या ? मन मारकर महात्मा जी के साथ चले। उन्हें खुद ही समझ में नहीं आ रहा था कि अब मैं झगड़ा निपटाऊँगा कैसे ?

पर आखिर दोनों कुए के पास पहुंच गए। अधिक दूर तो वह था ही नहीं। महात्मा जी बोले— अब सच-सच बतलाओ कि आपने इनमें से किसे नमस्कार किया था ?

नारद जी अपनी सफाचट खोपड़ी खुजाते हुए कुछ पल सोचते रहे और अचानक उनके दिमाग में कुछ सूझ आई। अतः वे स्त्रियों से बोले—

"देवियो ! मैं तो आपको जानता नहीं हूँ अतः पहले मुझे क्रम से अपना परिचय दो और अपने नाम बताओ।"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तब उनमें से एक पहले बोली—"ऋषि जी ! मेरा नाम लक्ष्मी है और मैं लोगों को धन-माल से भरपूर करके संसार के अनेक सुख प्रदान करती हूँ। अब कहिये आपका नमस्कार मेरे लिये ही था न ?"

नारद जी बोले—"नहीं ! तुम कुछ लोगों को ही निहाल करती हो। संसार के बड़े-बड़े विद्वान और ज्ञानियों के निकट तुम नहीं फटकतीं अतः मैंने तुम्हें नमस्कार नहीं किया।"

लक्ष्मी नारद की बात सुनकर चुप हो गई। कुछ भी नहीं बोल सकी। अब दूसरी स्त्री प्रसन्न होकर कह उठी—"मेरा नाम सरस्वती है ऋषिराज ! तुम्हारे बताए हुए विद्वान और ज्ञानी पुरुष मुझे ही चाहते हैं और मैं उन पर अपनी कृपा उँड़ेल देती हूँ। निश्चय ही आपने मुझे प्रणाम किया था। ठीक है न ?"

सरस्वती की बात सुनकर नारद जी अपनी चोटी ठीक करते हुए धीरे-धीरे बोले—"मैंने तुम्हें भी नमस्कार नहीं किया। क्योंकि तुम भी अपनी कृपा इने-गिने लोगों पर ही करती हो। बड़े-बड़े धनी और कुबेरपति तो तुम्हारी दया न होने से गोबर गणेश ही रह जाते हैं।" नारद जी की बात सुनकर सरस्वती भी अपना सा मुँह लेकर रह गई।

अब तीसरी स्त्री की बारी आई। दो स्त्रियों के प्रति नारद जी का मन्तव्य सुनकर वह भी कुछ-कुछ निराश होते हुए हिचकिचाहट पूर्वक बोली—

"नारद जी ! मेरा नाम तो होनहार है।" स्त्री के मुँह से यह शब्द सुनते ही नारद जी उछल पड़े और उसे आगे कुछ भी बोलने का मौका न देते हुए उसे पुनः हाथ जोड़ते हुए बोले—"देवी ! तुम्हें ही मैंने नमस्कार किया था। तीनों में से तुम ही बस ऐसी हो जो लाख प्रयत्न करने पर भी अपना करिश्मा लोगों को दिखाए बिना नहीं रहतीं और तुम्हारी कृपा से ससार का कोई भी व्यक्ति चाहे वह चक्रवर्ती हो और चाहे भिखारी, कोई वंचित नहीं रहता। तुम ही वह देवी हो जिसे मैं तो क्या संसार का हर व्यक्ति नमस्कार करता है।"

तो बंधुओ, मैं आपको यह बता रहा था को होनहार को कोई नहीं टाल सकता। साथ ही ध्यान में रखने की बात यह है कि होनहार या होनी का निर्माण कर्मबन्धनों के द्वारा होता है अतः जबकि कर्मों के फल को भोगे बिना नहीं बचा जा सकता तो फिर होनी को कैसे टाला जा सकता है ?

मन को डोल मत दो ?

इसलिये मेरा यही कहना है कि जब हमें उत्तम कुल, उत्तम जाति, उत्तम

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

क्षेत्र और उत्तम पुरुषों की तथा संतों की संगति का भी अवसर मिल गया है तो क्यों न हम इनका लाभ उठाएँ ? पर इन सबका लाभ तभी उठाया जा सकता है जबकि हम जिन-वचनों पर विश्वास करें, उनके अनुसार श्रावक या साधु-धर्म को अंगीकार करें तथा अंगीकार करने के पश्चात् उनका पूर्ण दृढ़तापूर्वक पालन भी करें। अन्यथा व्रत-नियम ग्रहण तो कर लिये पर तनिक भी भूख या प्यास सहन करने का अवसर आया और व्रतों को ढील दे बैठे तो व्रतों का ग्रहण करना और न करना क्या लाभ पहुंचाएगा ? अनेक व्रतों का पालन करने वाले साधक के मार्ग में तो क्षुधा तथा पिपासा आदि बाईस परिषहों में से कोई भी परिषह कभी भी आ सकता है। उस समय अगर हम कच्चे पड़ गए तो फिर कुछ भी बनने वाला नहीं है। ठीक है कि पूर्व पुण्यों के संयोग से हमें पाँचों इन्द्रियों से और मन, विवेक तथा स्पष्ट वाणी आदि से परिपूर्ण शरीर मिल गया है पर इस शरीर को पाकर केवल पूर्व पुण्यों से प्राप्त सुख-भोग हमने कर लिया पर भविष्य के लिये कुछ संचय नहीं किया तो खाली हाथ ही जाना पड़ेगा।

इस विषय में जीव को व्यापारी के रूप में बताकर ठाणांग सूत्र में बड़े सुन्दर ढंग से समझाया गया है कि इस संसार में चार प्रकार के व्यापारी जीव आते हैं।

(१) प्रथम प्रकार का व्यापारी जीव वह होता है जो शक्कर की गाड़ी भर कर लाता है और पुनः शक्कर भरकर ही ले जाता है। अर्थात् पूर्व जन्म में वह शुभ करणी करके पुण्य साथ लाता है, जिनसे इस जन्म में सुखी रहता है और इस जन्म में शुभ कर्म करके पुनः पुण्य संचित करता है जिनके द्वारा परलोक में सुख हासिल करता है।

सेठ शालिभद्र ऐसे ही जीव थे। उनके पूर्व जन्म में संचित किये हुए इतने पुण्य थे कि वे यह भी नहीं जानते थे कि हमारे गाँव में हमारे राजा कोई श्रेणिक भी हैं। उनकी ऋद्धि का वर्णन करना संभव नहीं है। बताया जाता है कि उनके यहाँ स्वर्ग से तेतीस पेटियाँ प्रतिदिन उतरा करतीं थीं जो धन-धान्य, वस्त्राभूषण एवं अमूल्य रत्नादि से परिपूर्ण होतीं थीं। इससे सहज ही अन्दाजा लगाया जा सकता है कि शालिभद्र जी किस ऐश्वर्य में पले होंगे। और इतना ऐश्वर्य तथा संसार का सुख उन्हें किस प्रकार मिला ? पूर्वकृत पुण्यों के उदय से ही तो।

पर पूर्व-पुण्यों के खजाने को उन्होंने उस जन्म में ही नहीं समाप्त कर दिया वरन अगले जन्मों के लिये भी नवीन पुण्य उपार्जन कर लिये। संयोग इस प्रकार बना कि एक बार महाराजा श्रेणिक शालिभद्र के यहाँ की ऋद्धि का अभूतपूर्व वर्णन

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सुनकर उसे देखने के लिये उनके यहाँ पधारे। शालिभद्र की माता ने महाराज को घर आया हुआ देखकर अपार प्रसन्नता से अपने पुत्र को पुकारा—"बेटा ! नीचे आओ, अपने यहाँ स्वयं महाराज पधारे हैं।"

शालिभद्र ने वहीं से अनमने भाव से उत्तर भिजवा दिया—"भंडार में डलवा दो।" वे यह भी नहीं जान पाये कि राजा क्या होता है ?

तब मा ने स्वयं जाकर समझाया—"अरे बेटा ! हमारे स्वामी आए हैं अतः उनके दर्शन करलो।"

यह सुनकर शालिभद्र जी चौंक पड़े और सोचने लगे—"अभी तक तो मैं स्वयं को ही अपना मालिक समझता था पर क्या ये मेरे भी मालिक हैं ? तब तो मुझे अब ऐसा करना है कि मेरा कोई भी स्वामी न बन सके।"

यह सोचते-सोचते ही उन्हें विरक्ति हो गई एवं उन्होंने अपनी ऋद्धि एवं बत्तीस पत्नियों को छोड़कर संयम ग्रहण कर लिया। और जिस प्रकार पुण्य रूपी शक्कर की गाड़ी भरकर उस जन्म से लाए थे, उसी प्रकार पुनः शुभ-कर्म रूपी शक्कर गाड़ी में भरकर इस लोक से भी ले गये। इस प्रकार भरत चक्रवर्ती आदि के भी उदाहरण हमारे शास्त्र में मौजूद हैं।

(२) अब हम श्री स्थनांग सूत्र में वर्णित दूसरे प्रकार के व्यापारी जीव के विषय में विचार करते हैं। शास्त्र के अनुसार दूसरी तरह का व्यापारी जीव वह बताया गया है जो पिछले जन्म से तो गाड़ी खाली लाता है, किन्तु इस जन्म में उसे भरकर ले जाता है।

खाली गाड़ी से तात्पर्य पुण्य-हीनता है। पुण्यों के अभाव में वह इस जन्म में तो कुछ प्राप्त नहीं करता किन्तु धर्म-ध्यान, जप-तप एवं चारित्र की आराधना करके अगले जन्म के लिये पुण्य-रूपी शक्कर अपनी गाड़ी में भर लेता है।

हमने देखा है, बम्बई जैसे बड़े नगर में अनेक गुमास्ते बड़ी-बड़ी पेढ़ियों पर काम करते हैं। वे दिन भर मेहनत करके अपने मालिक को लाखों रुपयों का नफा दिलाते हैं। किन्तु स्वयं उन्हें कठिनाई से गुजारा करने लायक ही पैसा मिलता है। किन्तु वे वफादारी से कार्य करते है और अपने मालिक से प्रथम ही इतना वायदा करा लेते हैं कि हम अपना नित्य-नियम स्वाध्याय एवं भजन-पूजन आदि करके काम पर आएँगे अतः कभी देर भी हो जाय तो आप हमें क्षमा कीजियेगा।

इस प्रकार इस जीवन में यद्यपि वे सुख के साधन अपने लिये नहीं जुटा पाते किन्तु परलोक के सुख की सामग्री संचित कर लेते हैं। मुनिवर हरिकेशी चांडाल कुल

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

में उत्पन्न हुए थे, शारीरिक सौन्दर्य भी नहीं था और धन का तो सवाल ही कहाँ था। तात्पर्य यह है कि उनका जीव पूर्व के पुण्यों से सर्वथा रहित आया था। किन्तु अपने उस मानव-जन्म में उन्होंने घोर संयम-साधना करके इतने शुभ-कर्मों का उपार्जन कर लिया कि संसार-मुक्त ही हो गये। ऐसे उदाहरणों से साबित होता है कि खाली गाड़ी लाने वाला व्यापारी जीव यहाँ गाड़ी भर करके ले जाता है।

(३) अब आते हैं तीसरे प्रकार के व्यापारी जीव। ये जीव वे कहलाते हैं जो कि पिछली शुभ करणी के द्वारा अपनी गाड़ी तो पुण्य रूपी शक्कर से भरकर लाते हैं, किन्तु यहाँ उसे खाली कर देते हैं और फिर भर नहीं पाते। उसे खाली ही ले जाते हैं।

ऐसे जीवों के लिये हम रावण, कंस, एवं ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती आदि के उदाहरण ले सकते हैं। इन लोगो ने पिछले जन्म से जप, तप, धर्म-ध्यान आदि के कारण अपने वर्तमान भव में असीम ऋद्धि एवं विपुल सुख के साधन प्राप्त किये। किन्तु फिर अनीति, अहंकार एवं अन्याय पूर्ण आचरण के कारण आगे के लिये कुछ भी उत्तम फल प्राप्त नहीं किया। उलटे, अपनी पुण्य से खाली की हुई गाड़ी में असंख्य पाप-कर्मों की मिट्टी भरकर ले गये, ऐसे जीव भाग्यहीन कहलाते हैं।

(४) अब चौथे प्रकार के व्यापारी जीवों का दृश्य सामने आता है। ये जीव भी पूर्णतया हतभागी होते हैं जो कि न तो कुछ पुण्य लेकर आते हैं, और न ही यहाँ से कुछ लेकर जाते हैं। इनकी गाड़ी रीती आती है और रीती ही जाती है। यह भी कहा जा सकता है कि वे मिट्टी ढोकर लाते हैं और यहाँ से भी मिट्टी ही ले जाते हैं।

वे जन्म लेते हैं पर कभी पेट भर रोटी और लज्जा ढकने के लिये वस्त्र भी प्राप्त नहीं कर पाते। कितने ही भिखारियों को हम देखते हैं जो जन्म के पश्चात् से ही घृणित जीवन बिताते रहते हैं। लोगों की जूठन खाकर पेट को कुछ खुराक देते हैं तथा माँग-माँगकर किसी प्रकार जीते रहते हैं। परिणाम यही होता है कि पुण्यहीन होकर ही वे आते हैं और धर्म के नाम को भी न जानने वाले वे पुण्य रहित ही जाते हैं। अनेक व्यक्ति चोरी डाके डालकर यहाँ भी सजा भोगते हैं और आगे जाकर भी दुख पाते हैं।

तो बंधुओ, स्थानांगसूत्र के इन चार उदाहरणों से आप भली-भाँति समझ गए होंगे कि मनुष्य का इस जन्म में क्या कर्तव्य है और क्या अकर्तव्य। क्या करने से उसका परलोक बनता है और क्या करने से बिगड़ जाता है। आपके सामने अभी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चार प्रकार के व्यापारी जीवों के विषय में बताया गया है, और यह आपको निर्णय कर लेना है कि आप किस प्रकार के व्यापारी बनना चाहते हैं।

आप अपनी गाड़ी में शक्कर भरकर लाए हैं यह तो दिखाई दे ही रहा है किन्तु गाड़ी यहाँ पर जो खाली हो रही है, उसे पुनः किससे भरना है? शक्कर से या मिट्टी से? आप मिट्टी के नाम से नाराज हो रहे होंगे? पर भाई, शक्कर भी यों ही तो नहीं मिल जाएगी। उसके लिये त्याग करना पड़ेगा, नियम लेने पड़ेंगे, ज्ञान, दर्शन, चारित्र एवं तप की आराधना करनी होगी तथा संवर के मार्ग पर आत्मा को बढ़ाना पड़ेगा। परलोक कोई नानीजी का घर नहीं है कि कुछ परिश्रम किए बिना ही वहाँ सब कुछ मिल जाय।

इसलिए बन्धुओ! इस दुर्लभ भव को पाकर हमें भली-भाँति जान लेना है कि हमारे लिए कर्तव्य क्या हैं और अकर्तव्य क्या हैं। जब हम यह समझ लेंगे तभी संवर के मार्ग पर चलकर आत्म-कल्याण कर सकेंगे।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

१९ | कं बलवन्तम् न बाधते शीतम्

धर्मप्रेमी बंधुओ, माताओ एवं बहनो !

पिछले प्रवचनों में हम संवर के विषय में विचार-विमर्श करते आ रहे हैं। संवर के सत्तावन भेद हैं, जिनमें पहले पांच समितियाँ और तत्पश्चात् तीन गुप्तियाँ हैं। इन आठों के बाद बाईस परिषह आते हैं। बाईस परिषहों में से प्रथम क्षुधा-परिषह और दूसरे पिपासा-परिषह को भी हम ले चुके हैं।

आज तीसरे परिषह का नम्बर है। तीसरा परिषह है—'शीत परिषह।'

इस विषय में भगवान महावीर का आदेश है—

चरंतं विरयं लूहं, सीयं फुसइ एगया।
नाइवेलं मुणी गच्छे, सोच्चाणं जिणसासणं॥

—उत्तराध्ययन सूत्र, अ० २।६

अर्थात्—ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए सावद्य प्रवृत्ति के त्यागी और रूक्ष वृत्ति वाले साधु को अगर कहीं पर शीत का अनुभव हो तो वह उसे कष्ट समझकर स्वाध्याय के समय का उल्लंघन करके किसी अन्य स्थान पर न जाए तथा जिन शासन को समझकर शीत के परिषह को सहन करे।

आप सब भली-भाँति जानते हैं कि साधु सदा भ्रमण करते रहते हैं। वे स्थिर रहते हैं चातुर्मास में तथा अन्य किसी विशेष कारण से। यथा—शिक्षा के प्रसंगवश दीक्षा के प्रसंग पर, अस्वस्थता के कारण या फिर संथारे के कारण। ऐसे विशेष कारणों से वे एक स्थान पर उद्देश्य की पूर्ति तक ठहरते हैं, अन्यथा यत्र-तत्र विचरते हैं। संतों के लिये तो कहा भी जाता है—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बहता पानी निर्मला, पड़या गंदेला होय।
साधु तो रमता भला, दागन लागे कोय॥

देखा जाता है कि पानी जब तक बहता रहता है, तब तक वह पूर्णतया निर्मल रहता है। किन्तु अगर वही पानी एक स्थान पर इकट्ठा हो जाय तो अशुद्ध व मलिन हो जाता है। जिस स्थान पर पानी रुकता है उसे मराठी भाषा में 'डबक' कहते हैं और हिन्दी में 'गड्ढा'। खैर उसे कुछ भी कहें, पर यह सत्य है कि उस स्थान पर पानी गदा, दुर्गंधपूर्ण हो जाता है तथा वहाँ काई जमा हो जाती है।

इसी प्रकार साधु के लिये भी कहा जाता है कि अगर वह एक ही स्थान पर अधिक समय तक ठहरे तो उसकी आत्मा अलिन हो जाती है। आप विचार करेंगे कि ऐसा क्यों ? वह इसलिए कि अगर वह एक ही गाँव या शहर में अधिक समय रहे तो उसका वहाँ के व्यक्तियों के प्रति मोह हो जाएगा और एक ही स्थान पर अधिक ठहरने से कुछ न कुछ परिग्रह भी बढ़ेगा। इसी प्रकार और भी कुछ न कुछ अप्रिय घट सकता है, अतः भगवान ने आदेश दिया है कि साधु विचरण करता रहे तथा गाँव छोटा हो तो वहाँ पर केवल एक रात्रि के लिये ही ठहरे।

यहाँ एक बात ध्यान से समझने की है कि शास्त्रों के अनुसार समय का प्रमाण इस प्रकार है छोटे गाँव में एक रात्रि, यानी अगर साधु सोमवार को गाँव में पहुंचे तो अगले सोमवार की रात्रि आने से पहले वहाँ से रवाना हो जाय। यानी एक सप्ताह ठहरे। इसी प्रकार बड़े शहर में पाँच रात्रि यानी उन्तीस दिन रहे।

कहने का अभिप्राय यही है कि विशेष कारण और चार महीने के वर्षावास के अलावा साधु ग्रामानुग्राम विचरण करता रहे और धर्म-प्रचार करे। गाथा में आगे बताया है कि विचरण वह किस प्रकार करे ? साधु जो कि सांसारिक सुखों से विरक्त हो जाता है तथा अपनी इन्द्रियों को काबू में कर लेता है वह फिर भूख प्यास शीत-ग्रीष्म, किसी भी परिषह की परवाह नहीं करता। और इसलिये रूक्ष वृत्ति रखता हुआ यानी स्निग्ध भोजन आदि की इच्छा न करता हुआ पूर्ण सन्तोष-वृत्ति के साथ वह मार्ग में चले और रात्रि-विश्राम करे ऐसा संयमी-साधक के लिए विधान किया गया है।

आगे कहा गया है कि वह शीत परिषह को भी सहन करे और उससे बचने के लिये स्वाध्याय आदि के समय का उल्लंघन करके स्थानांतरण न करे।

शीत परिषह

आप जानते ही हैं कि शीत का प्रकोप कैसा भयंकर होता है ? उससे बचाव करने के लिये आप कितने ही गर्म वस्त्र पहनते हैं, हीटर आदि जलाकर कमरे गर्म

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कर लेते हैं, दिन में और रात्रि में भी चाय, कॉफी आदि गर्म पेय ग्रहण करते हैं तथा मोटे-मोटे गद्दे और रजाइयों में दबकर शयन करते हैं। और इसलिये शीत का कोप आपको सहना नहीं पड़ता।

किन्तु जिनके पास शीत-निवारण के साधन नहीं होते ऐसे अभावग्रस्त सैकड़ों व्यक्ति सर्दी का भयानक कष्ट सहते हैं तथा कथड़ी-गुदड़ी ओढ़कर पड़े रहते हैं। फिर भी जब सर्दी सहन नहीं हो तो घास-फूस जलाकर बड़ी कठिनाई से रात्रि व्यतीत करते हैं। यह तो हुए वे लोग जो कुछ तो सर्दी से बचाव कर ही लेते हैं, पर अनेकों व्यक्ति तो बेचारे इनसे भी गये बीते होते हैं जिनके पास न घर होता है और न वस्त्र ही। बम्बई जैसे शहरों में तो सैकड़ों व्यक्ति फुटपाथ पर ही पड़े-पड़े ठिठुरते रहते हैं और सर्दी से अकड़ कर मृत्यु के मुँह में जा गिरते हैं।

यह तो हुई साधारण व्यक्तियों की बात मैं अब संत-मुनिराजों के विषय में कहने जा रहा हूँ। यद्यपि उनके पास भी शीत-निवारण के साधन नहीं होते और न ही गरम वस्त्र या रजाई गद्दे ही होते हैं, क्योंकि वे उतना ही वस्त्र अपने पास रखते हैं, जिसे स्वयं उठा सकें। परिणाम यही होता है कि वे भी शीत का प्रकोप सहने के लिये बाध्य होते हैं।

किन्तु बन्धुओ, आप यह न विचार लें कि उन अभावग्रस्त प्राणियों में और साधु में कुछ अन्तर नहीं होता। दोनों में महान अन्तर होता है। और वह अन्तर इस प्रकार कि—वे मनुष्य, जिनके पास शीत से बचने के लिये साधन नहीं होते, यद्यपि वे शीत परिषह को सहन करते हैं किन्तु हाय-हाय करके, अपने भाग्य को कोसते हुए तथा ईश्वर को भी गालियाँ देते हुए सर्दी का समय बिताते हैं।

इसके विपरीत साधु त्याग की भावना से प्राप्त ऐश्वर्य और शीत तथा ग्रीष्मादि से बचाव के समस्त साधनों को स्वयं छोड़ देता है। वह गरम वस्त्रों की प्राप्ति सुलभ होने पर भी मर्यादित वस्त्र रखता है। अग्नि के स्पर्श का त्याग करता है तथा आत्मिक दृढ़ता रखते हुए कर्मों की निर्जरा के उद्देश्य से पूर्ण सम-भाव एवं शांति से शीत-परिषह सहन करता है। यद्यपि शरीर का स्वभाव है कि उसे अत्यधिक शीत कष्टकर होता है, किन्तु सच्चे संत शरीर के प्रति मोह नहीं रखते अतः शीत के बचाव के लिये भी प्रयत्न नहीं करते। चाहे शीत हो या ताप, वे शरीर के सुख या कष्ट से सम्पूर्णतया ध्यान हटाकर अपने मन को चिन्तन-मनन एवं स्वाध्याय आदि की ओर मोड़ लेते हैं। भयंकर शीत की रात्रियों में भी वे उससे बचने के लिये स्थानांतरण नहीं करते तथा अपने स्वाध्याय आदि के समय का तनिक भी उल्लंघन नहीं करते।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

संस्कृत में एक श्लोक है, जिसमें प्रश्न है और उत्तर भी। श्लोक इस प्रकार है—

कं बलवन्तम् न बाधते शीतम्?
कंबलवन्तम् न बाधते शीतम्।

पद्य की प्रथम पंक्ति में कहा गया है—ऐसा कौन बलवान है, जिसको ठंड नहीं लगती? और दूसरी पंक्ति, जिसमें शब्द वही हैं, बताया गया है—कम्बल वाले को ठंड नहीं लगती। यानी जिसके पास कंबल है उसे सर्दी नहीं लगती।

अभिप्राय यही है कि शीत निवारण के लिये कंवल होना आवश्यक है किन्तु संत कहां ये सब रखते हैं? वे तो अपने साधारण वस्त्रों से ही काम चलाते है। चाहे कितना भी शीत का प्रकोप क्यों न हो, अपने सीमित वस्त्रों का ही उपयोग वे करते हैं। इसके साथ ही भगवान के आदेशानुसार अपनी दिन-चर्या अथवा रात्रि-चर्या में भी बाधा नहीं आने देते। कड़ाके की सर्दी क्यों न हो, ठीक समय पर स्वाध्याय, ध्यान, चिंतन और मनन में जुट जाते हैं। इस प्रकार तनिक भी कष्ट का अनुभव न करते हुए वे परम-शांति और प्रसन्नता पूर्वक शीत-परिषह सहन करते हैं।

भर्तृहरि ने अपने एक श्लोक में बताया है कि जिन व्यक्तियों को सांसारिक सुखों से विरक्ति हो जाती है वे यह सोचते हैं—

गङ्गातीरे हिमगिरिशिलाबद्धपद्मासनस्थ,
ब्रह्मध्यानाभ्यसनविधिना योगनिद्रां गतस्य।
किं तैर्भाव्यं मम सुदिवसैर्यत्र तं निर्विशंकाः,
संप्राप्स्यन्ते जरठहरिणा शृङ्गकंडूविनोदम्॥

संसार से उदासीन व्यक्ति यह भावना रखते हैं कि – अहा! वे सुख के दिन कब आएंगे जबकि हम गंगा नदी के किनारे पर हिमालय की शिलाओं पर पद्मासन लगाकर विधिपूर्वक नेत्र बंद करके ब्रह्म का ध्यान करते हुए योगनिद्रा में मग्न होंगे तथा वृद्ध हरिण निर्भयता पूर्वक हमारे शरीर की रगड़ से अपने शरीर की खुजली मिटाएंगे।

संसार-विरक्त प्राणी की कैसी सुन्दर भावनाएं हैं। वह इस प्रपंचमय जगत से दूर जाकर एकान्त में ब्रह्म के ध्यान में निमग्न हो जाना चाहता है। वह चाहता है कि मैं योग-निद्रा में ऐसा लीन हो जाऊँ कि अपने शरीर की सुध-बुध खो बैठूँ।

आप विचार कर सकते हैं कि शरीर की सुधि भूल जाने वाला साधक क्या

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

फिर शीत और ग्रीष्म का अनुभव करता है ? नहीं, ये सब परिषह तो उसे गौण लगते हैं उसके सामने महत्त्व केवल उसकी साधना का ही रहता है।

सच्चे मुनि के भी यही लक्षण हैं। वे अपनी साधना में इतने रत रहते हैं कि भूख-प्यास एवं शीतादि परिषह उन्हें महसूस ही नहीं होते। उन्हें ध्यान रहता है केवल अपनी संयम-साधना का वे अपने व्रतादि का पालन करने में इतने दृढ़ होते हैं कि शरीर की सुख-सुविधा के विचार उनके अन्तःकरण से निकल जाते हैं।

आपको क्या करना है

बंधुओ ! यह तो हुई हमारी मुनिचर्या की बात। आपमें इतना साहस, त्याग और दृढ़ता नही है। साधारण से साधारण कष्टों से भी आप घबरा जाते हैं तथा धर्म-क्रियाओं को और ईश-चिन्तन को एक ओर रख देते हैं। और तो और जिस समाज, देश और धर्म में आपने जन्म लेकर अपने आपको बड़ा किया है, उसके लिये किये जाने वाले साधारण कर्तव्यों का भी आप पालन नहीं कर पाते हैं। कम से कम इनका ध्यान तो आपको रहना ही चाहिये।

किसी कवि ने यही बात ध्यान में रखते हुए देश के नौजवानों को प्रेरणा देते हुए उनका साहस बढ़ाने का प्रयत्न किया है तथा कहा है—

नौजवानो, तुम कदम उलटे हटाना छोड़ दो,
काम के मैदान में पीछा दिखाना छोड़ दो।

कवि का कहना है—ऐ नौजवानो ! जिस देश, धर्म और जाति में तुमने जन्म लिया है, और जहाँ की मिट्टी से तुम्हारा पोषण हुआ है, कम से कम उसका खयाल तो करो। तुम्हारा कर्तव्य समाज और धर्म की सेवा करना है अतः उससे विमुख मत होओ। अभी तुम्हारे समक्ष बड़ा भारी कर्तव्य है, और वह है अपने धर्म और समाज को ऊँचा उठाना। इसलिये काम करो और कार्य-क्षेत्र में बढ़ते चलो। काम से मुँह मोड़कर पीठ मत दिखाओ। आगे कहा है—

ऐ उस्तादो ! तुम रहो हर वक्त पवन की तरह।
कंप कंपाना छोड़ दो और डगमगाना छोड़ दो !

नौजवानों को अत्यधिक प्रेरणात्मक 'उस्ताद' शब्द से सम्बोधित करते हुए कवि ने अपनी मनोरंजन वृत्ति का भी परिचय दिया है। उस्ताद वही होता है जो स्वयं भी समर्थ हो और दूसरों को भी समर्थ बना सके। अतः उसका कहना है कि देश के नवयुवको, तुम ऐसे ही शक्तिशाली, मार्गदर्शक बनो तथा अपने हृदय में तनिक भी भय मत रहने दो। कैसी भी विकट परिस्थिति क्यों न आए, कैसे भी कष्ट क्यों

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

न सहन करने पड़े और कैसे भी उपसर्ग तथा परिषहों का सामना क्यों न हो, तुम मेरु पर्वत की तरह अविचलित बने रहो तथा देश व धर्म लिये कभी कुरबानी देनी पड़े तब भी हँसते-हँसते बलिदान हो ही जाओ।

जैनाचार्य 'मानतुंग' ने भगवान ऋषभदेव की स्तुति करते हुए कहा है— हे प्रभो ! आपके समक्ष संसार के सम्पूर्ण ऐशोआराम आए किन्तु—

चित्रं किमत्रयदिते त्रिदशांगनाभि—
नीतम् मनागपि मनो न विकारमार्गम्।
कल्पान्तकालमरुता चलिता चलेन,
किं मन्दराद्रि शिखरं चलितं कदाचित्।।

अर्थात्—भगवन् ! आपका मन इस जगत के भोग-विलासों से विरक्त होने के कारण अप्सराओं और देवांगनाओं को अपने समक्ष पाकर भी विचलित नहीं हुआ। पर इसमें भी आश्चर्य की क्या बात है, क्योंकि प्रलयकाल की भयंकर वेगवान हवाएँ चलने पर भी मेरु-पर्वत कभी नहीं डोलता तो फिर आप तो चैतन्य स्थिति को प्राप्त एवं आत्मा की अनन्त शक्ति से परिपूर्ण हैं। इसलिये आपका मन विकार-मार्ग की ओर कैसे बढ़ सकता है ?

भगवान की इस शक्ति के प्रति नतमस्तक होता हुआ कवि भी नौजवानों को यही प्रेरणा दे रहा है कि जीवन में चाहे जैसी विकट स्थितियाँ क्यों न आएँ, मेरु-पर्वत की तरह अकंप रहो, डगमगाओ मत।

आगे कहा है—

कुर्सियों पर क्यों पड़े रहते हो मित्रो हर घड़ी,
लूले लंगड़े की तरह आराम पाना छोड़ दो।

कितनी सुन्दर बात कही गई है कि तुम्हारे माता-पिता और शिक्षकों ने तुम्हें कुछ करने योग्य बना दिया है और उच्च-पद भी तुम्हें मिल गए है। किन्तु उन पदवियों को पाकर तुम्हें उनका इतना नशा या अहंकार हो गया है कि अब आराम से तुम उन पर बैठे रहते हो, जैसे कि अब कुछ करने को शेष ही नहीं रह गया है। पर यह तुम्हारे मन का लंगड़ापन है। सही रूप से सोचा जाय तो नौजवानों के कार्य करने का समय तो अब सामने आया है जबकि वे स्वयं अपनी बुद्धि और बल के द्वारा देश, धर्म तथा समाज के लिये कुछ कर सकते हैं। दूसरे शब्दों में अभी तक तो औरों के सहारे से ऊँची कुर्सियों पर बैठ सके हैं पर उनका कार्य-क्षेत्र अब उन्हें पुकार रहा है। और इस समय वे पंगु के समान अपनी पदवियों से चिपके ही बैठे

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

रहें और कुर्सियाँ तोड़ते रहें तो यह उनके लिये शर्म की बात है। इसीलिये कवि उन्हें समझा रहा है—

धर्म का और देश का कितना है वाजिब तुम पै हक,
अब जरूरी फर्ज को तुम भूल जाना छोड़ दो।

कहते हैं – कुर्सी प्राप्त कर लेना और अपने नाम को फैला देना कुछ भी नहीं है, जब तक कि व्यक्ति अपने पद के अनुरूप कार्य न करे। उसे कुर्सी काम करने के लिए जनता प्रदान करती है, अपना घर भरने के लिये नहीं। कुर्सी-प्राप्त व्यक्ति को सोचना चाहिये कि देश और धर्म का उस पर कितना कर्ज है और उससे कार्य लेने का उसे कितना अधिकार है ? इसलिये प्रत्येक समर्थ व्यक्ति को अपना फर्ज कभी नहीं भूलना चाहिये।

हमारे इतिहास में तो ऐसे अनेकों उदाहरण मौजूद हैं कि बिना किसी पद को प्राप्त किये और बिना ख्याति लाभ की इच्छा के साधारण व्यक्तियों ने भी देश के लिये अनेक चमत्कारिक कार्य किये हैं।

सच्चा परोपकारी

मैंने एक बार एक बालक की कहानी पढ़ी थी आपने भी सुनी होगी। नाम मुझे याद नहीं है, इतना ध्यान है कि वह बालक घूमता-घामता ट्रेन की पटरियों के किनारे-किनारे कहीं जा रहा था।

अचानक एक स्थान पर उसकी दृष्टि पड़ी और उसने देखा कि किन्हीं दुष्ट व्यक्तियों ने वहाँ पर पटरियाँ उखाड़ दी हैं ताकि ट्रेन उस जगह आते ही एक्सीडेंट का शिकार बने और परिणाम स्वरूप अनेकों व्यक्तियों की प्राणहानि के साथ ही सरकार को क्षति हो।

यह देखते ही वह पन्द्रह या सोलह वर्ष का बालक बहुत घबराया। उसने देखा कि स्टेशन वहाँ से थोड़ी ही दूर है, सिगनल गिरा दिया गया है, क्योंकि गाड़ी के वहाँ से रवाना होने में थोड़ा ही वक्त है।

बालक विचार करने लगा कि अगर इस समय कुछ उपाय नहीं हो सका तो गाड़ी आ जाएगी और देखते-देखते ही अनेकों व्यक्तियों का संहार हो जाएगा। समय नहीं था अतः उसने किसी नुकीले पत्थर से कुछ क्षणों में ही अपने शरीर के किसी हिस्से में बड़ासा घाव कर लिया और जब तेजी से खून निकलने लगा तो अपनी कमीज को खोल कर उसी खून से रंग लिया।

कुछ मिनिटों में ही उसने यह कार्य कर लिया और आस-पास से कोई लकड़ी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उठाकर उस पर कमीज को झंडी की तरह टांग लिया। इसके पश्चात् उसे हाथ में लेकर हिलाता हुआ वह उस दिशा की ओर दौड़ चला जिधर स्टेशन था और जहां से गाड़ी आने वाली थी।

अब देखिये कि इधर से बालक अपने खून से कमीज रंगकर दौड़ रहा था और उधर से ट्रेन के चालक की दृष्टि दूर से दौड़कर आते हुए और हाथ में कुछ लाल-लाल सा कपड़ा हिलाते हुए बालक पर पड़ गई। दाल में कुछ काला समझ कर उसने फौरन गाड़ी को रोकने के लिये ब्रेक लगा दिया। पर मोटर के समान ट्रेन तो एकदम रुकती नहीं पर धीरे-धीरे उस बालक के समीप पहुँचने तक वह रुक गई। हो—हल्ला मच गया तथा लोग गाड़ी से उतर कर यह जानने का प्रयत्न करने लगे कि क्या हुआ है। पर इन सबसे पहले ड्राइवर तथा गार्ड वगैरह सभी शीघ्रता पूर्वक उस लहूलुहान लड़के के समीप पहुंच चुके थे।

सबने मिलकर उसे सम्हाला तथा उसके इस प्रकार दौड़ने का कारण पूछा। बालक ने मन्द-स्वर से कहा—"आगे पटरी टूटी हुई है। गाड़ी गिर जाती इसलिए मैंने अपनी कमीज को खून से रंगकर झंडी बनाई है। कृपया आप ट्रेन को उधर न जाने दें।"

यह कहते-कहते बालक अचेत हो गया क्योंकि उसके शरीर से बहुत खून बह गया था। पलक झपकते ही लोगों को बात समझ में आ गई और देश के उस नन्हें तथा वफादार नागरिक के प्रति उन सबका मस्तक झुक गया। सब लोग अपना बलिदान देकर इतने लोगों की जान बचाने वाले उस बालक के लिये आँसू बहाने लगे।

तो बन्धुओ, जो प्राणी अपने देश, समाज व धर्म के प्रति वफादार होते हैं तथा उनसे अनुरक्ति रखते हैं वे देश-धर्म का भला, ख्याति-लाभ, नामवरी या पुरस्कार प्राप्ति की इच्छा से नहीं करते। उनका हृदय केवल अच्छा कार्य करना चाहिए तथा सबका भला हो ऐसा करना चाहिए, यही कहता है और वे अपने हृदय की इसी प्रेरणा के वशीभूत होकर कार्य करते हैं।

तो कवि भी आप से यही कह रहा है कि अपना फर्ज और देश का अपने ऊपर कर्ज समझकर आप उसकी सर्वाङ्गीण उन्नति के लिए प्रयत्न करें। आगे कहा गया है—

"डाल दो खतरे में अपनी जिन्दगी को शौक से
धर्म की रक्षा में अपना तन बचाना छोड़ दो।'

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यह मानव शरीर जो जीव को मिला है, वह केवल खाने-पीने और मौज करने के लिए नहीं, अपितु देश और धर्म की रक्षा के लिए तथा आत्म-कल्याण करने के लिए मिला है। अतः प्राणों की परवाह किये बिना व्यक्ति को चाहिए कि वह इनकी रक्षा करे। संस्कृत में एक कहावत है—

"कार्यम् साधयामि वा देहम् पातयामि।"

आत्मविश्वासी और दृढ़ प्रतिज्ञ व्यक्ति जिस कार्य को करने का बीड़ा उठाता है, उसे सम्पन्न करके ही छोड़ता है। वह कहता है—'या तो काम पूरा ही करूँगा अन्यथा अपने प्राणों का उत्सर्ग कर दूँगा।' ऐसे दृढ़ विचारों वाले व्यक्ति ही हाथ में लिये कार्य को पूर्ण कर सकते हैं।

कविता में अब बताया गया है—

मैं ये कहता हूँ कि तुम गर्दन न काटो और की,
ये नहीं कहता कि अपना सर कटाना छोड़ दो।

इन पंक्तियों से अभिप्राय यही है कि व्यक्ति को चाहे अपना बलिदान देना पड़े तो वह खुशी से दे, किन्तु कभी भी दूसरे की गर्दन काटने का प्रयत्न न करे। जो व्यक्ति किसी और का बुरा सोचता है, उसका कभी भी भला नहीं होता। कहा भी जाता है—

'गड्ढा खोदे और को, ताहि कूप तैयार।'

एक उदाहरण से यह कहावत स्पष्ट हो जाती है—

जैसे को तैसा

फारस देश के बादशाह का गुलाम एक बार भाग गया। उसे पकड़ने के लिए चारों ओर सैनिक भेजे गए तथा वह गुलाम पकड़कर ले आया गया।

अगले दिन बादशाह जब दरबार में बैठे थे, गुलाम को सजा देने के लिए उपस्थित किया गया। यद्यपि भाग जाने की सजा मृत्यु दण्ड नहीं होती किन्तु बादशाह का मंत्री उस गुलाम से बहुत रुष्ट था अतः बोला—"हुजूर, इस व्यक्ति को फांसी पर लटका देना चाहिये।"

अब बादशाह ने गुलाम से पूछा—"तुम अपनी सफाई में क्या कहना चाहते हो?"

वह दास नम्रतापूर्वक बोला—"जहाँपनाह! मैं भागा था इसलिए दोषी अवश्य हूँ। किन्तु मैंने किसी की हत्या नहीं की अतः मुझे मार डालने से आपका न्याय

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कलंकित हो जाएगा। पर अगर आप भी मुझे मरवा डालना चाहते हैं तो कृपया आज्ञा दीजिए कि मैं मेरे लिए मृत्युदण्ड की सजा तजबीज करने वाले मंत्री को मार डालूँ ताकि मैं बड़ा भारी खूनी बन जाऊँगा और फिर मुझ दोषी को मरवा डालने से आपको कोई यह नहीं कह सकेगा कि आपने एक निर्दोष की हत्या करवाई थी।"

दास की बात सुनकर बादशाह को क्रोधित होने पर भी हँसी आ गई और वे मन्त्री से पूछने लगे—

"कहो वजीर ! इस विषय में अब तुम्हारी क्या राय है ?"

बादशाह की बात सुनकर तो मंत्री महाशय के देवता ही कूच कर गये। वे धीरे से बोले—"हजूर, यह पुराना सेवक है, इसे क्षमा ही कर दीजिये।"

यह उदाहरण तो हुआ दूसरों का गला काटने की इच्छा करने पर स्वयं का गला कटने की नौबत आ जाती है यह बताने वाला। इसके साथ ही मैं यह भी बताना चाहता हूँ कि दूसरे का गला काट देना ही केवल गला काटना नहीं है, वरन् बेईमानी से किसी का धन हड़पकर उसे भूखे मरने को बाध्य करना भी गला काटना है और अनीतिपूर्वक धंधा करके गरीबों को हानि पहुँचाना या अधिकाधिक ब्याज लेकर कभी भी कर्जदार को ऋण मुक्त न होने देना भी उसका गला काटना है। प्रायः देखा जाता है कि साहूकार मूल की अपेक्षा भी ब्याज को दुगुना, चौगुना करता चला जाता है और बेचारा कर्जदार जो एक बार किसी साहूकार के चंगुल में फंस जाता है, फिर जीवन भर उससे मुक्त नहीं हो सकता। यहाँ तक कि उसकी अगली पीढ़ियाँ भी ब्याज तक नहीं चुका पातीं मूल तो दूर की बात है।

तो बंधुओ, ऐसी अनैतिकता भी दूसरे का गला काटने के बराबर ही है। आज अमीर लोग मजूरों से दिनभर कड़ा परिश्रम करवा के भी उन्हें भरपेट खाने लायक पैसा नहीं देते और इस प्रकार उनके पेट पर लात मारते हैं। ये सभी कार्य अनुचित हैं और मानवता के नाम पर कलंक हैं अतः प्रत्येक बुद्धिमान और विवेकवान व्यक्ति को इनसे बचना चाहिये। उसे चाहिये कि वह किसी भी अन्य को तकलीफ न दे तथा किसी भी प्रकार से सताए नहीं। ऐसा करने पर ही वह सच्चा नागरिक, सच्चा देशप्रेमी और सच्चा धर्मात्मा बन सकता है।

अब कविता की अंतिम पंक्तियाँ सुनिये—

शूरवीरो, अब बची हैं अगर कुछ भी जिंदगी,
आगे बदख्वाहों के तुम आँसू बहाना छोड़ दो !

बची हुई जिंदगी से कवि का अभिप्राय उत्साह एवं जिंदादिली से है। उसका

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कहना है कि अगर तुममें थोड़ी भी समझ, बुद्धिमानी, विवेक, और आत्म-विश्वास आदि हैं तो गये हुए समय के लिये पश्चात्ताप मत करो और निराशा का भी सर्वथा त्याग करके पुनः जीवन को उत्थान की ओर ले जाने का प्रयत्न करो। जिस प्रकार सम्पूर्ण रस्सी कुए में चली जाए पर चार अंगुल हाथ में रहे तो पूरी रस्सी ऊपर खींच ली जाती है, इसी प्रकार कितनी भी जिंदगी क्यों न बीत गई हो, जो भी वर्ष, महीने, दिन, घंटे या क्षण भी बाकी हैं उनसे भी लाभ उठाने का प्रयत्न करो। जीवन भर पाप करने वाला व्यक्ति भी अगर अपने अन्तिम समय में किये हुए पापों का प्रायश्चित करके शुद्ध समाधिभाव धारण कर लेता है तो वह बहुत कुछ साथ लेकर इस लोक से प्रयाण करता है।

पर बधुओं, इसका यह अर्थ भी आप मत लगा लेना कि इस दृष्टि से तो हम अपना जीवन चाहे जैसे, अर्थात् भोग-विलास या कुकृत्य करके भी बितालें तो कोई बात नहीं है क्योंकि अन्तिम क्षणों पर तो सारा दारोमदार है ही और तभी परलोक सुधार लेंगे। अगर आपने ऐसा सोच लिया तो इससे बढ़कर मूर्खता और कोई नहीं होगी। जीवन का अन्त कैसा होना है, प्रथम तो यह भी कोई नहीं जानता और अंत-समय में परिणाम अच्छे हो ही जाएँगे इसकी भी गारंटी नहीं है।

इसलिये आप क्योंकि श्रावक हैं और श्रावक के नाते आपकी सीमाएँ विस्तृत हैं अतः आपको अधिक कार्य करना है तथा जीवन में अधिक सावधानी भी बरतनी है। मुनि तो जिस बात का त्याग करते हैं उसे पूर्णरूप से छोड़ देते हैं। किन्तु आपको तो सांसारिक कार्य करते हुए भी व्रतों को निभाना है और दूसरे शब्दों में ससार में रहकर भी संसार से परे रहना है। आपका जीवन भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। समय-समय पर आपके लिये भी कसौटियाँ तैयार रहती हैं और उन पर आपको खरा उतरना है।

पूज्यपाद श्री अमीऋषि जी महाराज ने फरमाया है—

मानुष जनम शुभ पाय के भुलाय मत,
औसर गमाय चित्त फेर पछितावेगो।
साधुजन संगत अनेक भांति धर ताप,
छोरिके कुपंथ एक ज्ञान पंथ आवेगो॥
जीवदया सत्य गिरा अदत्त न लीजे कभौं,
धारि के शियल मोह ममत मिटावेगो।
ठावेगो सुक्रिया ए तो मन में विरागधार,
कहे अमीरिख तबे मोक्षपद पावेगो॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कवि ने अपने पद्य में प्रत्येक मनुष्य-जन्म प्राप्त करने वाले जीव को चेतावनी दी है कि—"भोले प्राणी ! इस दुर्लभ जीवन को प्राप्त करके तू अपने आपको मत भूल, अर्थात् अपनी आत्मा के कल्याण का सदा ध्यान रख। अगर तूने यह अमूल्य अवसर खो दिया तो फिर जन्म-जन्म में तुझे पछताना पड़ेगा।

वे कहते हैं—"तू सत्संगति में रह तथा जितना भी हो सके त्याग-तपस्या को अपना। इसके अलावा सबसे बड़ी बात तो यह है कि तू सम्यक्ज्ञान की प्राप्ति करने का प्रयत्न कर जिससे सही मार्ग को खोज सके। आत्मोन्नति का सही मार्ग है—हृदय में करुणा की भावना रखते हुए अन्य प्राणियों पर दया करना, जिह्वा से सदा सत्य-भाषण करना, कोई भी अदत्त वस्तु ग्रहण नहीं करना तथा शील-धर्म की आराधना करते हुए संसार के प्रत्येक पदार्थ को 'पर' समझकर उनसे मोह एवं ममता को हटा लेना।

आगे कहा गया है—हे जीव ! अगर तू इस प्रकार विरक्ति-भाव धारण करके शुभ क्रियाएँ करेगा तो निश्चय ही मोक्ष-पद की प्राप्ति कर लेगा।

तो बंधुओ, आप समझ गए होंगे कि आत्मोन्नति का मार्ग क्या है और उस पर किस प्रकार दृढ़ता से चला जा सकता है ? वैसे मेरा आज का विषय शील-परिषह चल रहा था और उसके विषय में पूर्व में बता दिया गया है। किन्तु प्रसंगवश आपको भी अपने कर्तव्यों का पालन करने की प्रेरणा दी है अगर इसे आप अमल में लायेंगे तो इस लोक और परलोक में भी सुख की प्राप्ति करेंगे।

●●

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

२० | वही दिन धन्य होगा...!

धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एवं बहनो !

कल मैंने बाईस परिषहों में से तीसरे शीत परिषह के बारे में बताया था। आज भी इसी विषय पर कुछ और वर्णन चलेगा।

श्री उत्तराध्ययन सूत्र के दूसरे अध्ययन की सातवीं गाथा में कहा गया है—

न मे निवारण अत्थि छवित्ताणं न विज्जई।
अहं तु अग्गिं सेवामि इइ भिक्खु न चिन्तए॥

अर्थात्— मेरे पास शीत से निवारण करने वाला स्थान नहीं है और शरीर को उससे बचाने लायक वस्त्रादि भी नहीं है, अतः मैं अग्नि का सेवन करूँ; इस प्रकार का चिन्तन मुनि कदापि न करे।

इस गाथा के द्वारा साधु को अग्नि तापने का निषेध किया गया है। भले ही उसके पास सर्दी से बचाव के लिये काफी और उचित वस्त्र न हों, ठीक स्थान भी उसे न मिला हो, फिर भी वह अग्नि के समीप बैठे नहीं और अग्नि तापने की इच्छा न करे। क्योंकि संयम ग्रहण करने पर मुनि संसार के समस्त जीवों की रक्षा करने का व्रत लेता है। किन्तु अग्नि सचित्त यानी सजीव होती है। सजीव ही क्या वह तो अग्निकाय के जीवों का समूह मात्र ही होती है। अतः अगर साधु अग्नि के ताप से शीत निवारण करता है तो अग्निकाय के असंख्य जीवों की हिंसा का भागी बनता है।

आप जानते ही हैं कि जब एक बाड़ टूट जाती है तो फिर एक के बाद एक सभी धीरे-धीरे समाप्त होकर ही रहती हैं। अतः अगर साधु अग्नि के समीप बैठ

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जाएगा तो धीरे-धीरे उसके निमित्त से ही अग्नि का प्रज्वलन होना प्रारम्भ हो जाएगा। इसके अलावा जब परिषह सहन करने की शक्ति साधु में न रहेगी तो उसकी आत्म-शक्ति साधना के लिये भी किस प्रकार उत्कृष्ट बन सकेगी। शरीर को सुख पहुँचाना और मुक्ति के लिये संयम की दृढ़ साधना करना यह दोनों कार्य एक साथ नहीं हो सकते। जो व्यक्ति शरीर को सुख पहुंचाने का प्रयत्न में रहता है, वह आत्मा को सुखी करने का प्रयास नहीं कर सकता।

क्योंकि दोनों परस्पर विरोधी मार्ग हैं शरीर के सुख की कामना करने वाला मार्ग प्रवृत्ति मार्ग है और आत्मा को सुख पहुंचाने का प्रयास करने वाला निर्वृत्ति मार्ग होता है। इन दोनों पर एक साथ कभी नहीं चला जा सकता। जिसकी प्रवृत्ति भोगों की ओर होगी वह निर्वृत्ति मार्ग या त्याग-मार्ग को कैसे अपनाएगा ?

योगशास्त्र में कहा भी है—

"स्वयं त्यक्ता ह्यते शममुखमनन्तं विदधति।"

यानी—सांसारिक भोगों को अपनी इच्छापूर्वक परित्याग कर देने से अनन्त सुख रूप मोक्ष की प्राप्ति होती है।

इस प्रकार शरीर को सुख पहुँचाना भी भोगेच्छा ही कहलाती है और अगर साधु इनकी इच्छा रखता है तो वह त्याग को दृढ़ता से नहीं अपना सकता और उसकी संयम-साधना बाधित होती है। और इसीलिये अगर वह शीत-परिषह को सहन न करके अग्नि तापना प्रारम्भ करेगा तो उसे गरम वस्त्र रखने की भी चाह पैदा हो जाएगी और उसके साथ ही शीत-निवारण के उपयुक्त स्थान की अपेक्षा भी करेगा। परिणाम यह होगा कि उसका मन इन्हीं बातों में उलझा रहेगा और समय पर स्वाध्याय, चिंतन-मनन आदि में वह लीन नहीं हो सकेगा। फिर भव-सागर पार करने की इच्छा तो उसके लिये आकाश-कुसुम ही बनकर रह जाएगी।

गुजराती भाषा के एक कवि का कथन है—

आ भव-सागर तेह तरे छे, करवानूं जे काम करे छे।
मंगलकारक जेना मन छे, दोष करवाथी जेह डरे छे॥

यह संसार-रूपी समुद्र वही पार कर सकता है जो करने योग्य कार्य ही करता है। और करणीय वही है जो भगवान ने बताया है। ऐसा साधक जिसका अन्तःकरण मंगलकारी है, और जो संसार के किसी भी जीव का अमंगल नहीं सोचता वह पापों से सदा भयभीत रहता है, अतः किसी काम में जीव की हिंसा नहीं करता। ऐसा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

व्यापारी जीव ही अपनी गाड़ी में शक्कर भर कर जाता है और शक्कर भरकर ही ले जाता है।

एक दिन मैंने श्री स्थानांग सूत्र के आधार पर आपको बताया था कि व्यापारी जीव चार प्रकार के होते हैं। एक प्रकार के वह जीव जो पुण्यरूपी शक्कर भरकर यहाँ लाते हैं और पुनः यहाँ भी शुभ-करनी करके शक्कर ही भर ले जाते हैं। दूसरे वे जीव जो पुण्य-रूपी शक्कर लाते तो हैं पर उसे यहाँ समाप्त कर डालते हैं यानी अगले लोक में जाने के लिये वह पुनः संचय नहीं करते। दूसरे शब्दों में यहाँ पर वे कुछ भी सुकृत या साधना नहीं करते। तीसरे जीव वे होते हैं, जो पूर्वकृत तो कुछ साथ में नहीं लाते, किन्तु इधर संयम की अटूट साधना करके अपनी गाड़ी पुण्य रूपी शक्कर से ठसाठस भरकर ले जाते हैं। और चौथी प्रकार के अभागे जीव वही होते हैं जो खाली आते हैं और खाली ही जाते हैं। न वे शुभ-कर्मों का कुछ फल साथ में लाते हैं और नहीं यहाँ शुभ-कर्म करके कुछ साथ ही ले जाते हैं।

प्रसंगवश मैंने इन चार प्रकार के व्यापारी जीवों के विषय में पुनः संक्षिप्त रूप से बताया है क्योंकि अब मैं व्यापारी जीवों की पाँच प्रकार की भावनाएँ एक कवि के भजन के आधार पर बताने जा रहा हूँ। कवि ने बताया है कि प्रत्येक व्यापारी जीव की चाहे वह संत हो या गृहस्थ, पाच प्रकार की भावनाएँ होती हैं। किन्तु जो त्यागी और संन्यासी होता है वह सांसारिक व्यापार की कला को अपनाकर भी धर्म का व्यापार करता है—

जब सुकृत द्रव्य कमाऊंगा, मैं वही धन्य दिन मानूँगा।

आज ससार के सभी व्यक्ति अधिक से अधिक धन कमाने की चिन्ता में रहते हैं। उसकी तृष्णा का कभी अन्त नहीं आता। उनके लिये पेट भरने की समस्या बड़ा विकट रूप धारण किये रहती है। जबकि एक वैष्णव संत हरिरामदास जी महाराज तो यह कह गये हैं—

तू कहा चिंत करै नर तेरिहि,
तो करता सोई चिंत करेगो।
जो मुख जानि दियो तुझि मानव,
सो सबहन को पेट भरेगो॥
कूकर एकहि टूक के कारण,
नित्य घरोघर बार फिरेगो।
दास कहे हरिराम बिना हरि,
कोई न तेरो काम सरेगो॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

—पेट भरने के लिये ही बावले के समान फिरने वाले प्राणी के लिए संत कहते हैं—"अरे मानव ! तू अपनी ही चिन्ता दिन-रात क्या करता है ? तेरी चिंता तुझे बनाने वाले को भी तो होगी ।

जिस विधाता ने मनुष्य को मुँह दिया है तो क्या उस मुँह में डालने के लिए वह अन्न के कण नहीं देगा ? वह तो एक तेरा ही क्या, सभी जीवों का पेट भरेगा ।

कुत्ता बुद्धिहीनता और विवेकहीनता के कारण एक-एक टुकड़े के लिए घर-घर घूमता है किन्तु तुझे तो ईश्वर ने विशिष्ट शक्ति, ज्ञान, विवेक और मस्तिष्क दिया है फिर तू केवल पेट भरने की समस्या को लिए ही क्यों यत्र-तत्र फिरता रहकर अपने अन्य समस्त गुणों को व्यर्थ कर रहा है ? क्या इस जन्म में केवल उदर-पूर्ति करते रहने से ही तेरा मनुष्य-जीवन प्राप्त करने का उद्देश्य पूरा हो जाएगा ? नहीं, मानव-जन्म केवल पेट भरने के लिए नहीं, वरन सदा के लिए पेट और उसकी भूख मिटाने के लिए मिला है और यह तभी संभव होगा, जबकि तू हरि का स्मरण करेगा । इस प्रकार चाहे तू लाख सिर और बातों के लिए पटक, किन्तु भगवान के बिना तेरा कोई भी कार्य सिद्ध नहीं होगा । उसके स्मरण करने से ही काम सरेगा यानी सदा के लिए भूख मिटाकर मुक्तावस्था को प्राप्त कर सकेगा ।

सीधी-साधी भाषा में संत ने कितना सुन्दर उपदेश दिया है । अगर व्यक्ति इसे समझ ले और अपने परलोक को सुधारने का निश्चय कर ले तो उसका यह शरीर प्राप्त करना सार्थक हो जाएगा ।

यहाँ यह बात ध्यान में रखने की है कि यद्यपि अधिकतर संसारी जीव मिथ्यात्व के उदय और ज्ञान-हीनता के कारण संतों के उपदेशों को भी इस कान से निकाल देते हैं । किन्तु सभी ऐसे जीव नहीं होते । अनेक भव्य प्राणी ऐसे भी होते हैं जो मानव भव की दुर्लभता को समझते हैं, उसके उद्देश्य को जानते है और इसलिए इस संसार में रहते हुए भी संसार से उदासीन रहकर शुभ-भावनाएँ भाते हैं । वे ही उत्तम भावनाएँ मैं आपके सामने रखने जा रहा हूं और वे इस प्रकार हैं—

व्यावहारिक द्रव्य कमाने को, दूकान खोल मैं देता हूं ।
त्यों धर्म दुकान को खोलूंगा मैं वही धन्य दिन मानूंगा ।।

मुमुक्षु प्राणी की पहली भावना हैं—सुकृत करनी करना । इस विषय में एक लाइन मैं पहले कह चुका हूँ जिसमें कवि कहता है—जब मैं सुकृत द्रव्य कमाऊँगा तभी अपने आपको और उस दिन को धन्य समझूंगा । भौतिक द्रव्य कमाने में तो आज सारी दुनिया लगी हुई है । पर उससे क्या लाभ होना है ? यह शरीर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

छूटते ही सब यहीं पड़ा रह जाएगा। लाभ तो उस द्रव्य से ही होगा जो मेरे साथ पुण्य के रूप में चलेगा। अब है दूसरी भावना जिसे भाते हुए कवि कह रहा है— इस शरीर को सुख-सुविधा पहुँचाने वाले जड़ द्रव्य को कमाने के लिए तो मैं दुकान खोल कर बैठता हूँ और अपना अमूल्य समय नष्ट करता ही हूँ, पर ऐसी सांसारिक दुकान के समान ही जब मैं धर्म-रूपी दुकान भी खोलूँगा, अपने जीवन के उसी दिन को धन्य समझूँगा। उस दूकान में आने वाले व्यक्ति को भी मैं कुछ जीवन को सुधारने के सूत्र बता सकूँगा और स्वयं भी ज्ञान हासिल करूँगा।

'उपासक दशा सूत्र' में आनन्द श्रावक के विषय में वर्णन आता है कि वे अपने श्रावकों से कहते थे—"भाई! दुनियादारी की बातें करनी हो, मेरे बड़े पुत्र के साथ करो, पर मेरे पास आए हो तो हे आयुष्मन्! इस निर्ग्रन्थ प्रवचन का पाठ करो, इसे समझो क्योंकि इसके अनुसार चलने पर ही आत्मा का कल्याण हो सकता है। इस प्रकार आनन्द श्रावक मुनि नहीं थे। संसारी व्यक्ति ही थे पर वे अपनी भौतिक दुकानदारी को छोड़कर धर्म की दुकानदारी करते थे। जिसके द्वारा आने वाले को भी आत्मोन्नति का उपाय बताते थे तथा स्वयं भी अपने आत्म-कल्याण के प्रयत्न में लगे रहते थे।

भजन में आगे साधक की भावना दर्शाई गई है—

द्रव्य माल का निशिदिन में, क्रय विक्रय तो मैं करता हूं।
त्यों रत्नत्रय लूँगा-दूँगा वही धन्य दिन मानूँगा।

व्यापारी जीव का कथन है—"मैं अपनी इस सांसारिक दुकान में भौतिक द्रव्यों का क्रय-विक्रय तो सदा ही करता हूँ, किन्तु मेरे पल्ले उससे क्या पड़ता है? कुछ भी नहीं, मुझे तो कुछ लाभ तभी होगा जबकि मैं सम्यक् दर्शन, सम्यक ज्ञान एवं सम्यक् चारित्र रूपी इन तीन दुर्लभ रत्नों का क्रय और विक्रय करूँगा। मेरे पास जो कुछ है, उसे औरों को दूँगा तथा बदले में औरों से भी इसी प्रकार आत्म-कल्याणकारी सूत्र हासिल करूँगा।

बन्धुओ, ज्ञान प्राप्त करने में किसी को भी विलम्ब नहीं करना चाहिये यह तो आप अनुभव करते ही हैं, किन्तु आपको यह भी समझना चाहिए कि ज्ञान चाहे छोटे से छोटे व्यक्ति के पास भी क्यों न हो, उसे लेने में कभी लज्जा का अनुभव नहीं होना चाहिए।

गुरु का सम्मान

कहा जाता है कि राजा श्रेणिक के राज्य में आमों का एक बगीचा था।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उसके आम अत्यन्त मधुर और सुस्वादु होते थे। उसी राज्य में एक भंगी भी रहा करता था। किसी समय उसकी भगिन गर्भवती हुई और उसकी आम खाने की तीव्र इच्छा हुई तब भंगिनने अपने पति से अपने दोहद को पूर्ण करने की जिद ठान ली।

आम लाकर पत्नी को खिलाना कोई बड़ा कठिन कार्य नहीं था। किन्तु उन दिनों आम का मौसम नहीं था और आम बाजार में कहीं मिल नहीं सकते थे। केवल राजा श्रेणिक की वह अमराई ही ऐसी थी, जिसमें सदा आम फलता था और बारहों महीने प्राप्त हो सकता था। भगिन को इस बात का पता था अतः उसने राजा की अमराई से आम लाने का आग्रह किया।

भंगी बेचारा गरीब और निम्न श्रेणी का व्यक्ति था अतः पत्नी को डाँटता हुआ बोला—"तू भी कैसी बात करती है? वह बाग राजा का है मेरे बाप का नहीं। जिस बगीचे में पक्षी पर भी नहीं मार सकते वहाँ जाकर मैं आम ला सकता हूं क्या? तू तो तो मेरी गर्दन उड़वाने की बात कह रही है।"

यह सुनकर भगिन ने कहा—"यह ठीक है कि अमराई में कड़ा पहरा रहता है। किन्तु तुम तो ऐसी विद्या जानते हो कि बगीचे के बाहर से ही अपने तीर के द्वारा आप तोड़ कर अपने हाथ में ले सकते हो। वह विद्या आखिर कब काम आएगी?"

बात भंगी की समझ में आ गई और उसने अपनी विद्या का प्रयोग करना तय कर लिया। वह आमों के बगीचे की ओर गया, अपनी उस विद्या अथवा कला के द्वारा आम तोड़ कर ले आया।

राजा के बगीचे का आम साधारण नहीं था। अपूर्व माधुर्य से परिपूर्ण था। जब भगिन ने उसे खाया तो फिर एक दिन खाने से ही वह तृप्त नहीं हो सकी और प्रतिदिन आम लाने के लिए पति को भेजने लगी। त्रिया-हठ से हारकर भंगी ने भी सोचा कि अपनी विद्या के द्वारा जब मैं सहज ही आम ला सकता हूँ तो घर में नित्य कलह क्यों होने दूँ। और ऐसा विचार कर वह नित्य ही आम लाने लगा।

इधर आमों की चोरी का पता बगीचे के रखवाले को लग गया। क्योंकि अद्भुत किस्म के वे दुर्लभ आम गिने-चुने थे। पहले तो वह राजा के भय से बोला नहीं कि महाराज ठीक रखवाली न कर पाने के अपराध में उसे कड़ी सजा देंगे। उसने दिन-रात बड़ी सतर्कता से पहरा देना प्रारम्भ कर दिया। किन्तु फिर भी उसे चोर का पता नहीं चला और आम कम होते चले गए।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अन्त में उसने दरबार में गुहार की और महाराज ने ऐसे चोर का पता लगाने के लिये बगीचे में चारों ओर पहरेदारों का जाल बिछा दिया। बड़ी कठिनाई से आखिर चोर पकड़ लिया गया और उसे राजा के सम्मुख उपस्थित किया।

महाराजा श्रेणिक को अपने बगीचे के दुर्लभ आमों को चुराने वाले पर अत्यन्त क्रोध था अतः उन्होंने उसे मृत्यु दण्ड की आज्ञा दे दी।

बेचारा भंगी बड़ा घबराया किन्तु आखिर वह भी एक बड़ी विद्या का धनी था अतः उसने कुछ क्षण विचार कर कहा—'हुजूर! मैंने सचमुच ही बड़ा भारी अपराध किया है अतः मैं इसी दण्ड के काबिल हूँ। पर मेरा आपसे एक नम्र निवेदन है।"

श्रेणिक ने इशारे से उसे बोलने का आदेश दिया। इस पर भंगी बोला—"महाराज! मैं मर जाऊँगा इसका मुझे दुःख नहीं है पर दुःख इस बात का है कि मेरी अपूर्व विद्या मेरे साथ ही चली जाएगी। अतः अगर आप उसे ग्रहण कर लें तो मैं संतोष से मर सकूँगा।'

भंगी की बात सुनकर राजा श्रेणिक विचार करने लगे—"बात तो इसकी सही है। आखिर मुझे भी क्यों न यह बात सूझी। यह तो बड़ा उत्तम होगा कि इस भंगी की विद्या मैं ग्रहण कर लूं। जो कि सहज ही सीखने को मिल रही है।"

"तुम्हारी बात सच है। मुझे अभी ही यह सुन्दर विद्या सिखा दो।"

भंगी तैयार हो गया और उसने महाराज को विद्या सिखाना प्रारम्भ कर दिया। किन्तु बड़े आश्चर्य की बात यह हुई कि भंगी के समझाने पर भी उनकी समझ में कुछ नहीं आया।

यह देखकर राजा बड़े झुंझलाये और बोले—

"तुम मुझे ठीक तरह से सिखा नहीं रहे हो।"

भंगी हाथ जोड़कर बोला—'अन्नदाता! मैं तो आपको सही बता रहा हूँ पर जाने क्यों आपकी समझ में नहीं आ रहा है।

उस दरबार में राजा श्रेणिक के मंत्री अभयकुमार भी उपस्थित थे। राजा और भंगी का प्रश्नोत्तर सुनकर उनके कान खड़े हो गये और कुछ पल विचारकर वे राजा से बोले—'हुजूर! अपराध क्षमा हो, पर आपके सीखने में भूल हो रही है।"

"कैसी भूल?" राजा ने चौंककर अभयकुमार से पूछा।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

"महाराज ! आप विद्या वाले हैं और यह भंगी सिखाने वाला। कोई भी ज्ञान तब तक हासिल नहीं हो सकता जब तक कि सिखाने वाले गुरु से सीखने वाला शिष्य ऊँचे आसन पर बैठे।"

राजा श्रेणिक की समझ में यह बात आ गई और वे सिंहासन से उतर पड़े। उन्होंने भंगी से कहा कि वह सिंहासन पर बैठे और तब अपनी विद्या सिखाये।

बेचारा भंगी फिर मुसीबत में पड़ गया और थरथर काँपते हुए सोचने लगा—"बगीचे के आम चुराने पर तो मृत्युदंड मिला हुआ है। सिंहासन पर बैठने का और क्या परिणाम होगा ? कहीं सारे खानदान को ही घानी में न पेल दिया जाय ?" पर वह राजाज्ञा का उल्लंघन भी कैसे करता, अतः सिकुड़-सिमट कर सिंहासन पर बैठा और जल्दी-जल्दी अपनी विद्या के गुर बताने लगा।

इस बार राजा को शीघ्र ही सब समझ में आने लगा और वह अल्प-काल में ही विद्या सीख गया। पर उसके पश्चात् जब राजा के सैनिक उसे कैदखाने की ओर ले जाने लगे तो राजा ने कहा—

"अब यह मेरे गुरू हैं और मैं अपने गुरू को किस प्रकार मरवा सकता हूँ ? इन्हें ससम्मान मुक्त करके घर पहुँचा आओ।"

तो बंधुओ, मैं आपको यह बता रहा था कि ज्ञान-प्राप्ति के समय किसी भी प्रकार के बड़प्पन का भाव ज्ञानाभिलाषी के हृदय में नहीं आना चाहिये। अगर ऐसा भाव मन में आ गया तो वह सम्यक्ज्ञान को प्राप्त नहीं कर सकता।

यह उदाहरण मैंने कवि के इस कथन को लेकर दिया है कि वह रत्नत्रय का क्रय और विक्रय करना चाहता है। ऐसी स्थिति में अगर वह अपनी धर्म की दुकान का अहंकार करेगा तो न तो वह ठीक तरह से ज्ञान का विक्रय ही कर पाएगा और अहं के कारण क्रय तो करेगा ही कैसे ? अहंकार को त्यागने पर और भंगी को गुरु मानकर अपने सिंहासन पर आसीन करके राजा श्रेणिक उसकी विद्या का क्रय कर सके थे।

कवि की भावना यही है कि सम्यक्दर्शन, ज्ञान एवं चारित्र रूपी इन रत्नों को, अगर मेरे पास कम हैं तो दूसरों से लूँगा और दूसरों के पास मुझ से भी कम होंगे तो उन्हें दूँगा। यह लेने और देने की भावना जीव की तीसरी भावना है। आगे वह कहता है—

व्यापार में सत्य सरलता हो, यह मेरी अपनी आदत हो।
धार्मिक व्यापारी होऊंगा, मैं वही धन्य दिन मानूंगा॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हम देखते हैं कि जिस व्यापारी की दुकान पर वस्तुओं का एक ही मूल्य होता है, अर्थात् वह गरीब या अमीर को देखकर कीमत में घटा-बढ़ी नहीं करता, उसकी दुकान प्रतिष्ठित मानी जाती है और उसकी साख बढ़ जाती है।

इसी प्रकार धर्म-रूपी दुकान खोलने वाला व्यक्ति भी अपने अन्तःकरण में यही कामना रखता है कि मुझ में सद्बुद्धि रहे तथा सरलता एवं सत्य मेरे जीवन में बने रहें। सांसारिक व्यापारी अगर किसी के साथ बेईमानी करता है तथा झूठ बोलकर उसे ठगता है तो पुनः उसकी दुकान पर कोई जाना नहीं चाहता। इसी प्रकार अगर व्यक्ति धर्म का ढोंग रचकर औरों पर झूठा प्रभाव जमाना चाहता है तथा गलत बातें बताकर उसे धर्म से गुमराह करने का प्रयत्न करता है तो समझ आते ही वह व्यक्ति उस पाखंडी के पास फटकना भी नहीं चाहता। व्यापार में जिस प्रकार अनीति और टेढ़ापन नहीं चलता, उसी प्रकार धर्म-शिक्षा और उसके लेन-देन में भी झूठ और माया का स्थान नहीं होता।

अब आगे क्या कहा जाता है यह सुनिये—

जमा खर्च करने के समय में, हिसाब प्रतिदिन करता हूं।
पुण्य-पाप हिसाब टटोलूंगा, मैं वही धन्य दिन मानूंगा॥

भौतिक वस्तुओं का व्यापार करने वाले व्यक्ति अपनी बहियों में एक-एक पाई का जमा-खर्च लिखते हैं तथा प्रतिदिन उस हिसाब को मिलाते हैं कि कितना खर्च हुआ और कितनी आमदनी आज हुई? अगर आमदनी से ज्यादा खर्च हो जाता है तो वह उसके लिये खेद करता हुआ अगले दिन से खर्च को कम, घटाने का निश्चय करता है।

किन्तु क्या धर्माराधन करने वाला और मुक्ति की इच्छा रखने वाला व्यक्ति ऐसा करता है? नहीं, ऐसी बातों का लेखा-जोखा हर व्यक्ति नहीं रखता और पाप-पुण्य का हिसाब करना आवश्यक नहीं समझता। पर जो सच्चा साधक होता है और अपने सम्पूर्ण अन्तःकरण से संसार का सदा के लिये त्याग करने की कामना रखता है वह अपनी धर्म-रूपी दुकान का हिसाब भी बराबर रखता है। वह प्रतिदिन सायंकाल में अपने पाप और पुण्य का लेखा-जोखा करता है कि उसके द्वारा कितना पाप आज हुआ। अपने शुभ-कर्मों के लिये वह घमंड नहीं करता वह तो यह विचार करता है कि आज मैंने कितना क्रोध, कितना कपट और कितना ईर्ष्या-द्वेष औरों के साथ किया। अपने इन दोषों के लिये वह पश्चात्ताप करता है तथा भविष्य में उन्हें कम करने का विचार पक्का करता है। साथ ही यह भी सोचता है कि मेरा वही दिन धन्य होगा, जबकि इन दूषित विचारों को मेरा मन पूर्णरूप से त्याग देगा।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यह व्यापारी की चौथी भावना बताई गई है और अब पाँचवी भावना पर हम आते हैं—

व्यावहारिक वस्तु दलाली है, इसमें सत्य का परिपालन हो।
शुभ धर्म-दलाली करूँगा जब, मैं वही धन्य दिन मानूँगा॥

आज के युग में दलालों की कमी नहीं है। हर वस्तु की दलाली की जाती है। जमीन, मकान, ऊन, अनाज आदि जो भी कुछ मनुष्य बेचना चाहता है उसे दलाल लोग खरीदने वालों से बात-चीत करके कुछ लाभ स्वयं उठाते हुए बेचने और खरीदने वालों में सम्बन्ध जोड़ देते हैं।

यही तरीका धर्म के व्यापार में भी काम आता है। संत-मुनिराज एक प्रकार से दलाल ही हैं जो भगवान के वचनों को आप तक पहुंचाते हैं और आपका सम्बन्ध धर्म से तथा ईश्वर से जोड़ने का प्रयत्न करते हैं। जिन-प्ररूपित व्रत, पचक्खान, त्याग, नियम आदि का महत्व आप लोगों को संत ही समझाते हैं और उन आत्म-कल्याणकारी तत्त्वों का अनुमोदन कर दलाली का लाभ निस्वार्थ भाव से प्राप्त करते हैं।

दलाली का विचार करते हुए कवि कह रहा है कि व्यावहारिक वस्तुओं की दलाली में अगर सत्यता होती है तो लोग दलाल का विश्वास करते हैं; इसी प्रकार मैं भी अपनी धर्म दलाली में सत्य को प्रतिष्ठित कर सकूँगा तथा लोग मेरा विश्वास करेंगे, उसी दिन को मैं अपने जीवन का महत्वपूर्ण दिवस समझूँगा।

धर्म दलाली का महत्व कम नहीं है, यह भी महान् लाभ का कारण बनता है। महाराज श्रेणिक और श्रीकृष्ण के लिये बताया गया है कि उन्होंने कभी एक नमोकारसी भी नहीं की और कोई बड़ा त्याग भी नहीं किया। किन्तु धर्म-दलाली उन्होंने हार्दिक भावना से खूब की तथा मुमुक्षु प्राणियों को तन, मन और धन से सहयोग दिया। केवल इसी के परिणाम स्वरूप उन्होंने तीर्थंकर-पद की प्राप्ति कर ली। इसीलिये कवि सच्चे हृदय से, और सत्यतापूर्वक धर्म-दलाली करने की पाँचवीं भावना भाता है।

अन्त में वह कहता है—

सद्गुरु रत्नऋषी वचनों को धारण कर वर्तन में लावो।
आनन्दमय शिव सुख पाऊँगा, मैं वही धन्य दिन मानूँगा॥

सद्गुरुओं में भी जो रत्न-रूप महान् गुरु हैं उनके वचनों को हृदय में धारण करके आचरण को सर्वथा दोष-मुक्त करके शाश्वत सुख से परिपूर्ण मोक्ष-पद की प्राप्ति करूँगा, वही दिन अपने लिये धन्य मानूँगा।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दिखावा नहीं चलेगा ?

बंधुओ, आप यह कभी न भूलें कि भले ही महान् से महान् और विद्वान् संतों के प्रवचन आप सुनें और जीवन भर भी उन्हें नियमपूर्वक प्रतिदिन सुनते रहें। पर अगर उन उपदेशों को आपने अपने आचरण और व्यवहार में नहीं उतरा तो उनका कोई लाभ आपको हासिल न हो सकेगा। चिकने घड़े पर से जिस प्रकार पानी बह जाता है, उसी प्रकार सुना हुआ ढेरों उपदेश आपके एक कान से आकर दूसरे कान से निकल जाएगा।

आप लोग यह सोचते हैं कि हम प्रतिदिन व्याख्यान में आते हैं, अतः लोग तो आपकी तारीफ करते हैं, महाराज भी सराहना करते होंगे। यह विचार कर आप संतुष्ट हो जाते हैं तथा अपने आपको धन्य समझ कर घर लौट जाते हैं। किन्तु भाइयो ! हमने भी कच्ची गोलियाँ नहीं खेली हैं कि कांच को रत्न समझ लें और दिखावे को सत्य मानकर उसकी सराहना करने लग जायँ। हम तो आपको बार-बार और स्पष्ट रूप से भी यही कहते आ रहे हैं कि भले ही आप कम सुनो पर उसे ग्रहण करो और आचरण में उतारो। अन्यथा केवल सुनने की परिपाटी का पालन कर लेने से आपको रंचमात्र भी लाभ नहीं हो सकेगा और आप जीवन-भर जहाँ से तहाँ रह-कर अन्त में पश्चात्ताप करेंगे।

इस विषय को फारसी भाषा में बड़े सुन्दर ढंग से कहा गया है—

"दो कस मुर्दन, दो हसरत गुर्दन, ये के आं कि आयोक्त दो अमल न करद दीगरां कि किश्त न खुर्द।"

अर्थात्—दो प्रकार के आदमी जब मरते हैं तो हृदय में हसरतें लेकर और पश्चात्ताप करते हुए मरते हैं। एक प्रकार के व्यक्ति वे होते हैं जो पढ़ तो खूब लेते हैं किन्तु उसे आचरण में नहीं ला पाते, और दूसरी प्रकार के वे, जो जमीन में बीज तो बोते हैं पर फसल का फायदा नहीं उठा पाते।

मेरे कहने का भी अभिप्राय यही है कि आपको आत्मोन्नति के लिये सभी साधन प्राप्त हुए हैं। उत्तम धर्म, जाति, कुल और संत-समागम मिला है नित्य आप मुनियों के द्वारा जिन-वचनों को सुनते भी हैं, किन्तु इतना सब होने पर भी अगर आप अपने जीवन को दोष-मुक्त नहीं कर पाते, इसे अपनी सामर्थ्य के अनुसार कुछ न कुछ त्याग-नियमों में नहीं बाँध पाते तो फिर इन सब उत्तम संयोगों की प्राप्ति से क्या फायदा हुआ ? कुछ भी नहीं। मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि आपको इन सब

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

साधनों से लाभ उठाने की विशेष आकांक्षा ही नहीं है तथा जन्म-मरण के इन भयानक कष्टों से मुक्त होने के लिये छटपटाहट या तीव्र अकुलाहट नहीं है। जिस व्यक्ति की आत्मा में संसार-मुक्त होने की बलवती कामना होती है, उसे कितनी अधीरता, व्यग्रता और अपने दोषों के लिये दुःख होता है यह एक सुन्दर पद से आप जान सकेंगे।

पद के रचयिता की भावनाओं में कितनी अकुलाहट है और किस प्रकार उसके मानस में मंथन होता है यह उसी के शब्दों में सुनिये कि वह क्या कहता है? वह कहता है—

अब मैं कौन उपाय करूं।
जिहि विधि मन को संशय चूकै, भवनिधि पार परूं।
जनम पाय कुछ भलो न कीन्हों, तातें अधिक डरूं॥
मन वच कर्म हरि गुन नहिं गाए, यह जिय सोच धरूं।
गुरु मति सुनि कछु ज्ञान न उपज्यो, पशु जिम सोच भरूं।
कहु नानक प्रभु बिरद पिछानू, तब मैं पतित तरूं।
अब मैं कौन उपाय करूं?

बंधुओ! यह पद्य सुनकर आप समझ गये होंगे कि संसार के दुखों से मुक्ति प्राप्त करने की चाह रखने वाले में कितनी व्यग्रता होती है?

वह घबराया हुआ कहता है—"अब मैं क्या करूं? कौन सा उपाय खोजूं जिससे मन के सम्पूर्ण संशय मिट जायं और मेरे मन में ऐसी दृढ़ता आ जाय कि मैं संसार-सागर को पार करने में समर्थ हो सकूं।"

वह कह रहा है—"यह उत्तम और सामर्थ्य पूर्ण मानव-जन्म पाकर भी मैंने किसी का भला नहीं किया और न ही शुभ कर्मों का उपार्जन ही किया है। इसीलिये मैं बहुत डर रहा हूँ। सोचता हूँ कि मन, वचन और कर्म इन तीनों में से किसी के द्वारा भी मैंने भगवान की पूजा, उपासना और भक्ति नहीं की और न ही सच्चे दिल से उनको स्मरण ही किया है, अतः यही सोच मुझे खाये जा रहा है कि अब मेरा क्या होगा?"

भक्त आगे भी विचार रहा है—"मैंने गुरुओं के द्वारा खूब धर्मोपदेश सुना। संत-महात्माओं की संगति भी की। किन्तु मेरे अन्तर में तो सम्यक् ज्ञान की एक किरण भी प्रकाशित नहीं हो पाई। निरा पशु ही मैं रहा हूँ। ऐसी हालत में हे प्रभो! अब मेरा कल्याण कैसे होगा? अब तो आपकी ही कृपा हो तो मैं आपको

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पहचान सकूँ और अत्यन्त पापी व अधम होने पर भी भव-सागर को पार कर सकूँ।"

वस्तुतः ऐसी भावनाएँ होने पर ही प्राणी कर्मों से मुक्त हो सकता है। ईश्वर को पाने के लिए अथवा इस संसार से मुक्त होने के लिए जब तक साधक ऐसी असह्य व्याकुलता महसूस नहीं करता तब तक वह आत्म-शुद्धि नहीं कर सकता और उसके न होने पर संसार-मुक्त कैसे हुआ जा सकता है।

कहते हैं कि एक भक्त को किसी महात्मा के पास रहते हुए कई वर्ष हो गये पर उसे लगा कि इतने दिन के पश्चात् भी मुझे भगवान के दर्शन को नहीं हुए ?

मन में यह विचार आते ही वह महात्माजी क्यों तंग करने लगा कि इतने वर्षों तक आपकी संगति में रहने पर भी मुझे आपने भगवान के दर्शन अभी तक नहीं करवाये, ऐसा क्यों ?

महात्मा जी ने एक दो बार तो उसे समझाया कि आत्मा जब तक शुद्ध न हो जाय, भगवान के दर्शन दुर्लभ हैं। पर जब शिष्य नहीं माना और उन्हें रोज परेशान करने लगा तो एक दिन जब वे और उनका वह शिष्य गंगा में स्नान कर रहे थे तो उन्होंने भक्त को अपने हाथों से पानी में जोर से दबाया।

शिष्य पानी में डूबा हुआ था और गुरुजी उसे दबाये हुए थे अतः वह बुरी तरह छटपटा रहा था। किन्तु कुछ मिनिटों में ही गुरु ने अपने हाथ उस पर से हटा लिये और उसे पानी में से निकल जाने दिया।

पानी से बाहर आकर शिष्य बहुत दुखी होकर बोला—"भगवन ! आपने ऐसा क्यों किया ? मेरे प्राण उस समय पानी में से निकलने के लिये कितने छटपटा रहे थे ?"

गुरुजी हँस पड़े और बोले—"वत्स ! मैं तो तुम्हारे रोज के प्रश्न का उत्तर दे रहा था। तुम प्रतिदिन मुझे पूछा करते थे कि मुझे ईश्वर के दर्शन कब होंगे ?"

"हाँ, तो मेरे प्रश्न का उत्तर कैसे दिया आपने ?"

"मैंने तुम्हें यह बताया था कि तुम पानी में से निकलने के लिए जिस प्रकार छटपटा रहे थे, उसी प्रकार इस संसार-रूपी कीचड़ में से निकलने के लिये भी छटपटाओगे, तभी तुम्हें ईश्वर के दर्शन होंगे।"

गुरुजी की बात शिष्य की समझ में आ गई और वह शर्मिन्दा होता हुआ चुप हो गया।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तो बन्धुओ, आज की बातों का सारांश आप समझ गए होंगे कि मुक्ति के अभिलाषी को केवल चाहने मात्र से ही मुक्ति नहीं मिल जाती। इसके लिये उसे बड़े पापड़ बेलने पड़ते हैं। उपसर्ग और परिषह सहने पड़ते हैं तथा बड़ी दृढ़ता पूर्वक संवर के मार्ग पर चलना होता है। परिषहों को सहना केवल संतों के लिए ही नहीं है, अपितु श्रावकों के लिए भी यथाशक्य आवश्यक है। प्रत्येक व्यक्ति जब धर्म के महत्त्व को समझ लेगा तथा अभी बताई हुई पाँचों भावनाओं को मूर्त रूप में लाने का प्रयत्न सभी परिषहों को सहन करते हुए भी करेगा तभी वह इस लोक और परलोक में सुखी बनेगा और वही दिन उसका धन्य माना जाएगा।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

२१ | उष्णता को शीतलता से जीतो!

धर्मप्रेमी बंधुओ, माताओ एवं बहनो !

संवर के भेदों में से हम बाईस परिषहों का वर्णन कर रहे हैं, जिनमें से क्षुधा-परिषह, पिपासा-परिषह एवं शीत-परिषह के विषय में बताया जा चुका है। आज चौथे परिषह के विषय में कहा जाएगा। चौथा उष्ण-परिषह है। इसके विषय में कहा गया है—

उसिणं परियावेण, परिदाहेण तज्जिए।
घिसु वा परियावेण, सायं नो परिदेवए।

—श्री उत्तराध्ययन सूत्र, २-८।

गाथा का अर्थ है—गरमी के परिताप से सभी प्रकार के दाह से पीड़ित हुआ अथवा ग्रीष्म ऋतु आदि के कष्ट से खेद को प्राप्त करता हुआ साधु साता के लिए आर्तध्यान न करे।

शीत के समान ही उष्ण ऋतु भी अपना प्रभाव डालती है तथा कड़ी सर्दी में जिस प्रकार शरीर को कष्ट महसूस होता है, उसी प्रकार गरमी में भी देह को कष्ट का अनुभव होता है।

आप लोग तो ग्रीष्म से बचाव के लिए अनेक उपाय काम में लेते हैं अतः इसका पूरा कष्ट कभी अनुभव नहीं कर पाते। कड़ी धूप में आप प्रथम तो घर से बाहर निकलते नहीं, और निकलते हैं तो जूते, छाते और ऊपर से सवारी में बैठकर इधर से उधर जाते हैं। घर पर रहते हैं तो हर समय पंखे तथा कूलर चालू रखते हैं और उस पर भी गर्मी महसूस होती है तो पूरा कमरा ही 'एयर कंडीशन्ड' करा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

लेते हैं। साथ में दिन भर ठण्डाई, शरबत, बर्फ का जल आदि पेय पदार्थ ग्रहण करते हैं ताकि गरमी का कम से कम कष्ट महसूस हो।

किन्तु साधु शरीर को सुख पहुँचाने वाले इन सब साधनों का त्याग करते हैं। वे भिक्षाचरी एवं जल आदि लाने के लिए समय पर निकलते हैं और एक गाँव से दूसरे गाँव के लिए भी विचरण करते हैं। किन्तु न वे पैर में कुछ पहनते हैं और न ही मस्तक को धूप से बचाने के लिए छाते ही लगाते हैं। इसी प्रकार वायुकाय के जीवों की हिंसा से बचने के लिये पंखे नहीं चलाते और न किसी भी प्रकार से हवा लेते हैं।

भगवान का आदेश ही यह है कि साधु भयंकर से भयंकर गर्मी का अनुभव होने पर भी घबराये नहीं और यह विचार ही न करे कि इस ताप से मुझे कब शांति मिलेगी। वह अन्य परिषहों के समान ही उष्ण-परिषह को भी पूर्ण शांति तथा समभाव से सहन करे। कष्ट पहुंचाने वाली कैसी भी स्थिति क्यों न आए, वह उससे मुकाबला करने के लिए तैयार रहे।

संत तुकाराम जी कहते हैं—

"आलिया योगासी असावे सादर,
देवावरी भार टाकनिया।"

कोई भी संकट या कष्ट, अगर हम पर आता है तो उसे हम शांति और संतोष पूर्वक सहने का प्रयत्न करें। क्योंकि वह तो आने वाला ही है। विपत्ति तो मनुष्य के पास बिना बुलाये आती है और अपनी कसौटी पर कसकर बता देती है कि कौन खरा है और कौन खोटा ?

लोकमान्य तिलक ने एक स्थान पर लिखा है—

"कष्ट और विपत्ति मनुष्य को शिक्षा देने वाले श्रेष्ठ गुरु हैं, जो मनुष्य साहस के साथ उन्हें सहन करते हैं वे अपने जीवन में विजयी होते हैं।

एक पाश्चात्य दार्शनिक 'क्वार्ल्स' ने भी लिखा है—

"He has that no cross will have on crown."

—जिसने विपत्ति नहीं ली उसे राजमुकुट नहीं मिलता।

राजमुकुट से अभिप्राय उत्तम लक्ष्य की प्राप्ति होना ही है। अगर हम इतिहास उठाकर देखें तो स्पष्ट हो जाता है कि संसार में जितने भी महापुरुष और महान आत्माएँ अवतरित हुई हैं वे सब भयानक कष्टों को सहकर ही अपना आत्म-कल्याण कर सकी हैं और सदा के लिए अमर बनी हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तीर्थंकर भगवान महावीर के कानों में कीले ठोके गये। पार्श्वनाथ स्वामी को कमठ के जीव द्वारा नाना उपसर्ग सहन करने पड़े। ईसामसीह को सूली पर चढ़ाया गया और आज के युग में भी गाँधीजी को गोली खानी पड़ी। क्या ऐसे कष्टों और उपसर्गों को सामने देखकर उन्होंने आर्तध्यान किया था? क्या उन्होंने हाय-हाय करके उन्हें झेला था? नहीं, अगर ऐसा होता तो हम उनका स्मरण आज इस प्रकार नहीं करते।

हम देखते हैं कि इस संसार में लाखों व्यक्ति भयंकर सर्दी, गर्मी सहन करते हैं, भूख-प्यास से तड़प-तड़पकर मर भी जाते हैं। किन्तु उन्हें कौन याद करता है? कोई नहीं, क्योंकि वे उन कष्टों को अभावों के कारण सहन करते हैं तथा दिन-रात भगवान को कोसते हुए घोर आर्तध्यान करते हैं। उनके जीवन में शांति या संतोष का कभी आविर्भाव नहीं होता। परिणाम यह होता है कि उस अभाव को त्याग नहीं कहा जाता और उसका कोई लाभ नहीं होता क्योंकि विपत्ति की भावनाएँ शुद्ध और शांति पूर्ण नहीं रहतीं।

किन्तु इसके विपरीत जो व्यक्ति संसार के सुखों से उदासीन रहता है तथा शरीर को केवल संयम-साधना के लिये चलाने लायक खुराक देता है उससे अधिक उसकी परवाह नहीं करता। वही भव्य पुरुष त्याग के फल को हासिल करता है, साधु भी शारीरिक सुखों का त्याग करके केवल उसे चलाने के लायक अन्न देता है, बाकी उसको अनुभव होने वाले किसी भी परिषह को कष्ट नहीं मानता तथा पूर्ण शांति एवं संतोष-पूर्वक संयम-साधना करते हुए जीवन-यापन करता है।

श्री उत्तराध्ययन सूत्र में ही आगे कहा गया है—

उन्हाहितत्तो मेहावी, सिणाणं नो वि पत्थए।
गायं नो परिसिंचेज्जा, न वीएज्जा य अप्पयं।

अध्ययन २, गा. ६

अर्थात्—बुद्धिमान साधु उष्णता के परिताप से तप्त होने पर भी स्नान की इच्छा न करे, और शरीर को जल के छींटे से भी न देवे तथा अपने आपको पंखा भी न करे।

इस प्रकार बताया गया है कि जो बुद्धिमान साधु होता है वह भगवान की आज्ञा का पूर्णतया पालन करता है तथा गर्मी के भीषण ताप से पीड़ित होने पर भी उस पीड़ा को पीड़ा नहीं मानता। वह असह्य उष्णता महसूस होने पर भी शीतल जल से स्नान करने की आकांक्षा नहीं करता। तथा जल से भिगोकर पंखे आदि से हवा करने का स्वप्न में भी विचार नहीं करता।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आपको ज्ञात होगा कि स्नान दो प्रकार का माना गया है। एक देश-स्नान और दूसरा सर्व-स्नान। केवल हाथ, पैर, मुंह आदि धोना भी स्नान कहलाता है पर उसे देशस्नान कहते हैं। और सम्पूर्ण शरीर को जल से धोना सर्व-स्नान कहलाता है। साधु के लिए शोभा-निमित्त यह दोनों प्रकार के स्नान वर्जित हैं। साथ ही शरीर पर जल के छींटे देना अथवा पखे से हवा करना भी निषिद्ध है। उसे जिन-वचनों के द्वारा यही आदेश है कि वह ग्रीष्म के समस्त परिषहों को पूर्ण शांतिपूर्वक सहन करे। इससे कष्टों का अनुभव भी कम होता है तथा कर्मों की निर्जरा होती है।

सारांश कहने का यही है कि साधु भगवान की आज्ञा के अनुसार परिषहों को शांति पूर्वक सहन करते हुए संयम-साधना करे तथा अपने कर्तव्यों का दृढ़ता से पालन करेगा तो उसकी बुद्धि का और ज्ञान का विकास होगा। ज्ञान के अभाव में वह अपनी संगति में आने वाले जिज्ञासु व्यक्तियों की शंकाओं का समाधान नहीं कर पाएगा तथा उन्हें सन्तुष्ट करके धर्म के मार्ग की ओर नहीं बढ़ा सकेगा। जन-साधारण को भगवान के सुझाए हुए मार्ग का दिग्दर्शन कराना संत का ही काम है। संत ही व्यक्ति को ईश्वर से जोड़ने वाली बीच की कड़ी या माध्यम हैं। अतः उन्हें गूढ़ ज्ञान हासिल करना आवश्यक ही नहीं वरन अनिवार्य है। संतों के समीप आने वाले व्यक्ति सभी एक सरीखे नहीं होते। कुछ तो सचमुच ही जिज्ञासु होते हैं और कुछ जैसे साधु की परीक्षा करने के लिए ही जो मन में आए वही प्रश्न पूछ डालते हैं। कोई आकर सीधा ही प्रश्न करता है—"महाराज ! ब्रह्म का स्वरूप क्या है ?"

अब अगर साधु ज्ञानी नहीं है तो इसका क्या उत्तर देगा ? वह कुछ नहीं बता सकेगा। किन्तु ज्ञानी होगा तो वह प्रश्नकर्ता का समाधान सहन ही कर सकेगा।

प्रसंग आया है अतः संत तुकाराम जी के कुछ शब्दों को आपके सामने रखता हूँ। उन्होंने कहा है :

"रे आधी साधी सहाते ब्रह्म कसें मग पाहो।
जिकी सुखासन, भाषण थोड़े,
अन्नहि परिनित घेई। रे आधी.....।
काम क्रोधावारी, तारी कुलाते"

कहते हैं कि ब्रह्म की जानकारी इस प्रकार सहज ही नहीं हो सकती। उसके लिये पहले काम, क्रोध, मद, मत्सर, दम्भ तथा मोह आदि को नष्ट करो तब फिर ब्रह्म अथवा आत्मा-परमात्मा के स्वरूप को जानने का प्रयत्न करना।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कवि कहता है—हे भाई ! पहले सुखलिप्सा अर्थात् सुख की लालसा का त्याग करो। जब तक अपने शरीर को सुख पहुँचाने के यत्न में रहोगे तथा क्षुधा, पिपासा, शीत एवं उष्णता आदि के परिषहों को सहन करने में कायरता रखोगे तब तक तुम्हारे जीवन में दृढ़ता कैसे आएगी और आत्म-शक्ति का विकास किस प्रकार हो सकेगा ? अतः सुख की आकांक्षा त्यागो, अल्प भाषण करो तथा परिमित अन्न का सेवन करो। भूख से अधिक खाने तथा तमोगुण की वृद्धि करने वाले पदार्थों का सेवन करने से भोग-लिप्सा बढ़ती है।

कामविजय कैसे ?

हमारे शास्त्रकारों ने ब्रह्मचर्य का पालन करने के लिये नौ बाड़ें लगाई हैं। उनमें से एक यह भी है कि मर्यादा से बाहर रत्तीमात्र भी आहार न किया जाय। किसान अपनी फसल की रक्षा के लिये एक बाड़ लगता है ताकि जानवर एवं चोर आदि अन्दर प्रवेश करके क्षति न करें। किन्तु ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिये एक नहीं, वरन् नौ बाड़ें लगाई गई हैं। इससे साबित होता है कि ब्रह्मचर्य का पालन करना कितना महत्वपूर्ण है एवं सदाचार रूपी रत्न की रक्षा किस प्रकार करनी चाहिये।

भर्तृहरि ने अपने एक श्लोक में लिखा है—

यदासीदज्ञानं स्मरतिमिरसंस्कारजनितं,
तदा दृष्टं नारीमयमिदमशेषं जगदपि।
इदानीमस्माकं पटुतरविवेकाञ्जन जुषां,
समीभूता दृष्टिस्त्रिभुवनं ब्रह्मेति मनुते॥

अर्थात्—जब तक हम में कामदेव से पैदा हुआ अज्ञान-अन्धकार विद्यमान था, तब तक हमें सारा जगत स्त्री-रूप ही दिखाई देता था। किन्तु अब हमने विवेक-रूपी अंजन आँज लिया है, इससे हमारी दृष्टि समान हो गई है और हमें तीनों भुवन ब्रह्म-रूप दिखाई देते हैं।

आशय यही है कि जब तक व्यक्ति काम के नशे में चूर रहता है, तब तक उसे अच्छे और बुरे का ज्ञान नहीं होता। भोगविलास के अतिरिक्त उसे अन्य कोई सुख नहीं जान पड़ता। किन्तु जब उसकी अन्तरात्मा में विवेक जाग जाता है तब उसे भोग-विलास भयकारक लगने लगते हैं तथा उसके मानस में ऐसा समभाव आ जाता है कि उसे प्रत्येक प्राणी में ब्रह्म ही नजर आता है। वह सोचता है- आत्मा न स्त्री है और न पुरुष। वह सबमें समान है केवल चोले का ही भेद है।

वस्तुतः सच्चे साधु और फकीर सम्पूर्ण संसार में जितने भी प्राणी हैं, उन

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सबमें परमात्मा को देखते हैं। इस विषय को स्पष्ट करने हेतु एक छोटा सा उदाहरण है—

विष्णुमय जगत

एक वैष्णव संत सदा ज्ञानोन्मत्त रहते थे तथा उनकी दृष्टि अन्तर्मुखी बनी रहती थी। वे कभी किसी से विशेष बात-चीत नहीं करते थे और न ही किसी से उसकी अपेक्षा ही करते थे। जब धुन में आ जाते तो गाँव में से भिक्षा ले आते, और नहीं तो कई दिन योंही गुजार देते थे।

एक दिन वे गाँव में गए और वहाँ से भिक्षा में उन्हें रोटी मिली। अपने स्थान पर आकर जब वे रोटी खाने लगे तो एक कुत्ता भी उनके साथ ही खाने लगा। यह देखकर कई व्यक्ति वहाँ आकर इकट्ठे हो गये और महात्माजी को कुत्ते के साथ रोटी खाते देखकर हँसने लगे। कोई-कोई तो उन्हें पागल कहने से भी नहीं चूके।

जब महात्मा का ध्यान उनकी ओर गया तो उन्होंने लोगों से कहा— तुम लोग हँसे किसलिये रहे हो ? देखो—

विष्णु परिस्थितो विष्णु विष्णुः खादति विष्णवे ।
कथं हससि रे विष्णो सर्वं विष्णुमयं जगत् ॥

अर्थात्—विष्णु के पास विष्णु है। विष्णु विष्णु को खिलाता है। अरे विष्णु तू क्यों हँसता है ? सारा जगत ही तो विष्णुमय है।

तो बंधुओ, मैं आपको संत तुकाराम के शब्दों में यह बता रहा था कि ब्रह्म का स्वरूप जानने की इच्छा रखने वाले को पहले काम-भोगों की इच्छा को जीतना चाहिये। विवेक के द्वारा जब यह जीत ली जाती है तो व्यक्ति को जगत के सम्पूर्ण प्राणियों में परमात्मा का अंश नजर आने लगता है।

आप श्रावक हैं, और गृहस्थ हैं अतः शायद कह बैठें कि ब्रह्मचर्य का पालन तो साधु ही कर सकते हैं, पर ऐसी बात नहीं है। श्रावक के लिये भी तो अणुव्रतों का विधान है और उसमें एक है 'स्वदारासंतोष' इसका पालन करते हुए आप अपनी पत्नी के अलावा संसार की समस्त नारियों को माता और बहन के समान समझें तो भी काफी है। इतना करने पर भी आप एकदेश संयम का पालन कर सकेंगे और आपकी आत्मा उज्ज्वल बनेगी।

आत्मा का शत्रु क्रोध

संत तुकाराम जी ने काम के पश्चात् क्रोध को त्यागने का आदेश भी दिया है। क्योंकि काम के समान ही क्रोध भी आत्मा का शत्रु है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य चाणक्य ने एक स्थान पर कहा है—

नास्ति कामसमो व्याधिर्नास्ति मोहसमो रिपुः ।
नास्ति क्रोधसमो वह्निर्नास्ति ज्ञानात्परं सुखम् ॥

यानी काम के समान कोई व्याधि नहीं है। मोह के समान कोई शत्रु नहीं है। क्रोध के समान कोई अग्नि नहीं है और ज्ञान से बढ़कर कोई सुख नहीं है।

श्लोक में क्रोध को विनाशकारी आग बताया गया है। इस आग में आत्मा के समस्त सद्गुण जलकर भस्म हो जाते हैं। क्रोध के आवेश में मनुष्य अपने आपको भूल जाता है और वह नहीं जान पाता कि उसके मुख से कैसे शब्द निकल रहे हैं। क्रोध रूपी यह आग कटुवचनों के द्वारा औरों को तो घायल करती है, स्वयं क्रोधी व्यक्ति के हृदय को भी दग्ध किये बिना नहीं रहती।

मनोवैज्ञानिक परीक्षणों के आधार पर वैज्ञानिक कहते हैं कि क्रोध से मनुष्य का स्वभाव चिड़चिड़ा हो जाता है और उसके परिणामस्वरूप उसके शरीर में रूक्षता आ जाती है। क्रोध करते समय मुँह सूखता है तथा कण्ठ में रहने वाली ग्रन्थियाँ जो कि लार पैदा करती हैं और प्राणप्रद रस बनाती हैं, वे अपना काम बन्द कर देती हैं। फल यह होता है कि लार के द्वारा भोजन में मिल जाने वाले पाचक रस का अभाव हो जाता है और उसके अभाव से भोजन बराबर नहीं पचता तथा पेट खराब हो जाता है। कभी-कभी तो चर्म-रोग भी पेट की खराबी या कब्ज के कारण पैदा हो जाते हैं। इस प्रकार क्रोधी व्यक्ति अनेक तरह के रोगों को स्वयं आमंत्रण देता है। सारांश यही है कि क्रोधी व्यक्ति अपनी जलाई हुई आग से स्वयं भी धीरे-धीरे भस्म होने लगता है। उसका शरीर कृश होता हुआ मृत्यु के सन्निकट जल्दी पहुँचता है।

इस प्रकार क्रोध शारीरिक दृष्टि से तो हानिकर है ही, वह आध्यात्मिक दृष्टि से भी हानिकर है। हमारे शास्त्र क्रोध को समस्त पापों का मूल मानते हैं। इसलिए प्रत्येक आत्मार्थी को पापों से बचने के लिए क्रोध का त्याग करना आवश्यक है। जो व्यक्ति क्रोध नहीं करता वह देवता की कोटि में आ जाता है। उसे अगर हम अजातशत्रु कहें तब भी कोई बड़ी बात नहीं है। कारण यही है कि क्रोध न करने वाले का कोई भी शत्रु नहीं होता। उसके सारे शत्रु मित्र बन जाते हैं।

अक्रोधी व्यक्ति को सबसे बड़ा लाभ तो यह होता है कि उसकी आत्मा सरल, स्नेहपूर्ण एवं पर-उपकारी बन जाती है। एक क्रोधी व्यक्ति जहाँ दूसरे के हृदय को तोड़ डालता है, वहाँ क्रोध न करने वाला व्यक्ति औरों के संकट, विपत्ति या अन्य दुखों से टूटे हुए दिलों को सान्त्वना का मरहम रखकर जोड़ देता है। उसके ऐसे कार्य ही आत्म-शुद्धि में सहायक बनते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है—

'कोहविजएणं खंतिं जणयई।'

क्रोध को जीत लेने से क्षमाभाव जागृत होता है।

जो भव्य प्राणी क्रोध को जीतकर क्षमाभाव अपना लेता है वह अपना भला तो करता ही है, साथ ही अपने सम्पर्क में आने वाले को भी सन्मार्ग पर चला सकता है। एक उदाहरण है—

कलम या छुरी ?

एक वकील साहब घर से रवाना होकर कचहरी जा रहे थे। उनकी बगल में कागजातों का बस्ता दबा हुआ था।

संयोगवश उनके बस्ते में से उनका पैन निकलकर बाहर गिर गया। एक राहगीर ने उसे उठाया और कुछ क्षण विचार कर वकील साहब के साथ-साथ चलते हुए बोला—"वकील साहब ! आपके बस्ते में से यह आपकी छुरी निकलकर गिर गई है।"

राहगीर की बात सुनते ही वकील साहब क्रोध से आगबबूला हो उठे और कर्कश स्वर से कह उठे—

"अबे, अन्धा है क्या ? यह पैन है या छुरी ? पैन को छुरी बता रहा है ?"

वकील की कटूक्ति सुनकर भी वह व्यक्ति नाराज नहीं हुआ, उलटे नम्रता-पूर्वक बोला—"साहब, है तो यह पैन ही, पर इसी के द्वारा न जाने कितने व्यक्तियों के गले कटे होंगे। इसलिए क्या छुरी नहीं कहा जा सकता ?"

उस व्यक्ति की बात सुनकर वकील साहब बड़े शर्मिन्दा हुए और उन्होंने मन ही मन निर्णय किया कि कभी झूठा मुकदमा लेकर निरपराध व्यक्तियों का गला नहीं काटूंगा।

यह उदाहरण बताता है कि पैन उठाने वाले राहगीर ने पैन को छुरी बताने पर वकील के द्वारा बुरा-भला कहा जाने और गालियां खाने की भी संभावना की थी। किन्तु इन सबको समभाव या क्षमाभाव पूर्वक सहन करने के लिये वह पहले ही तैयार हो गया था। यही कारण था कि वकील को अपने जीवन का निकृष्ट पहलू समझा सकने में समर्थ बना और उन्हें नैतिक जीवन बिताने के लिये बड़े सुन्दर ढंग से सुझाव दिया।

तो बंधुओ ! संत तुकाराम जी का यही कथन है कि काम और क्रोधादि विकारों को अपने विवेक और ज्ञानपूर्वक जीत लेने पर ही व्यक्ति अपनी आत्मा के

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

स्वरूप को समझ सकता है तथा उसे कर्म-बंधनों से छुटकारा दिलाने के लिये अपनी आत्मा की अनन्त शक्तियों को काम में ले सकता है।

हमारा विषय परिषहों पर चल रहा है और उसमें से ग्रीष्म परिषह को आज लिया है। इस परिषह को सहन करने के लिये भी बड़ी दृढ़ता तथा समाधि-भाव की आवश्यकता है। अगर मन में समभाव व शांति रहेगी तभी साधक भयंकर गर्मी के कष्टों को बिना आर्त-ध्यान किये सहन कर सकेगा। यह परिषह तभी सहन किया जा सकता है जबकि शरीर को सुख पहुँचाने की आकांक्षा का त्याग कर दिया जाय। जब तक शरीर की ओर से साधक का अथवा साधु का मन परे नहीं रहेगा, तब तक उससे होने वाले कष्टों को वह भूल नहीं सकेगा। इसलिये आवश्यक है कि साधु व श्रावक सभी मन को दृढ़ रखते हुए उष्ण परिषह को सहन करें तथा अपनी साधना में इसे बाधक न बनने दें। यही संवर का मार्ग है और निर्जरा का हेतु बनता है।

जो भव्य पुरुष ऐसा करेंगे वे अपनी आत्मा की अनन्त शक्तियों को जगाकर शाश्वत सुख को प्राप्त करने में समर्थ बन सकेंगे तथा परलोक में सुखी बनेंगे।

●●

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

२२ | क्षण-विध्वंसिनी काया !

धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एवं बहनो !

कल मैंने बाईस परिषहों में से चौथे 'उष्ण-परिषह' के विषय में बताया था। आज पाँचवें पर आना है। पाँचवें परिषह का नाम है, 'दंशमशक-परिषह'।

इस विषय में 'श्री उत्तराध्ययन सूत्र' में कहा गया है—

पुट्ठो य दंसमसएहिं, समरेव महामुणी ।
नागो संगामसीसे वा, सूरो अभिहणे परं ॥

—अध्ययन २, गाथा १०

अर्थात्—दंशमशक आदि जंतुओं के स्पर्श होने पर भी महामुनि समभाव से रहे और जिस प्रकार हाथी संग्राम में आगे होकर शत्रुओं को जीतता है उसी प्रकार साधु भी परिषहों का मुकाबला करके उन पर विजय प्राप्त करे।

यह तो सभी जानते हैं कि ग्रीष्मऋतु के पश्चात् वर्षाऋतु आती है और उसका आगमन होने पर डांस, मच्छर आदि अनेकानेक जीवों की उत्पत्ति हो जाती है। ये जीव भी मनुष्यों को बहुत परेशान करते हैं। कहीं-कहीं तो मच्छर इतनी अधिक तादाद में होते हैं कि घरों में उठना, बैठना, सोना सभी बड़ा कठिन हो जाता है। मध्यप्रदेश के दुर्ग जिले में इतने बड़े-बड़े और असंख्य मच्छर होते हैं कि मनुष्य दिन को भी चैन नहीं ले पाता और रात्रि को तो मच्छरदानी लगाये बिना सो ही नहीं सकता।

किन्तु ऐसी स्थिति में भी साधु अनिद्रा और दंश की तकलीफ को सहन करता हुआ पूर्ण शांति और स्थिरता से अपनी साधना को आगे बढ़ाता चला जाता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भगवान का भी साधु के लिए यही आदेश है कि सदा आत्म-चिंतन एवं तत्व-चिंतन में लीन रहने वाला महामुनि डांस, मच्छर आदि के दंश से विचलित न हो तथा अपनी संयम-साधना में दत्तचित्त बना रहे। जिस प्रकार हाथी समर-भूमि में तीर-तलवार आदि किसी भी शस्त्र के आघात की परवाह न करता हुआ आगे बढ़ता जाता है तथा शत्रु पर विजय प्राप्त करके ही छोड़ता है, इसी प्रकार साधु भी साधना के क्षेत्र में डांस-मच्छर आदि जीवों के उपद्रव और दंश की परवाह न करते हुए आगे बढ़ता जाए और कर्म-रूपी जन्म-जन्म के शत्रुओं को परास्त करे।

मारवाड़ी भाषा में बनाए गए भजन की एक पंक्ति इस प्रकार है—

"कायर ने चढ़े धूजणी, सूरा करे रे संग्राम,
ना ठहरे जावे गोदड़ा।"

कहते हैं कि युद्ध के अवसर पर कायर व्यक्ति का कलेजा काँपने लगता है और उसका सम्पूर्ण शरीर थर-थर धूजने लग जाता है। उसकी हिम्मत नहीं पड़ती कि वह शत्रु का मुकाबला करे।

किन्तु इसके विपरीत जो शूरवीर होता है वह कफन कंधे पर लिए जाता है तथा हृदय में किंचित मात्र भी भय न रखता हुआ अपनी सम्पूर्ण शक्ति से बैरी का मुकाबला करता है। इसका फल यही होता है कि वह निश्चय ही अपने दुश्मन को परास्त कर विजयी बनता है। पर यह होता तभी है जब कि शरीर का ममत्व न रखा जाय तथा जीवन रहेगा या नहीं इसकी चिन्ता सर्वथा छोड़ दी जाय। ऐसा शूरवीर ही कर सकते हैं। आचार्य चाणक्य ने कहा भी है—

तृणं ब्रह्मविदां स्वर्गः तृणं शूरस्य जीवितम्।
जिताक्षस्य तृणं नारी निःस्पृहस्य तृणं जगत्॥

अर्थात् ब्रह्मज्ञानी के लिए स्वर्ग तृण के समान है, शूरवीर के लिए जीवन तृण है, जितेन्द्रिय को स्त्री तृण है और निस्पृही के लिए जगत तृणवत् है।

इस श्लोक में भी बताया गया है कि शूरवीर के लिए जीवन तृण के समान नगण्य होता है। हम इतिहास में पढ़ते हैं कि लाखों शूरवीरों ने अपने देश के लिए अपने जीवन की आहुति दे दी। वर्तमान समय में भी जब देश परतंत्र था सरदार भगतसिंह जैसे अनेकों देशभक्तों ने हँसते-हँसते अपने जीवन का बलिदान देकर भारत को स्वतंत्र किया।

इसी प्रकार धर्म का इतिहास भी कहता है कि धर्म पर अनेकानेक व्यक्ति हँसते हुए न्यौछावर हुए हैं। धर्म के मार्ग पर बढ़ना और उसमें आने वाले उपसर्गों और परिषहों से जूझना सच्चे साधक के लक्षण हैं। जो मुमुक्षु इन कसौटियों पर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

खरा उतर जाता है, वही अपनी आत्मा का कल्याण करता है। कमजोर दिलवाले तथा परिषहों से घबरा जाने वाले व्यक्ति कभी भी अपने मार्ग पर नहीं बढ़ पाते और अपने उद्देश्य में सफल नहीं होते।

भजन की पंक्ति में कहा गया है—ना ठहरे जावे गीदड़ा।' यानी गीदड़ के समान डरपोक व्यक्ति न तो कर्म-क्षेत्र में टिक पाता है और न ही धर्म क्षेत्र में। वह तनिक सी कठिनाई सामने आते ही यहाँ से पलायन कर जाता है।

वैष्णव साहित्य में एक लघुकथा आती है कि काश्यप नामक एक महान तपस्वी थे। एक बार वे एक जगह से दूसरी जगह जा रहे थे कि मार्ग में किसी धनी व्यक्ति की सवारी आती हुई दिखाई दी। उसे देखकर काश्यप ऋषि मार्ग में एक ओर हो गये किन्तु फिर भी उन्हें टक्कर लगी और वे गिर पड़े। सवारी चली गई।

इस घटना से उन्हें बड़ा क्रोध आया और उन्होंने सोचा—"इस जगत में धन ही सबसे बड़ी चीज है और इसीलिये धनवान व्यक्ति अपने आपको सबसे ऊँचा समझते हैं। मेरे पास धन नहीं था अतः मुझे सड़क पर गिरा दिया और किसी ने यह भी नहीं पूछा कि कहाँ चोट लगी है।" ऐसा विचार करते हुए काश्यप ने ठान लिया कि अब मैं भी धन इकट्ठा करूँगा। तपस्या करने से कोई लाभ नहीं है, लाभ धनवान बनने में है।

महातपस्वी काश्यप के ऐसे विचारों को इन्द्र ने जान लिया और उसे बड़ा दुःख हुआ कि वे मार्ग में गिरा दिये जाने के अपमान और शारीरिक कष्ट से घबरा कर अपनी तपस्या से विचलित हो उठे हैं। उन्हें पुनः मार्ग पर लाने के विचार से इन्द्र ने गीदड़ का रूप बनाया और जहाँ काश्यप ऋषि बैठे थे, वहीं उनके पैरों के पास आकर बैठ गया और बोला—

"ऋषिवर! आज आप किस चिन्तन में लीन हैं?"

"मैं धन कमाने का उपाय सोच रहा हूँ कि किस प्रकार प्रचुर धनार्जन करूँ ताकि संसार के इन सभी धनी व्यक्तियों से ऊँचा कहला सकूँ।"

गीदड़ रूप धारी इन्द्र यह बात सुनकर हँस पड़े और बोले—'तपस्वीराज! आपको यह क्या हो गया है? क्या कोई बुद्धिमान पुरुष हीरे को छोड़कर कांच को ग्रहण करता है? इस संसार में धन तो सदा ही दुःख का कारण बनता है अतः इसको ग्रहण करने की इच्छा महा-मूर्खता है। इसे तो त्याग करना ही विवेकी पुरुष का लक्षण है। क्योंकि—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

"आये दुःखं व्यये दुःखं, धिगर्था: कष्टसंचया: ।"

यानी-धन कमाने के समय में भी अनेक प्रकार के कष्ट उठाने पड़ते हैं और धन के खर्च होने पर भी अनेक प्रकार के दुःख अनुभव करने पड़ते हैं। इससे यह साबित होता है कि दुःख और पीड़ाओं के आश्रय-स्थल रूप इस धन को अनन्त बार धिक्कार है।

आगे गीदड़ ने कहा—"इसके अलावा काश्यप ऋषिराज ! यह मानव जन्म आपको चौरासी लाख योनियों में भटकने के बाद न जाने किन पुण्यों के बल पर मिला है और अगर आपने इसे धन के लोभ में आकर निरर्थक कर दिया तो फिर न जाने कौन सी तिर्यंच योनि में ही आपको जाना पड़े। मुझे ही देखिये, मेरे हाथ नहीं हैं अत: मैं हाथों के लिए तरसता हूँ, कोई मुझ पर वार करे तो मैं उसका बदला नहीं ले सकता। कितना दुखी हूँ मैं ? क्या आप भी इस मानव देह को छोड़कर ऐसा कोई दुखदायी शरीर पाना पसंद करेंगे ?"

गीदड़ की ये बातें सुनकर काश्यप ऋषि की आँखें खुल गईं और वे अत्यन्त लज्जित हुए। उसी क्षण उन्होंने धन इकट्ठा करने का विचार त्याग दिया और अपने हीन विचारों के लिये पश्चात्ताप करते हुए पुनः अपनी साधना एवं तपस्या में लीन होने का निश्चय कर लिया। किन्तु वे समझ गए कि यह गीदड़ साधारण गीदड़ नहीं है अपितु इन्द्र है। यह अनुभव करते ही उन्होंने गीदड़ से कहा—"इन्द्रदेव ! मैं आपको पहचान गया हूँ अत: अपना छद्म-वेश त्याग दीजिये !" उसी क्षण गीदड़ का रूप त्यागकर इन्द्र अपने असली रूप में आ गये और काश्यप ने उनसे कहा—"मैं आपका कृतज्ञ हूँ कि आपने ठीक वक्त पर मुझे पतन की ओर जाने से बचाया है। वास्तव में ही मैं जरा से परिषह से घबराकर अपने इस दुर्लभ जीवन को नष्ट किये दे रहा था।"

काश्यप तपस्वी की बात सुनकर इन्द्र मुस्करा दिये और अपना प्रयत्न सफल जानकर अपने स्थान को चल दिये।

वस्तुतः मनुष्य जन्म अमूल्य है और बार-बार नहीं मिलता। कवि बाजिन्दजी ने मानव को उद्‌बोधन देते हुए कहा है—

बार बार नर देह कहो कित पाइये ?
गोविंद के गुणगान कहो कब गाइये ?
मत चूके अवसान अबै तन माँ धरे,
पाणी पहले पाल अग्यानी बाँध रे !

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अर्थ सरल ही है कि—"यह नर देह पुनः पुनः मिलनी कठिन है और अगर अभी वृथा चली गई तो फिर ईश्वरभक्ति किस जन्म में हो सकेगी ? इसलिए हे जीव ! यह अवसर मत खो तथा फिर चौरासी का चक्कर न चल जाये, इसलिये पहले ही उसे रोकने का प्रबन्ध कर ले। जो बुद्धिमान् व्यक्ति होता है, वह पानी का प्रवाह आने से पहले ही बाँध बना लेता है, उसी प्रकार तू भी अगले लोक में कष्टों को भोगने का समय आए इससे पहले ही कर्मों की निर्जरा करके आत्मा को हलकी बना ले। और तब निर्भय होकर यहाँ से प्रयाण कर।"

बंधुओ, यह चेतावनी प्रत्येक मानव के लिये है। क्योंकि यह शरीर तो एक दिन सभी का नष्ट होगा अतः इसको छोड़ने से पहले ही आगे के लिए शुभ-कर्मों का संचय कर लेना चाहिए। पर यह तभी हो सकेगा, जबकि इसी को जीवन का उद्देश्य न समझा जाय तथा इसे ही अधिकाधिक सुख पहुंचाने का प्रयत्न न किया जाय। बुद्धिमानी इसी में है कि यह हमें त्यागे, इससे पहले ही हम इसे त्याग दें। इसे त्याग देने का अर्थ आप यह न समझ लें कि आत्म-हत्या कर ली जाय। नहीं, अर्थ यह है कि इसके प्रति रहे हुए गहरे ममत्व को तथा आसक्ति को त्याग दें।

धर्म पर दृढ़ रहने वाले और अपनी साधना को अखंडित रखने वाले साधक तो प्राणों की परवाह भी नहीं करते हैं तो फिर शरीर को कष्ट पहुंचाने वाले परिषह क्या चीज हैं ? साधक यही विचार करे तथा जैसा कि अभी बताया गया है—डांस, मच्छर आदि के उपद्रव और उनके दंश से तनिक भी घबराये बिना अपनी संयम साधना निर्बाध गति से चलाता रहे।

संस्कृत साहित्य में एक मनोरंजक श्लोक आता है, जिसमें मच्छर का स्वभाव बताते हुए दुष्ट व्यक्तियों की उससे तुलना की गई है। श्लोक इस प्रकार है—

"प्राक् पादयोः पतित खादति पृष्ठमांसम्,
कर्णे कलम् किमपि रौति शनैर्विचित्रम्।
छिद्रं निरीक्ष्य सहसा प्रविशत्यशंकः,
सर्वम् खलस्य चरितम् मशकः करोति॥

कहते हैं कि पहले मच्छर पैर पर गिरता है, उसके पश्चात् पीठ पर का मांस खाता है। फिर अगर वह देखता है कि इन्होंने सहन कर लिया है तो कान के पास आकर मधुर गुंजार करता है तथा अवसर पाते ही छिद्र देखकर कान, नाक अथवा मुँह में प्रवेश कर जाता है।

इसी प्रकार दुर्जन भी अपना कार्य करते हैं। वे पहले अपने व्यवहार को बड़ा नम्र बनाते हैं जैसे चरण ही चूमते हों। उसके बाद उस व्यक्ति की पीठ के पीछे निंदा

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

करते हैं। किन्तु प्रत्यक्ष में उसके कानों में बड़े प्रिय और मधुर वाक्य कहते हैं ताकि वह प्रसन्न हो जाय। मीठी वाणी के वशीभूत होकर जब व्यक्ति उस दुर्जन से अपनत्व स्थापित कर लेता है तो फिर वह व्यक्ति की कमजोरी का लाभ उठाकर उसके अन्तर में प्रवेश कर जाता है और सभी रहस्यों को जानकर अनुचित लाभ उठाने लगता है।

तो ऐसा होता है दुर्जन और मच्छर का स्वभाव। किन्तु ऐसे अवसरों पर भी शरवीर को कभी धैर्य नहीं खोना चाहिए। कोई दुष्ट व्यक्ति हमारे साथ कितनी भी दुष्टता क्यों न करे, हमें उसे परिषह समझकर सहना चाहिये तथा उसके प्रति मन में रंचमात्र भी क्रोध या द्वेष का भाव नहीं आने देना चाहिये।

पंजाब के कवि न्यामतसिंह कहते हैं—

तज-राग द्वेष, 'न्यामत' सब पौद्गलिक हैं,
सुख में खुशियाँ, रंज में रोना न चाहिये।
रोना न चाहिये तुम्हें रोना न चाहिये,
इस मोह नींद में तुम्हें सोना न चाहिये॥

कवि कहता है—मनुष्य को कर्मों का कर्जदार बनाने के दो ही मूल कारण हैं—राग और द्वेष। इसलिये हे आत्मन्! अगर तू अपना कल्याण चाहता है तो राग और द्वेष के अन्दर मत फंस। ये दोनों ही आत्मा के सबसे बड़े शत्रु हैं किन्तु अनादिकाल से संबंध रहने के कारण वह इनसे पुनः पुन आकर्षित हो जाती है।

इस संसार में जितने भी पदार्थ हैं सब पौद्लिक हैं। इनका स्वभाव ही जीर्ण होकर नष्ट होने का है। ऐसी स्थिति में इनके संयोग से खुशी और वियोग से दुख का अनुभव करना बुद्धिमानी नहीं है। आज साधारण व्यक्ति थोड़े से सुख के साधनों को प्राप्त करके घमंड से फूल जाता है और अगर उनका अभाव हुआ तो रोने बैठ जाता है। वह यह नहीं सोचता कि आखिर इनके मिलने और न मिलने से आत्मा की क्या हानि और क्या लाभ है ?

संस्कृत का एक श्लोक है—

"सम्पदि यस्य न हर्षो, विपदि विषादो रणे च धीरत्वम्।
तं भवनत्रयतिलकम् जनयति जननी सुतम् विरलम्॥

श्लोक बड़ा सुन्दर है। इसमें कहा गया है—सम्पत्ति प्राप्त होने पर जो हर्षित नहीं होता, विपत्ति आने पर दुखी नहीं होता तथा रणांगण में भी असीम धैर्य रखता हुआ भयभीत नहीं होता है, ऐसा तीनों लोकों के तिलक के समान पुत्ररत्न को विरली माता ही पैदा करती है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तिलक के समान से तात्पर्य माथे पर सुशोभित होने वाले से है। और माथे पर वही शोभा पाता है जो सर्वोत्तम या सद्गुणों से युक्त होता है। श्लोक में बताई तीनों बातें सुनने में साधारण लगती हैं किन्तु उन्हें अमल में लाना बड़ा महत्वपूर्ण होता है तथा जो इन्हें अमल में लाता है वह महापुरुष अथवा असाधारण पुरुष कहलाता है।

वास्तव में ही राग को छोड़ना कितना कठिन है? आप लोग अपने धन, मकान, दुकान आदि ऐश्वर्य को क्या सहज ही त्याग सकते हैं? नहीं, उलटे अपनी चतुराई से इन्हें चौगुना करने की फिराक में रहते हैं। जिसमें भी महाजनों की अक्लमन्दी का तो पूछना ही क्या है। अन्य समस्त जातियों से आप लोग बहुत ज्यादा होशियार होते हैं। आपकी होशियारी का एक उदाहरण आपके सामने ही रखता हूँ।

महाजन की करामात

एक महाजन बड़ा होशियार और चालाक था। उसका लाखों का कारोबार था और दिन-रात बढ़ता ही जाता था।

कहा जाता है कि एक बार लक्ष्मी और दरिद्रता में झगड़ा हो गया। दोनों कहती थीं मैं बलवान् हूँ। लक्ष्मी का तर्क था कि वह लोगों को संसार के समस्त सुख प्रदान करती है और उसकी मान-प्रतिष्ठा आकाश तक पहुँचा देती है।

इसके विपरीत दरिद्रता का कहना यह था कि वह प्रथम तो विद्वान पुरुषों के पास रहती है, दूसरे लोगों को पुरुषार्थी बनती है। धनाभाव होने पर ही व्यक्ति श्रम करता है तथा अपनी शक्तियों को काम में लाता है।

इस प्रकार दोनों देवियाँ काफी समय तक एक दूसरे को बुरा कहती रहीं और जब झगड़ा मिट नहीं सका वरन बढ़ता गया तो किसी और से इसका निपटारा कराने के लिये चल दीं।

संयोगवश वे दोनों उस बुद्धिमान महाजन के पास ही पहुँच गईं। अपने-अपने पक्ष में तर्क देते हुए उन्होंने पूछा—"तुम बताओ कि हम दोनों में से बड़ी और अच्छी कौन है?"

महाजन बड़ी दुविधा में पड़ गया और सोचने लगा—"अगर मैं लक्ष्मी को अच्छी कहूँगा तो दरिद्रता घर में घुस जाएगी और दरिद्रता को अच्छी कहूँगा तो लक्ष्मी नाराज होकर चली जाएगी।"

इस प्रकार सेठ कुछ देर तक विचार करता रहा और फिर अपनी चतुराई

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

को काम में लेते हुए लक्ष्मी से बोला – "तुम थोड़ी दूर जाकर खड़ी रहो।" फिर दरिद्रता से कहा – मेरे पास ठहरो।"

दोनों अपने-अपने स्थान पर खड़ी हो गईं। इसके बाद महाजन ने लक्ष्मी से कहा—"तुम जरा इधर आओ।" साथ ही दरिद्रता से बोला—"तुम उधर जाओ।"

सेठ की बात सुनकर लक्ष्मी सेठ की ओर आई तथा दरिद्रता सेठ से दूर चली। इस पर सेठ बोला—"अहा! लक्ष्मी आती अच्छी लगती है और दरिद्रता जाती हुई बड़ी सुन्दर दिखाई देती है।"

इस प्रकार लक्ष्मी सेठ के पास आ गई और दरिद्रता उससे दूर चली गई।

बंधुओ, यह है आप लोगों की करामात। लक्ष्मी को बुलाने और दरिद्रता को भगाने में तो आप बहुत चतुर हैं। किन्तु आपकी चतुराई केवल यहीं काम आएगी। क्योंकि कर्म ऐसे बेवकूफ नहीं हैं जो आपके कहने से दूर चले जाएँगे। वे तो जीव को तीनों लोकों में, कहीं भी चाहे छिप जाय, ढूँढ़ लेंगे। इसलिए हमें यह प्रयत्न करना है कि वे कम से कम हमारे साथ बधें।

और इसका केवल यही उपाय है कि हम राग तथा द्वेष को ही निर्मूल करें। जब तक हमारा राग सांसारिक वस्तुओं पर रहेगा तब तक लोभ और तृष्णा हमारा पीछा नहीं छोड़ेंगे। साथ ही द्वेष जब तक हमारी आत्मा में विद्यमान रहेगा, तब तक हमें कष्ट पहुँचाने वाले जीवों के प्रति हमारा क्षमा भाव नहीं रह सकेगा और हममें परिषह सहने की शक्ति नहीं आ पाएगी।

इसलिये मेरा यही कहना है कि हमें शरीर के प्रति राग-भाव छोड़ना चाहिये और शरीर को कष्ट पहुँचाने वाले डांस-मच्छर आदि जीवों के प्रति क्रोध या द्वेष नहीं आने देना चाहिये। जब हम ऐसा करेंगे तभी हममें पाँचवें 'दंशमशक परिषह' को सहने की शक्ति आ सकेगी। चाहे साधु हो या श्रावक दोनों को ही परिषहों से जूझने की शूरवीरता रखनी चाहिए। तभी वह अपने आत्म-कल्याण के उद्देश्य में सफल हो सकेगा। धर्म-साधना का क्षेत्र समरभूमि के समान है और उपसर्ग तथा परिषह शत्रु। प्रत्येक साधक को अपने इन शत्रुओं से निर्भय होकर मुकाबला करना चाहिए तथा मृत्यु का भी भय न रखते हुए निरंतर बढ़ते जाना चाहिये।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

२३ | शत्रु से भी मित्रता रखो !

धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एवं बहनो !

कल हमने बाईस परिषहों में से पाँचवें परिषह 'दंशमशक परिषह' के विषय में कुछ विचार व्यक्त किये थे। इस विषय में एक गाथा कल कही गई थी। आज उसी सम्बन्ध में दूसरी गाथा 'श्री उत्तराध्ययन' के दूसरे अध्ययन की कही जा रही है। गाथा इस प्रकार है—

न संतसे न वारेज्जा, मणं पि न पओसए।
उवेहे न हणे पाणे, भुंजंते मंससोणियं॥

अर्थात्—साधु मच्छर, मक्खी तथा डांस आदि विषैले जीवों को रुधिर एवं मांस खाने पर भी अपने शरीर से न हटावे। उनके काटने पर भी उन्हें किसी प्रकार का त्रास न पहुँचावे, उनके प्राणों का नाश न करे तथा उन पर किंचित् भी रोष न करते हुए उनके इस व्यवहार को उपेक्षावृत्ति से देखे।

इस गाथा में भगवान ने फरमाया है कि साधु परिषहों को समतापूर्वक सहन करते हुए डांस, मच्छर एवं मक्खी आदि जहरीले जन्तुओं को भी अपने शरीर पर से हटाए नहीं और उनका प्राण-नाश न करे। अपितु उन्हें अपना कार्य स्वतन्त्रतापूर्वक करने दे तथा स्वयं उनके दंश द्वारा होने वाले कष्टों को पूर्ण समता एवं वीरतापूर्वक सहने करे। ऐसा वीरोचित आचरण करने से साधु के हृदय में शरीर के प्रति रहे हुए राग एवं उसे कष्ट पहुँचाने वाले जीवों के प्रति उत्पन्न होने वाले द्वेष के भावों में कमी होगी। राग एवं द्वेष आत्मा को निविड़ कर्म-बंधनों से जकड़ने वाले है—

"रागद्वेषविलग्नस्य कर्मबंधो भवत्येवम्।"

—राग-द्वेष से युक्त प्राणी के कर्मों का बंधन अहर्निशि होता रहता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इसीलिये साधक को राग-द्वेष दूर करने के लिए इस प्रकार विचार करना चाहिये—"ये निरीह जीवजन्तु जो मेरे शरीर को कष्ट पहुँचा रहे हैं इसे सहन करने में ही मेरी आत्मा का कल्याण है। क्योंकि यह शरीर जिसे ये खा रहे हैं, वह मैं नहीं हूं। मैं तो केवल आत्मा हूं जिसे खाने की इनमें तो क्या वनराज सिंह तक में शक्ति नहीं है। अर्थात्—मेरी आत्मा को कोई नहीं खा सकता और किसी भी प्रकार की हानि नहीं पहुंचा सकता। इसके अलावा अगर मैं शरीर पर से इन्हें हटाऊँगा तो इनके आहार-ग्रहण में अन्तराय पड़ेगा और इन्हें मारने से मुझे हिंसा के पाप का भागी बनना पड़ेगा। अतः इन्हें जो अच्छा लगे वही ये करें मुझे इन्हें बाधा देकर क्या लेना है ?'

इस प्रकार के वीरोचित भाव रखने से साधक के हृदय में राग-द्वेष की कमी होगी तथा उसमें समता एवं शांति की अजस्र धारा प्रवाहित होने लगेगी। उस सम-भाव की गंगा में उसकी आन्तरिक कालिमा धुल जाएगी और शुद्ध सात्विक भाव निखर आएंगे। जब अन्तःकरण में सात्विक भावों का उदय होगा तो क्षमा-भाव जड़ पकड़ लेगा और उस साधक को मरणांतक कष्ट देने वाले के प्रति भी क्रोध नहीं आएगा।

शास्त्रों में अनेक इस बात को स्पष्ट करने वाले ज्वलंत उदाहरण प्राप्त होते हैं। गजसुकुमाल मुनि के मस्तक पर अंगारे रखे गये, स्कंधक मुनि के शरीर की चमड़ी उतारी गई और मेतार्य मुनि पर प्राण-संकट आया। किन्तु इन सभी ने किंचित्-मात्र भी रोष, दुःख अथवा द्वेष मन में लाये बिना इन मरणांतक कष्टों को सहन किया।

ऐसी उत्कृष्ट क्षमा ही कर्मों का सम्पूर्ण नाश करने में हेतु बनती है। जो सच्चा साधु और सच्चा साधक होता है वह तो अपने को कष्ट पहुँचाने वाले व्यक्ति पर क्रोध न करके उलटे क्षमा और दया का भाव रखते हैं। कष्ट पहुंचाने वाले के प्रति भी दया रखने वाले एक संत का उदाहरण आपके सामने रखता हूँ।

मैं अपना व्रत नहीं तोड़ूँगा !

एक वैष्णव संत नदी के किनारे स्नानार्थ पहुँचे। जैन मुनि तो कच्चे या सचित्त जल का स्पर्श भी नहीं करते। किन्तु वैष्णव साधु कच्चे जल से परहेज नहीं करते, अतः वे गंगा आदि नदियों में स्नान करते हैं।

तो वे साधु जब नदी के समीप पहुँचे तो उन्होंने देखा कि उसके जल में एक जहरीला और बड़ा बिच्छू बह रहा है। साधु को उस पर दया आई और उन्होंने

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विचारा कि यह बिच्छू अगर जल में से नहीं निकाला गया तो निश्चय ही मर जाएगा। उसके प्राण कंठ तक आ चुके थे और वह बुरी तरह प्राणरक्षा के लिये छटपटा रहा था।

उसकी ऐसी दशा देखकर संत से नहीं रहा गया और वे नदी में घुसकर अपने हाथ में बिच्छू को उठाने लगे। यद्यपि बिच्छू मृत्यु के भय से घबरा रहा था किन्तु संत के हथेली में लेते ही अपने क्रूर स्वभाव के कारण उसने साधु के हाथ में डंक मार दिया। हाथ में डंक लगते ही संत का हाथ तनिक हिल गया और बिच्छू पुनः नदी में जा गिरा। पर वह मर जाएगा यह सोचकर संत ने उसे फिर उठाना चाहा, पर वह बिच्छू ही तो ठहरा, उसने फिर डंक मार दिया। इस प्रकार संत उसे बार-बार हाथ से निकालने का प्रयत्न करते और बिच्छू हर बार उन्हें डंक मारता। वह भी धीरे से नहीं किन्तु पानी में बहने के क्रोध में आकर बड़े जोर से डंक चुभाता था।

यह देखकर किनारे पर खड़े हुए एक दूसरे स्नानार्थी ने संत से कहा—"महात्माजी आप यह क्या नादानी कर रहे हैं? बिच्छू बार-बार आपको काटता है पर आप फिर भी उसे बार-बार उठाने का प्रयत्न कर रहे हैं?"

साधु ने उस स्नानार्थी की बात सुनी पर उसकी परवाह न करते हुए वे अपने प्रयत्न में लगे रहे। साथ ही सकौतुक बिच्छू को सम्बोधित करते हुए बोले—

नदी धार में बहता जाता, तू ईश्वर का था प्यारा,
बिलख रहा था प्राण कंठ थे कल-बल से भी था हारा।
स्नान छोड़कर मैंने तुझको पकड़ किनारे पर डाला,
पर मुझको ही तूने मारा डंक, नहीं हित को पाला।
फिर से लहरों में तू बहने लगा दया मुझको आई,
फिर पकड़ा तुझको पर तूने डंक दिया मुझको भाई।

संत हँसते हुए कहते हैं "अरे भाई! तू नदी में बह रहा था और तेरे प्राण जाने की नौबत आ गई थी। यह देखकर मैंने तुझे बचाना चाहा पर किनारा आते-आते तूने मुझे ही डंक मार दिया और फिर पानी में जा गिरा। मैंने फिर तुझे निकाल कर बाहर लाना चाहा पर तूने पुनः मेरे हाथ में काट खाया।"

आगे संत कह रहे हैं—

जहर चढ़ा तेरा मेरे तन फिर बहता तुझको पाया,
बार-बार तू बहा नदी में पकड़-पकड़ तुझको लाया।
खल स्वभाव को तजा न तूने अपने हितकारी के साथ,
फिर मैं कैसे तज सकता हूँ सत्य, साधुता अपने हाथ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तू काटे जा किन्तु साधुता कभी नहीं मैं छोड़ूँगा;
तेरी रक्षा से ऐ प्यारे कभी नहीं मुँह मोड़ूँगा।
तेरे हित के लिए प्राण भी मैं अपने दे डालूँगा,
पाले जा तू मैं भी अपने प्यारे प्रण को पालूँगा।

क्या कह रहे हैं संत ? वे बिच्छू से कहते हैं –"तू बार-बार पानी में गिर जाता है पर मैं तुझे बार-बार निकालने का प्रयत्न कर रहा हूँ। वह प्रयत्न तू ही सफल नहीं होने दे रहा है क्यों कि तू मुझे बार-बार डंक मार देता है। परिणाम-स्वरूप तेरा जहर मेरे शरीर में चढ़ रहा है पर मैं क्या कहूँ ? यही कहूँगा कि तू अपने हितकारी को भी कष्ट पहुंचाने वाले अपने स्वभाव को नहीं छोड़ता तो मैं अपने साधु के योग्य जो कर्तव्य है उसे कैसे छोड़ूँ ? तेरा स्वभाव दुःख पहुंचाने का है और मेरा दुःख मिटाने का। अतः तू भले ही अपने स्वभाव को मत छोड़, मैं तो तुझे बचाऊँगा ही। तू मुझे चाहे जितनी बार काट, किन्तु मैं तेरी रक्षा से कभी मुँह नहीं मोड़ूँगा। तेरी रक्षा करने में चाहे मेरे प्राण भी निकल जाँय तो भी पीछे नहीं हटूँगा। अधिक क्या कहूँ ? तू अपनी आदत के अनुसार कार्य किये जा। इधर मैं भी अपने व्रत का पालन करता रहूँगा, इसे तोड़ूँगा नहीं।'

इस छोटे से उदाहरण से व्यक्ति को यही शिक्षा मिलती है कि वह अपने को कष्ट पहुंचाने वाले और यहाँ तक कि प्राण लेने वाले प्राणी के प्रति भी पूर्ण क्षमा का एवं दया का भाव रखे। सच्चे संत तो विश्ववर्ती समस्त प्राणियों को अपना मित्र एवं हितैषी समझते हैं। बिच्छु को डंक मारने पर भी बार-बार पानी में से निकालने वाले संत उसे अपना दुश्मन नहीं समझ रहे थे, वरन अपने कर्मों की निर्जरा कराने वाला मानकर अपना हितैषी ही मानते थे।

जो व्यक्ति ऐसा नहीं मानता है वह चाहे श्रावक हो या साधु, अपने कर्तव्यों का पालन नहीं कर सकता। उसे अपने कष्ट पहुंचाने वाले के प्रति रोष उत्पन्न होता है और जब हृदय में रोष या क्रोध का आविर्भाव हो जाता है तो वह मनुष्य अपने अकल्याण करने वाले के दोष गिनने और ढूँढ़ने लगता है।

वैसे इस संसार में दोषदर्शी या छिद्रान्वेषी व्यक्तियों की कमी नहीं है। कदम-कदम पर आपको ऐसे व्यक्ति मिल जाएँगे जो बिना वजह ही औरों की निंदा, बुराई एवं अहित करने के प्रयत्न में रहते हैं। और तो और, वे साधुओं के यहाँ भी उनकी सगति के इच्छुक बनकर या उनसे कुछ प्राप्त करने की आकांक्षा लेकर नहीं आते। अपितु वे साधुओं के व्यवहार, आचरण एवं क्रिया आदि में कमी ढूँढ़ने तथा उनकी ढिलाई देखने आते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ऐसे व्यक्तियों की भर्त्सना करते हुए शेखसादी कहते हैं—

शुनीदम कि मरदाने राहे खुदा,
दिले दुश्मनां हम न करदन्द तंग ।
तुरा कै मुयस्सर शब्द ई मुकाम,
कि बा दोस्तानत खिलाफ़स्तो जंग ।।

अर्थात् मुझे मालूम है कि सच्चे सन्त अपने शत्रुओं के हृदय को भी दुखित नहीं करते । तू उनके उस उच्च स्थल पर कैसे पहुँच सकता है और उस उच्चतर भूमिका को कैसे प्राप्त कर सकता है, जिसका कि अपने मित्रों के प्रति भी शत्रुभाव बना हुआ है ।

वस्तुतः ऐसे आस्तीन के साँपों की भी दुनिया में कमी नहीं है जो अपने हितकारी एवं शुभचिन्तकों की पीठ में छुरा भोंकने के लिये तैयार रहते हैं । वे भूल जाते हैं कि बुराई का नतीजा कभी अच्छाई के रूप में नहीं मिलता । कभी शीघ्र और कभी देर से भी बुराई का फल बुराई के रूप में अवश्य मिलता है । अगर इस जन्म में बच भी गए पूर्व पुण्यों के कारण, तो अगले जन्मों में भी उस अनुचित और क्रूर कर्म का फल मिले बिना नहीं रहता ।

जले बीज से फसल पैदा नहीं होती

एक साहूकार बड़ा धनी था किन्तु फिर भी अधिकाधिक धन जोड़ने के प्रयत्न में वह सदा लगा रहता था । उसका काम था लोगों को रुपया उधार देना और दुगुना-चौगुना ब्याज लेकर उन्हें कभी भी ऋणमुक्त न करना । इतना ही नहीं, बेचारे अपढ़ और गाँवों के गरीब व्यक्ति जो पढ़ना और हस्ताक्षर करना नहीं जानते थे, उनसे वह कर्ज लेने पर अँगूठा लगवा लिया करता और उनकी ली हुई रकम पर आगे बिन्दियां लगाकर अथवा अंक लिखकर कुछ वर्ष बीतते ही रकम को लम्बी बताकर उनके घर-द्वार भी नीलाम करा लेता था । अनेकों व्यक्ति उस साहूकार की इस बेईमानी के कारण मकान व खेत आदि से रहित हो चुके थे । और वे स्वयं या उनके बच्चे दर-दर के भिखारी बन गए थे ।

साहूकार पर इन सबका कोई असर नहीं होता था और वह दिन भर इसी प्रकार अनैतिक कार्य किया करता था । पर उसकी एक आदत यह थी कि वह दिन भर लोगों का गला काटने अथवा उनके पेट पर लात मारने का कार्य करने के पश्चात् प्रतिदिन शाम को गाँव के बाहर बने हुए मंदिर में जाकर भगवान

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

के दर्शन करता और उनसे प्रार्थना करता था—"हे प्रभो ! मुझे मुक्ति प्रदान करना।"

मन्दिर का पुजारी साहूकार को और उसके कार्य को भली-भाँति जानता था अतः वह उसकी इस प्रार्थना पर मन ही मन हँसता था। उसे गाँव के उन व्यक्तियों पर जो कि साहूकार का शिकार बनते थे, बड़ी दया आती थी, अतः उसने एक बार साहूकार को शिक्षा देने का विचार किया।

अपने विचार के परिणाम-स्वरूप उसने एक दिन कुछ भुने हुए चने लिए और मंदिर के बाहर बने हुए चबूतरे पर बिखेर दिये। उसके बाद जब साहूकार दूर से मंदिर की ओर आता हुआ दिखाई दिया तो उसने उन भुने हुए चनों को पानी से सींचना शुरू कर दिया। साहूकार मंदिर तक आ पहुंचा और उसकी दृष्टि पुजारी के इस काम पर पड़ी। अत्यन्त चकित होकर उसने पूछ लिया—

"पुजारी जी ! यह आप क्या कर रहे हैं ?'

"चनों की फसल उगा रहा हूँ सेठ जी।" पुजारी ने कृत्रिम गंभीरता पूर्वक सहज भाव से उत्तर दे दिया। पर पुजारी की बात सुनकर सेठ जी जोर से हँस पड़े और बोले—

"पुजारी जी, लगता है कि आप आज पागल हो गए हैं। भला पत्थरों से चुने हुए इस फर्श पर आपके ये भाड़ में जलकर भुने हुए चने फसल के रूप में कैसे आएँगे ?"

पुजारी को तो साहूकार का कोई डर था नहीं, अतः उसने अब ठीक समय आया जानकर मुस्कुराते हुए उत्तर दिया—

"सेठजी ! आपकी आत्मा पर भी तो लोभ और तृष्णा के पत्थर चुने हुए हैं और अनीति, बेईमानी तथा धोखेबाजी के भाड़ में आपकी प्रार्थना और भक्ति के शब्द जल गए हैं। किन्तु फिर भी आप उनके द्वारा मुक्ति-रूपी फसल उगाने का प्रयत्न कर रहे हैं। तो, जली हुई प्रार्थना से भी अगर आपको मुक्ति-रूपी फल प्राप्त हो जाएगा तब मेरे इन भुने हुए चनों से फसल क्यों नहीं ऊगेगी ?"

पुजारी की यह बात सुनकर साहूकार के मस्तिष्क को तीव्र झटका लगा और उसकी आँखें खुल गईं। वह उसी क्षण दौड़ा हुआ मंदिर में गया और भगवान के चरणों में लोट-लोटकर अपने समस्त पापों के लिये पश्चात्ताप करने लगा। उसने उसी समय प्रतिज्ञा कर ली कि आइन्दा वह जीवन में कभी भी बेईमानी और धोखे-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बाजी के कुकृत्य करके दीन-दरिद्रों का गला नहीं काटेगा तथा साथ ही अपनी बहियों के आधार पर उसने जितना भी लोगों से पैसा लूटा है, वह यथाशक्य लौटाने का प्रयत्न करेगा।

साहूकार ने ऐसा ही किया और इसके अलावा भी अपने धन का बहुत बड़ा भाग अभावग्रस्त दरिद्र व्यक्तियों में बाँटकर भगवान की सच्चे दिल से भक्ति करने लगा।

तो बंधुओ, ऐसे उदाहरण से हमें शिक्षा लेनी चाहिये कि किसी भी प्राणी को प्रत्यक्ष या परोक्ष में हानि पहुँचाना, उसके पेट पर लात मारना या उसे किसी भी प्रकार का कष्ट पाने के लिये बाध्य करना हिंसा की कोटि में ही आता है और हिंसा का फल कभी भी शुभ नहीं हो सकता। हमें सोचना चाहिये कि अपने जिस पेट और शरीर को नाना प्रकार से सुख पहुंचाने के लिये हम अनेकों प्रकार के पाप मन, वचन और कर्म से करते हैं, वह शरीर तो कभी अचानक ही या वयप्राप्त होकर जीर्ण होते हुए भी हमारी आत्मा का साथ छोड़ देगा। पर हमारे साथ उसके लिये किये हुए पाप-कर्म अवश्य चलेंगे।

कवि वाजिद का भी यही कथन है—

सुंदर पाई देह नेह कर राम सों,
क्या लुब्धा बेकाम धरा धन धाम सों ?
आतम रंग पतंग संग नहिं आवसी,
जमहूं के दरबार मार बहु खावसी ॥

कवि ने मोह माया में पड़े हुए अविवेकी एवं अज्ञानी मनुष्य को चेतावनी देते हुए कहा है—"अरे आत्मबंधु ! यह पाँचों इन्द्रियों से परिपूर्ण सुन्दर देह तुझे प्राप्त हुई है तो इससे सुंदर कर्म भी कर। व्यर्थ में ही क्यों तू धन, जमीन एवं मकान आदि नश्वर वस्तुओं में लुब्ध हो रहा है ? हे आत्मन् ! संसार का यह रंग पतंग के समान है जो कि पानी की बूँद पड़ते ही उतर जाता है। अतः इससे आकर्षित होकर तू कोई भी क्रूर कर्म मत कर, अन्यथा यमराज के दरबार में तुझे बड़ा कष्ट भुगतना पड़ेगा।

कहने का अभिप्राय यही है कि प्रत्येक उस व्यक्ति को, जो संसार से मुक्त होने का अभिलाषी है, राग-द्वेष का सर्वथा त्याग करना चाहिये। इनके वशीभूत होकर ही व्यक्ति अन्य प्राणियों को कष्ट पहुंचाता है तथा कर्मों का बन्धन करता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इसीलिये भगवान ने साधु को आदेश दिया है कि वह शरीर का मोह त्यागते हुए उस पर आने वाले परिषहों के कारण मन में रोष न आने दे और पूर्ण समभाव पूर्वक कष्ट सहन करे। यद्यपि मक्खी, मच्छर एवं डांस आदि शरीर को कष्ट पहुँचाते हैं और उसमें रहे हुए मांस एवं रुधिर को ग्रहण करने के प्रयत्न में लगे रहते हैं, किन्तु जो साधु शरीर को अपनी आत्मा से पृथक् मानता है तथा अपने कर्मों की निर्जरा का इच्छुक रहता है, वह इन परिषहों से कभी नहीं घबराता तथा अपनी आत्म-शक्ति के द्वारा पूर्ण शांति एवं समाधि भाव रखता हुआ उनका मुकाबला करता है। ऐसा प्राणी ही शनैः-शनैः कर्मों से सर्वथा मुक्त होकर मोक्ष की प्राप्ति करता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

२४ | शरीर को कितने वस्त्र चाहिये ?

धर्मप्रेमी बंधुओ, माताओ एवं बहनो !

हमारे धर्मशास्त्र आत्मा को निज रूप में रहने की नसीहत देते हैं। अर्थात् साधना के मार्ग पर चल पड़ने के बाद अगर कोई संकट सामने आए तथा उपसर्ग और परिषहों का सामना करना पड़े तो उस समय भी मन की स्थिरता बनाए रखने का आदेश देते हैं। मन को स्थिर रखना संवर तत्त्व का एक विधान है।

अभी हम संवर के सत्तावन भेदों में से बाईस परिषहों के विषय में विचार-विमर्श कर रहे हैं। कल पाँचवें परिषह के विषय में बताया गया था और आज छठे, 'अचैल परिषह' को लेंगे।

अचैल शब्द में प्रथम 'अ' आता है। इसका अर्थ है नहीं, और आगे आने वाले 'चैल' शब्द का अर्थ है वस्त्र। इस प्रकार अचैल का मतलब वस्त्र का न होना अथवा मर्यादित होना है।

आज के युग में कपड़ों या वस्त्रों के लिये क्या कहा जाय ? आप धनीमानी सेठ साहूकारों के बड़प्पन और समृद्धि का माप-दंड भी वस्त्र हो गया है। अपनी ऋद्धि के अनुसार आप अपने और अपने घर की स्त्रियों के लिए रेशम, मखमल और अधिकाधिक जरी आदि से कढ़े हुए वस्त्र बनवाते हैं। अगर ऐसा न करें तो आपकी पोजीशन में कमी आती है और धब्बा लगता है। आपके घर की स्त्रियाँ अधिक से अधिक चमकीले और भड़कीले वस्त्रों को पहनकर घर से बाहर निकलती हैं तथा यहाँ स्थानक में आने के लिये तो उनकी सबसे पहली तैयारी उत्तमोत्तम वस्त्रों का चुनना ही होता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वे यह भूल जाती हैं कि नारियों के सच्चे भूषण और वस्त्र उनकी लज्जा मधुर स्वभाव एवं पातिव्रत्य ही होते हैं।

महात्मा कबीर ने अपने एक दोहे में लिखा है—

पतिवरता फाटा लता, गले कांच की पोत।
सब सखियन में यों दिपे, ज्यों रवि-ससि की जोत॥

अर्थात्-पतिव्रता स्त्री भले ही फटे हुए वस्त्र पहने और भूषण के नाम पर गले में काँच की पोत ही डाले, किन्तु फिर भी उसका गौरव और तेज इतना दीप्त रहता है कि अपनी सखियों और अन्य नारियों के बीच में वह चन्द्र एवं सूर्य की ज्योति के समान प्रकाशित होती है।

मेरा आशय कहने का यही है कि आज के युग में आप वस्त्रों को ही सबसे अधिक महत्त्व देते हैं। यहाँ धर्मोपदेश सुनने के लिए आते समय भी आप सामायिक के उपकरण, आसन- पूँजनी, माला, मुखवस्त्रिका तथा कोई तात्विक बात लिखने के लिये डायरी आदि लाना भले ही भूल जाँय, किन्तु हमें पहनकर क्या जाना है, यह कभी नहीं भूलते। जबकि वस्त्रों का महत्त्व जीवन में कुछ भी नहीं है और चाहे वह बिलकुल घटिया पहना जाय या बढ़िया उससे आत्मा का कुछ भी बनता बिगड़ता नहीं।

हमारी बहनों के पास कपड़ों से पेटियाँ भरी होती हैं और चाहे वे पड़े-पड़े सड़ जाँय, पर फिर भी जिसका कोई वस्त्र नई डिजाइन का देखा, वैसा ही और लेने के लिये सदा तैयार रहती हैं। आप लोगों का भी यही हाल है। आप अपने एक-एक सूट में सैकड़ों रुपये खर्चा कर देते हैं, जबकि देश के सैकड़ों ही क्या लाखों दरिद्रों के पास लज्जा ढकने के लायक भी वस्त्र नहीं होता।

बंधुओ, आपको ध्यान रखना चाहिये कि कीमती और अगणित वस्त्रों को पहनने और संग्रह करने से आपका महत्त्व नहीं बढ़ता। आपका महत्त्व तभी बढ़ेगा जब कि आप स्वयं कम से कम और सादे वस्त्र पहनकर अपने विचारों को बहुमूल्य बनाएँगे तथा उत्तम गुणों का संग्रह करेंगे।

संसार के सभी महापुरुष धन का संग्रह करके और कीमती कपड़े पहनकर महान् नहीं बने हैं वरन वे इनका त्याग करके और केवल आवश्यकतानुसार इनका उपयोग करके ही अपने को महान् बना सके हैं।

धी का दिया किसलिये ?

अभी मैंने एक स्थान पर पढ़ा था कि महात्मा गाँधी ने एक दिन शाम की

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रार्थना समाप्त की और प्रार्थना की समाप्ति पर सब लोग उठकर अपने-अपने घर चले गये।

जब सब लोग उठकर चले गये तब अचानक ही गाँधी जी की दृष्टि घी के एक दिये पर पड़ी जो समीप ही जल रहा था।

उन्होंने चकित होकर पूछा—"यह घी का दिया यहाँ किसने जलाया है ?"

"मैंने जलाया है यह, आपका आज जन्म-दिन था न इसलिये।" कस्तूरबा ने धीरे से उत्तर दिया।

कस्तूरबा की बात सुनकर गाँधी जी तनिक नाखुश होते हुए बोले—"वाह! मेरा जन्मदिन है तो क्या हुआ ? तुमने व्यर्थ इतना घी बरबाद कर दिया। देश के लाखों व्यक्तियों को तो खाने के लिये दो चम्मच तेल भी नहीं जुटता और तुम घी के दिये जलाती हो ? आइन्दा इस प्रकार का व्यर्थ खर्च मत करना !"

कहने का आशय यह है कि महापुरुष अपनी आवश्यकता से अधिक पैसा कभी भी खर्च नहीं करते क्योंकि वे देश के पैसे को सभी का समझते हैं और उस पर सबका अधिकार मानते हैं। इस प्रकार वस्त्र भी अधिक रखना वे दूसरे व्यक्तियों के शरीर पर से चोरी किया हुआ मानते हैं। वे केवल यह मानकर चलते हैं कि मनुष्य की महत्ता केवल उसके उत्तम विचारों से बढ़ती है, वस्त्राभूषण पहनने से नहीं।

इसीलिये साधु कम से कम और मर्यादित वस्त्र रखते हैं। अधिक वस्त्र रखना वे परिग्रह मानते हैं। उनके लिये वस्त्र केवल तन ढकने जितना ही आवश्यक होता है। कई संत तो ओढ़ने के लिये केवल एक चादर रखना भी काफी समझते हैं और पहनने के लिये भी एक।

हमारे प्रसिद्धवक्ता श्री चौथमलजी महाराज ने एक भजन अपनी चादर को लेकर बनाया था। वह मनोरंजक होने के साथ ही शिक्षाप्रद भी है। उसका कुछ अंश इस प्रकार है—

कहूँ हाल मैं इस कपड़े का सुनजो सब नर नार,
लाया जांच मैं इक गृहस्थ से जगन्नाथी तीन वार।
माप करी ने सिवी पाट वो चादर करी तैयार—
अरे हे, ज्ञान विचारी झूठी माया है इस संसार की।

जो पुरुष त्यागी होते हैं, उनका अन्तःकरण त्याग की ओर लगा रहता है। वे उच्चकोटि के संत और कवि थे अतः अपनी चादर को लेकर ही शिक्षाप्रद

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कविता लिखते हुए कहते हैं—'भाइयो और बहनो, मैं अपनी इस चादर का पूरा हाल आज आपको सुना रहा हूं आशा है आप सब इसे ध्यान से सुनेंगे। चादर का किस्सा इस प्रकार है कि एक बार मैं एक गृहस्थ से तीन गज जगन्नाथी कपड़ा लाया।

लाने के बाद नाप करके इसके दो पट मैंने किये और उन्हें सीकर चादर तैयार की। पर बंधुओ, इस संसार में सब कुछ क्षणिक और माया है यह हमें ज्ञान पूर्वक विचार करना चाहिये। अब आगे की बात सुनो—

झलझलाट उज्जवल औ निर्मल ओढी थी जब जान।
लगाय सीना हो गई मैली, अब जीरण पहचान।
इसी न्याय से इस काया पर लेना लाकर ज्ञान,
अरे हे, ज्ञान विचारी, झूठी माया है इस संसार की॥

कहते हैं—जब यह चादर नई थी, तब इसमें बड़ी चमक-दमक, स्वच्छता एवं निर्मलता थी। प्रारम्भ में जब मैंने इसे ओडना शुरू किया था, तब यह सभी को बहुत पसंद आती थी।

किन्तु ज्यों ही इसमें पसीना लगा और ऊपर से धूलि के कण चिपकने लगे यह मैली और चमक रहित हो गई। और फिर धीरे-धीरे काम में लेने पर तो अब यह इतनी पुरानी और जीर्ण हो गई है कि पहचान में भी नहीं आती। कोई नहीं सोच सकता कि यह वही जगन्नाथी है।

बस इसीप्रकार यह काया अर्थात् शरीर भी है। शैशव और युवावस्था में तो इसके सौन्दर्य का पार नहीं रहता किन्तु धीरे-धीरे यही वृद्धत्व को प्राप्त होकर जीर्ण हो जाता है और एक दिन मिट्टी बनता है। केवल इसके द्वारा किये हुए अकाज ही अशुभ-कर्म बनकर साथ चलते हैं और भयानक कष्टों को भोगने के कारण बनते हैं। कवि बाजिंद ने यही विचार कर प्राणी को उद्‌बोधन दिया है—

केती तेरी जान किता तेरा जीवना !
जैसा स्वप्न विलास, तृषा जल दीवना।
ऐसे सुख के काज अकाज कमावना,
बार बार जम द्वार मान बहु खावना॥

कितनी सुन्दर शिक्षा कवि दे रहा है कि—हे प्राणी ! तेरी कितनी सी जान और कितना सा जीवन ? यह सांसारिक सुख स्वप्न-विलास के समान हैं। अर्थात् स्वप्न में नाना प्रकार के सुखों का उपभोग प्राणी करे किन्तु स्वप्न टूटते ही वे सब

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूर्णतया विलीन हो जाते हैं। दूसरे सांसारिक सुखों को मृगतृष्णा की उपमा भी दी जा सकती है। हरिण जिस प्रकार बालू रेत के मैदान या रेगिस्तान में चमकती हुई रेत को पानी समझता हुआ दौड़ता चला जाता है, पर उसे पानी नहीं मिलता और वह प्यासा ही रह जाता है।

इसी प्रकार मनुष्य सांसारिक सुखों का उपभोग करता हुआ उन्हें अधिक से अधिक भोगना चाहता है किन्तु सच्चा और स्थायी सुख उसे कभी प्राप्त नहीं होता।

आगे कवि ने कहा है—

माया बेटी बढ़ै सूम घर माँय रे,
छिन में ऊझल जाय के रहती नाँय रे।
अपने हाथों हाथ विदा कर दीजिये,
मिनख जमारो पाप पड़यो जस लीजिये ॥

क्या कहा गया है? यही कि कंजूस के घर पर लक्ष्मी बढ़ जाती है पर वह उसका उपयोग क्या करता? कुछ भी नहीं, भले ही वह कर्मों के संयोग से लोप हो जाय या चोरी ही क्यों न चली जाय। इसलिये कवि का कथन है कि उसे इकठ्ठा मत करो, वरन् अपने हाथों से परोपकार करके तथा दानादि में खर्च करके इस जन्म में यश के भागी बनो तथा परलोक के लिये पुण्य-संचय कर लो। क्योंकि धन तो आता है और चला जाता है। आज जो ऐश्वर्य के झूले में झूलता है कल वह भीख माँगता हुआ भी नजर आ सकता है। यही हाल शरीर का ही है। श्री चौथमल जी महाराज ने अपनी चादर का उदाहरण देकर बताया है कि शरीर को तो एक दिन नष्ट होना ही है फिर इसी को राजा-संवारने में तथा कीमती वस्त्रों से आवेष्ठित करने में लगे रहना कहाँ की बुद्धिमानी है?

वस्त्र की आवश्यकता केवल तन ढकने के लिये ही तो होती है, आत्मा की उच्चता इससे नहीं बढ़ती। फिर पेटियां भर-भर कर रखने से और देश के असंख्य लोगों को उघाड़ा करके स्वयं कीमती कपड़े पहनने से क्या लाभ है?

इसलिये अच्छा यही है कि वस्त्रों पर से ममता त्याग कर परिग्रह कम किया जाय। आप श्रावक हैं किन्तु आपके लिये भी तो सीमित परिग्रह रखने का विधान अणुव्रतों में है। क्या आप अपने व्रतों का पालन करते हुए वस्त्रों की मर्यादा रखते हैं? श्रावकों के लिये पाँचवें व्रत में सोना, चाँदी, वस्त्र, आभूषण, मकान, खेत आदि सभी सांसारिक पदार्थों के परिग्रह का आदेश है। अतः इस व्रत का पालन करते हुए श्रेष्ठ लोगों को परिग्रह कम से कम करना चाहिये।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हम साधुओं के लिये तो केवल शरीर ढकने के लिये आवश्यक हो, उतना ही वस्त्र रखने का आदेश भगवान ने दिया है और वस्त्र के अभाव में किंचित भी खेद खिन्न न होने तथा कष्ट महसूस न करने के लिये कहा है। श्री उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है—

परिजुण्णेहिं वत्थेहिं होक्खामित्ति अचेलए ।
अदुवा सचेले होक्खामि इइ भिक्खू न चिंतए ॥

—अध्ययन २ गा. १२

अर्थात्-वस्त्रों के सर्व प्रकार से जीर्ण हो जाने पर मैं वस्त्ररहित हो जाऊँगा, इस प्रकार का अथवा वस्त्रों से युक्त हो जाऊँगा, इस प्रकार का भी साधु कभी चिन्तन न करे।

गाथा में यही कहा गया है कि साधु को वस्त्रों पर किसी भी प्रकार से ममत्व नहीं रखना चाहिये। संयम पथ पर चलने वाले साधु के वस्त्र भले ही सर्वथा जीर्ण क्यों न हो जाँय, उसे यह विचार कभी नहीं करना चाहिये कि अब मैं वस्त्र रहित हो जाऊँगा और अब मुझे वस्त्र कैसे प्राप्त होंगे ?

साधु यह भी न सोचे कि मेरे इन फटे हुए वस्त्रों को देखकर कोई न कोई गृहस्थ मुझे नये वस्त्र अवश्य प्रदान करेगा और मैं वस्त्र सहित हो जाऊँगा। इस प्रकार के चिन्तन से मन में हर्ष की उत्पत्ति हो ही जाती है और हर्ष के कारण मोहनीय कर्मों का बन्धन होने लगता है। अतः साधु के लिये आवश्यक है कि वह वस्त्रों की प्राप्ति से हर्ष और अभाव से शोक का अनुभव न करे तथा सभी दशाओं में सम-भाव रखे।

साधक को प्रतिपल यह ध्यान रखना चाहिये कि वस्त्रों के द्वारा शरीर की रक्षा होती है और शरीर संयम-साधना में सहायक बनता है, किन्तु संयम का सच्चा पालन तो आत्मा के सम-भावों पर निर्भर है। अगर आत्मा में किसी भी प्रकार के मलिन विचार आते रहें तथा अच्छे संयोगों से हर्ष और दुखद संयोगों से विषाद उत्पन्न होता रहे तो आत्मा में सम-भाव नहीं रहता तथा वह मलिन होकर कर्मों से जकड़ जाती है तो वस्त्रों के अभाव में भी साधु को किसी प्रकार का दुःखद भाव नहीं लाना चाहिये और उनके प्राप्त होने पर प्रसन्नता का अनुभव भी नहीं करना चाहिये।

अगली गाथा में कहा गया है—

एगयाऽचेलए होइ, सचेले आवि एगया ।
एयं धम्मं हियं नच्चा, नाणी नो परिदेवए ॥

—उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन २।१२

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यहाँ यह बताया गया है कि जिनकल्पी अवस्था में साधु वस्त्र रहित भी किसी समय हो जाता है तथा किसी समय स्थविरकल्पी अवस्था में वस्त्र युक्त भी होता है। अतः इन दोनों अवस्थाओं को अपनाकर इन दोनों ही धर्मों को हितकारक समझकर 'नाणी' ज्ञानी साधक कभी खेद न करे।

बंधुओ, आपको यहाँ कुछ ध्यान देकर समझना है कि साधु की दो कोटियाँ मानी गई हैं। उनमें से प्रथम है जिनकल्पी और द्वितीय कहलाती है स्थविरकल्पी।

जिनकल्पी अवस्था में साधु वस्त्र का सर्वथा त्याग कर देता है तथा स्थविर कल्पी अवस्था में वस्त्र धारण करता है। मुख्य बात यह है कि ये दोनों ही धर्म या आचार शास्त्रविहित हैं तथा दोनों ही अवस्थाओं में आत्मा की पूर्ण हित साधना हो सकती है। दोनों ही स्थितियों में साधु अपने संयम का पालन करता हुआ अन्य अनेक प्राणियों को धर्माराधन का सही मार्ग बता सकता है तथा उन्हें धर्म का सच्चा स्वरूप समझा कर आत्मोन्नति की ओर बढ़ा सकता हैं।

इस कथन का आशय यही है कि साधु के वस्त्र सहित या वस्त्र रहित होने से कोई फर्क नहीं पड़ता, क्योंकि उसकी महत्ता वस्त्रों से नहीं अपितु गुणों से तथा उत्तम भावनाओं से होती है। साधु के जीवन में भाव-शुद्धि का महत्त्व ही होता है वस्त्रों के होने न होने का नहीं।

इसीलिये कहा गया है कि सचेलक अथवा अचेलक, दोनों ही दशाओं को धर्म-हितकारक मानकर साधु अपनी साधना को त्यागमय एवं दृढ़ बनाता चले। वह वस्त्रादि के अभाव में यह चिन्तन कभी न करे कि मुझे शीत का कष्ट होगा और उस अवस्था में मैं कहाँ जाऊँगा? ऐसा चिन्तन करना दीनता और दुर्बलता का द्योतक है अतः इनका सर्वथा त्याग करके साधु को शीतादि परिषहों को सहर्ष सहन करने के लिये प्रस्तुत रहना चाहिये। तभी उसे अचेलपरिषह पर विजय प्राप्त हो सकेगी तथा उसकी आत्मा अमरत्व की ओर अग्रसर होगी।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

२५ | चिन्ता को चित्त से हटाओ

धर्म प्रेमी बंधुओ, माताओं एवं बहनो !

श्री उत्तराध्ययन सूत्र के दूसरे अध्ययन में बाईस परिषहों के विषय में बताया गया है। जिसमें से कल 'अचेल परिषह' के विषय में वर्णन किया गया था, और आज 'अरति-परिषह' के बारे में कहा जाएगा। यह आठवाँ परिषह है।

अरति का अर्थ है चिन्ता। इस चिन्ता को यानी अरति-परिषह' को जीतना बड़ा कठिन कार्य हैं और बिरले महापुरुष ही इस पर विजय प्राप्त कर सकते हैं। जब तक मन में चिन्ता बनी रहती है, व्यक्ति से आत्म-सुख के लिये कुछ नहीं किया जा सकता। न वह धर्माराधन में चित्त को एकाग्र कर सकता है और न ही त्याग तपस्या आदि में सफल हो सकता है।

इसलिये भगवान महावीर ने फरमाया कि साधु को चिन्ता का सर्वथा त्याग करना चाहिये तथा किसी भी परिस्थिति में मन को डांवाडोल होने देना नहीं चाहिये। अगर मन में किसी भी प्रकार से आर्त-ध्यान या अरति बनी रहेगी तो साधु अपने साधना-मार्ग पर निश्चित होकर कभी नहीं बढ़ सकेगा।

इस विषय को स्पष्ट करने के लिये गाथा इस प्रकार है:—

गामानुगामं रीयंतं, अणगारं अकिंचणं ।
अरई अणुप्पवेसेज्जा, तं तितिक्खे परीसहं ॥

—उत्तराध्ययन सूत्र, अ. २ गा० १४

अर्थात् ग्रामानुग्राम में विचरण करते हुए साधु को यदि कोई चिन्ता उत्पन्न हो जाय तो वह उस चिन्ता जन्य परिषह को समता पूर्वक सहन करे।

वस्तुतः सच्चा साधु वही है जो 'अनगार' यानी 'आगार' रहित है। जिसके

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पास धन, मकान, खेत, बाग-बगीचे आदि कुछ नहीं हैं, केवल वही हैं जो उसके पास और नाम मात्र का है। इन सबसे रहित होकर ही जो आनन्द और हलकापन महसूस करता है वही सच्चा साधु और फकीर कहलाता भी है।

महात्मा कबीर अपने आपको ऐसा ही फकीर मानते थे, और कहते थे—

मन लागो मेरो यार फकीरी में।
जो सुख पावों नाम भजन में: सो सुख नाहिं अमीरी में।
भली बुरी सब की सुनि लीजे, कर गुजरान गरीबी में॥
प्रेम नगर में रहनि हमारी, भलि बनि आई सबूरी में।

कबीर जी का कहना था— "अरे दोस्त! मेरा मन तो फकीरी में लग गया है। इसमें जो आनन्द और उत्साह का अनुभव होता है, वह धनाढ्यता में कतई नहीं है। फकीर को चाहिये ही क्या ? बस उसे प्रभु के नाम का स्मरण करना है तथा गरीबी में भी सुख से गुजारा करते हुए लोगों की अच्छी और बुरी बातों को गले से उतारते जाना है।

कवि ने कितनी सुन्दर बात कह दी है कि वही व्यक्ति जो ओरों की गालियों और प्रशंसा एक ही भाव से सुनता है तथा प्रशंसा सुनकर खुश नहीं होता और निंदा सुनकर शोक नहीं करता, वह सच्चा फकीर कहलाता है। यद्यपि सांसारिक प्राणियों के लिये ऐसा कर सकना बड़ा कठिन है। आप सेठों और साहूकारों को तो अगर कोई एक शब्द भी अप्रिय लगने वाला कह दिया जाय तो आप ऐसे उछल पड़ते हैं, जैसे सर्प पूँछ पर पैर पड़ जाने से उछलता है। किन्तु साधु के लिये यह बात नहीं है, वह कटु-शब्द और गालियों सुन लेना तो क्या, गर्दन काट दिये जाने पर भी कष्ट का अनुभव नहीं करता। उलटे कर्मों की निर्जरा या संचित कर्मों का भार उतरना मानता है।

आगे कहते हैं—'प्रेम नगर में रहनि हमारी' अर्थात् संतों की दुनिया उनके इतः तत ही सीमित होती है। वे प्रभु से प्रेम करते है और उसी प्रेम व भक्ति की दुनिया में मस्त रहते हैं। उनका विचार यह होता है कि-'बड़ा अच्छा हुआ जो हमने संसार से नाता तोड़ लिया और सांसारिक पदार्थों पर से आसक्ति हटाकर संतोष को धारण कर लिया। इससे हमारा बहुत भला हुआ है, क्योंकि सभी प्रकार की चिंताओं का अन्त हो गया। अगर गृहस्थी के झमेले में रहते तो नित्य नई चिन्ताएँ परेशान करती रहती।'

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आगे कहा है—

हाथ में कुंडी बगला में सोटा, चारों दिसि जागीरी में।
आखिर यह तन खाक मिलेगा, कहा फिरत मगरूरी में।
कहे कबीर सुनो भई साधो, साहिब मिले सबूरी में ॥

कबीर जी बड़ी मजेदार बात कह रहे कि—'साहब, हमारे तो हाथ में कुंडा और बगल में सोटा (लड़की) होनी चाहिये। फिर तो सारा संसार ही हमारी जागीरी में आ जाता है। हम अपने आपको इस जहान का मालिक समझने लगते हैं। इस विषय को स्पष्ट करने वाला एक उदाहरण है—

चारों दिसि जागीरी में

किसी राजा के गुरु का देहावसान हो गया अतः राजा ने दूसरे गुरु की खोज करनी प्रारंभ कर दी। उस खोज के प्रयत्न में उन्होंने अपने सम्पूर्ण राज्य में मुनादी करवादी कि "जो भी विद्वान और त्यागी पंडित अपने आपको राज-गुरु पद के योग्य मानते हैं, वे अमुक दिन राज्य दरबार में पधारें।"

मुनादी के परिणाम स्वरूप निश्चित दिन पर अनेक ब्राह्मण पंडित बड़े ठाट-बाट से राज्य दरबार में आए। राजा ने सभी का आदर-सत्कार किया और उसके पश्चात् कहा—"मुझे आप लोगों में से एक को राज-गुरु के पद पर प्रतिष्ठित करना है, किन्तु उसके लिये केवल एक परीक्षा है, वह यह कि शहर के बाहर बड़ा विस्तृत और मीलों लम्बा चौड़ा मैदान है, वहाँ पर आप लोगों में से जो भी विद्वान अधिक जमीन घेरकर सुन्दर आश्रम बना लेगा वही मेरा राजगुरु होगा।" राजा ने आश्रम बनाने के लिये कुछ महीनों की अवधि भी निर्धारित कर दी।

राजा की बात सुनते ही सभी पंडित वहाँ से तुरन्त रवाना हो गये ताकि वे शीघ्रातिशीघ्र दिन-रात परिश्रम करके अधिक से अधिक जमीन घेर सकें और आश्रम बना सकें। पर उन सबके चले जाने के बाद राजा ने देखा कि एक फक्कड़ साधु जो केवल लंगोटी ही लगाए हुए है, वहीं खड़ा है।

राजा को कौतूहल हुआ उसके न जाने का और उसने साधु से पूछा—"बाबाजी, आप किसलिये यहाँ आए हैं?

"वाह! आपने ही तो राज-गुरु-पद के उम्मीदवारों को यहाँ बुलाया था।" फकीर ने सहज भाव से उत्तर दे दिया।

राजा मुस्कराये पर पुनः बोले—"महाराज! आपकी बात सत्य है पर मैंने

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

राज-गुरु बनने वालों के लिये एक शर्त रखी है, वह आपने भी सुनी होगी। फिर आप उसे पूरी करने में विलंब क्यों कर रहे हैं ?

"जल्दी क्या है, वह भी पूरी हो जायगी।"

राजा को फकीर की बात सुनकर कुछ आश्चर्य हुआ और उन्होंने प्रश्न किया—"आप रहते कहाँ हैं ?"

"उधर मैदान में ही मेरी झोंपड़ी है जहाँ पंडित लोग ज्यादा से ज्याद जमीन घेरकर आश्रम बनाएँगे।

यह कहकर फकीर धीरे-धीरे वहाँ से चल दिया।

जिसदिन राजा की दी हुइ अवधि समाप्त हुई, वे अपने दल-बल सहित निरीक्षण करने निकले कि किस उम्मीदवार ने सबसे विस्तृत और सुन्दर आश्रम बनाया है। उन्होंने देखा कि लगभग सारा मैदान बड़े-बड़े आश्रमों से घिर गया है। और उन्हें बनाने वाले पंडित आश्रमों के द्वार पर राजा की प्रतीक्षा कर रहे हैं कि शायद उनका आश्रम राजा को पसन्द आए और वे राज-गुरु बना दिये जाँय।

इधर राजा उन सभी आश्रमों को ध्यानपूर्वक देखते हुए घूम रहे थे कि उस दिन दरबार से सबसे पीछे जाने वाले फकीर पर अचानक ही उनकी दृष्टि पड़ गई। उन्होंने देखा कि फकीर राख के एक बड़े ढेर पर मस्ती से बैठा हुआ कुछ गुनगुना रहा है।

राजा बड़े चकित हुए और फकीर के सामने पहुंच कर बोले—"महाराज ! यह क्या ? आपने एक छोटा सा आश्रम भी नहीं बनाया इतने दिनों में ?"

फकीर हँस पड़ा और कहने लगा—"राजन ! मैंने तो अपनी बनी हुई झोंपड़ी को ही फूँक दिया है। उसी के ढेर पर तो बैठा हूँ।"

"झोपड़ी को फूँक दिया ? ऐसा क्यों ? राजा ने आश्चर्य से पूछा।

"इसलिये कि मेरी झोंपड़ी थोड़ी सी जगह में थी और आश्रम बनाता तो भी वह जगह सीमित ही रहती। अतः अब झोंपड़ी भी फूँक देने से सारा संसार मेरी जागीरी बन गया है। आप स्वयं देख लीजिए कि चारों दिशाओं में दूर-दूर तक क्या मैंने कोई सीमा बाँधी है ? इसलिये मेरा आश्रम तो जहाँ तक भी दृष्टि जाये वहाँ तक है।"

राजा फकीर की बात सुनकर स्तब्ध रह गए। उन्हें उस त्यागी और सम्पूर्ण संसार को अपना समझने वाले पर बड़ी श्रद्धा उत्पन्न हुई। उसी क्षण उन्होंने चारों

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दिशाओं को अपनी जागीर समझने वाले साधु को राज-गुरु का पद प्रदान कर देने का ऐलान कर दिया ।

तो बंधुओ, कबीर ने भी यही कहा है कि मेरा मन ऐसी फकीरी को पाकर निश्चिंत हो गया है, जिसमें चारों दिशाओं की जागीरी मिल जाती है । अन्त में वे संसार के प्राणियों को सीख देते कहते हैं—

"भाई ! संसार के इन नश्वर पदार्थों को इकट्ठा करके तुम क्या घमंड करते हो ? इनका उपभोग करने वाला यह शरीर तो अन्त में नष्ट होकर राख में मिल जायगा । इसलिये थोड़ा चिंतन करो और यह भली-भाँति समझ लो कि अगर परमात्मा को प्राप्त करना है तो सांसारिक वस्तुओं पर से पूर्णतया आसक्ति त्याग दो और संतोष धारण करो । जब तुम्हें प्रत्येक प्रकार के अभाव में भी संतोष रहेगा और तनिक भी चिन्ता किसी वस्तु की प्राप्ति के लिये न रह जाएगी, तब ही उस परम पिता परमात्मा के नजदीक पहुंच सकोगे ।"

हमारा विषय भी आज 'अरति' अर्थात् चिंता रहितता पर ही चल रहा है । भगवान ने भी साधु को आदेश दिया है कि वह गाँव-गाँव विचरण करते हुए किसी भी प्रकार की चिन्ता का हृदय में आविर्भाव न होने दे, और कदाचित कोई चिंता का कारण बन भी जाय तो उसी क्षण उस चिन्ताजनक कष्ट या परिषह पर विजय प्राप्त करे :

अगली गाथा में और भी जानने योग्य बात कहीं है—

अरइं पिट्ठओ किच्चा, विरए आयरक्खिए ।
धम्मारामे निरारम्भे, उवसन्ते मुणीचरे ॥

—उत्तराध्ययन सूत्र. अ. २. गा. १५

अर्थात्-चिन्ता की ओर पृष्ठभाग करके, हिंसादि दोषों से रहित होकर, आत्मा का रक्षक और धर्म में रमण करने वाला, आरम्भ से रहित और कषायों से विमुख होकर विवेकी मुनि संयम-मार्ग पर विचरे ।

आप सब भली भाँति जानते हैं कि चिन्ता मनुष्य को किस प्रकार विकल बना देती है और किये जाने वाले कार्यों की समीचीन रूप से सफल नहीं होने देती तो जब सांसारिक कार्यों में भी वह विघ्न डालती है तो फिर परलोक का साधन करने वाले धर्म की आराधना कब करने देगी ? अर्थात् नहीं करने देगी । इसलिये कहा है कि साधना के मार्ग पर बढ़ने वाले साधु को चिन्ता की ओर से मुँह मोड़ लेना चाहिये तथा उसकी ओर पीठ करके हिंसा आदि पाँच प्रकार के सावद्य कार्यों का भी त्याग कर देना चाहिये क्योंकि ये भी धर्माराधन में बाधक होते हैं । इन

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सावद्य व्यापारों का जो साधु सर्वथा त्याग कर देता है, वही अपनी आत्मा को पतन से बचाने में समर्थ हो सकता है। आत्मा को पतन की ओर ले जाने वाले आरम्भ-समारम्भ ही हैं अतः इनसे बचने का प्रयत्न करना आवश्यक है। इसके अलावा आत्मा को पतित करने वाले क्रोधादिक कषाय हैं। इनके वशीभूत होने वाला प्राणी कभी ही अपनी साधना में अग्रसर नहीं हो सकता। क्रोध, मान, माया और लोभ, ये चारों कषाय एक-दूसरे का साथ देने वाले हैं। जहाँ इनमें से एक आया वहाँ क्रमशः चारों ही आ जाते हैं। परिणाम यह होता है कि व्यक्ति इन सब के फेर में पड़कर निबिड़ कर्मों का बन्ध करता है, और चौरासी का चक्कर काटता रहता है। लोभ को तो सब पापों का मूल ही माना गया है। इसके कारण मनुष्य आसक्ति और ममता का बहाना लेकर पाप-मार्ग पर बढ़ता है।

संसार के महापुरुष प्राणियों को सदा सावधान करते हैं और इनसे बचने की शिक्षा देते हैं। कवि सुन्दरदास जी ने भी अज्ञानी मानव को धिक्कारते हुए कहा है—

बार बार कह्यो तोहि, सावधान क्यूं न होइ,
ममता की ओट सिर काहे को धरत हैं ?
मेरो धन मेरो धाम मेरे सुत मेरी बाम,
मेरे पसु मेरे ग्राम भूल्यो ही फिरत है ॥
तू तो भयो बावरो बिकाय गई बुद्धि तेरी,
ऐसो अंधकूप गेह तामें तू परत है ।
सुन्दर कहत तोहि नेक हु न आवे लाज,
काज को बिगार के अकाज क्यों करत है ॥

कवि ने मानव की भर्त्सना करते हुए उसे कहा है—"अरे अज्ञानी जीव ! मैंने तुझे नाना प्रकार से बार-बार समझाया है किन्तु अभी तक भी तू सावधान नहीं हुआ। मेरी पुनः-पुनः दी हुई चेतावनी को भूलकर ममता की ओट क्यों ले रहा है ? तू दिन-रात बस, मेरा धन, मेरा मकान, मेरे पुत्र, मेरी पत्नी और मेरी जमीन-जायदाद है यह मानता हुआ भान भूले हुए हैं और गर्व से मतवाला बना घूम रहा है। पर क्या ये सब यथार्थ में तेरे हैं ? नहीं।"

"मुझे तो ऐसा लगता है कि तेरी मति-भ्रष्ट हो गई है और बुद्धि कौड़ियों के मोल बिक चुकी है। तभी तो मेरा-मेरा करता हुआ तू पतन के गहरे कुए में गिरा जा रहा है।"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

"अरे मूर्ख ! क्या तुझे तनिक भी लज्जा नहीं आती जो कि इस अमूल्य मानव जीवन से धर्माराधन करके कर्म-नष्ट करने के बदले उलटे पापों की पोट सिर पर रख रहा है ? मैं कहता हूँ कि पूर्व जन्मों के असंख्य पुण्यों के बल पर देवताओं को भी ललचाने वाला यह मनुष्य-जन्म तुझे प्राप्त हो गया है और आत्मोन्नति के सब साधन भी तुझे सुलभ हैं, फिर इन सबके द्वारा हो सकने वाले उत्तम कार्यों को बिगाड़कर तू अकार्य क्यों करता है ?"

वस्तुतः कवि का कथन यथार्थ है। मनुष्य लोभ और तृष्णा के वशीभूत होकर ही नाना कुकर्म करता है तथा आसक्ति के फेर में पड़कर विरक्ति और त्याग के महत्व को भूल जाता है। इस संसार में तो ऐसे-ऐसे त्यागी महा-मानव हुए हैं कि वे धन, धरा और धाम ही क्या अपने भोजन को भी औरों को खिलाकर स्वयं भूखे रहे हैं।

त्याग का महत्व

आपने राजा रन्तिदेव के बारे में शायद कभी सुना होगा। वे अत्यन्त प्रजा-वत्सल थे। उनकी मान्यता थी कि जब तक प्रजा का पेट न भरे राजा को भरपेट खाने का अधिकार नहीं है।

दुर्भाग्यवश एक बार उनके राज्य में बड़ा भयानक अकाल पड़ा। जब लोगों के पास खाने को कुछ न रहा तो उन्होंने अपने राज्यकोष और अन्नागार में जो कुछ भी था, सब अपनी प्रजा में बाँट दिया।

पर जब राज्य कोष और राज्य का अन्न-भंडार खाली हो गया तो राजा को खाने के लिये भी कुछ न बचा। इस पर राजा को अपनी रानी एवम् पुत्र सहित राजधानी छोड़नी पड़ी। क्योंकि राजमहल के ऊँचे-ऊँचे कंगूरों को देखने से पेट नहीं भरता।

रन्तिदेव ने राजमहल छोड़ दिया किन्तु उन्हें खाने के लिए एक दाना भी अड़तालीस दिन तक नहीं मिला। अकाल के कारण कुए और तालाब भी सूख गए थे।

भाग्य से उनचासवें दिन किसी व्यक्ति ने राजा को पहचान लिया और उसके पास कुछ भोज्य-सामग्री थी अतः उसने थोड़ा सा घी, खीर, हलुआ और जल राजा के पास भेज दिया। राजा और रानी को प्रसन्नता हुई कि आज खाने को कुछ मिला। अपने दोनों बच्चों सहित वे लोग भोजन करने बैठ ही रहे थे कि एक ब्राह्मण अतिथि बनकर वहाँ आ गया।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

राजा अतिथि को देखकर अत्यन्त हर्षित हुए और उन्होंने सोचा कि सौभाग्य से आज इस विपत्ति के समय में भी हम अतिथि को खिलाये बिना खाने के दोष से बच जाएँगे। ऐसा विचारते हुए उन्होंने अतिथि को सहर्ष भोजन कराकर विदा किया। किन्तु इतने में ही एक शूद्र आ पहुंचा। राजा ने उसे भी प्रेम से खाना खिलाया और उसके पश्चात् स्वयं खाने की तैयारी की।

किन्तु अभी वे एक ग्रास भी नहीं खा सके थे कि एक भील अपने दो कुत्तों के साथ उधर आया और दूर से ही राजा को पुकारता हुआ बोला—

"महाराज ! मैं और मेरे कुत्ते भूखों मर रहे हैं। कृपा करके हमें भी कुछ खाने को दीजिये।"

रन्तिदेव ने जब आँख उठाकर उस भील और उसके कुत्तों को भूख से तड़पते देखा तो बचा हुआ सब खाना बड़े प्रेम से उन्हें दे दिया। फलस्वरूप भील और दोनों कुत्ते तृप्त होकर चले गये।

अब रन्तिदेव के पास अन्न का एक कण भी नहीं बचा था। केवल कुछ पानी था। उसी से उन्होंने अपना कंठ गीला करने के विचार से पात्र हाथ में लिया। किन्तु उसी समय एक करुण आवाज उनके कानों में टकराई—

"मैं बहुत प्यासा हूँ, मुझे पानी चाहिये।"

राजा ने देखा एक चांडाल वहाँ खड़ा था और पानी माँग रहा था। चांडाल को देखकर राजा के चेहरे पर पुनः हर्ष बिखर गया और उन्होंने अपना पानी का पात्र उसकी ओर बढ़ाया। पर यह क्या ? पलक झपकते ही उन्हें दिखाई दिया कि जिन्हें जल की आवश्यकता ही नहीं है वे ही विभिन्न वेषों में अतिथि बनकर आने वाले ब्रह्मा, विष्णु, शिव और धर्मराज अपने रूपों में प्रत्यक्ष उनके सामने खड़े हैं। राजा रन्तिदेव हर्ष-विह्वल होकर उनके चरणों में लौट गये।

बंधुओ, वैष्णव धर्मग्रन्थों की यह एक कथा है। पर इससे हमें त्याग की महत्ता का अनुमान होता है। आवश्यकता से अधिक होने वाला धन-वैभव तो फिर भी व्यक्ति त्याग सकता है किन्तु जिस सामने आए हुए अन्न और जल के अभाव में जीवन जा रहा हो उसे भी सहर्ष औरों को प्रदान कर देने वाले महा-मानव विरले ही होते हैं। किन्तु ऐसे त्याग का फल ही महत्त्वपूर्ण होता है।

राजा रन्तिदेव ने यह परवाह नहीं की कि अड़तालीस दिन से वे, उनकी पत्नी और बच्चे भूखे हैं, यह भी चिन्ता नहीं की कि इस उनचासवें दिन मिला हुआ

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यह अन्न-जल औरों को दे देने पर हमें भूखों मरना पड़ेगा। इस प्रकार चिन्ता का त्याग करने पर ही उन्हें भगवान के दर्शन हुए और यही हमारे शास्त्र कहते हैं कि 'अरति परिषह' को जीतने से साधक आत्मा के अधिक निकट पहुँचता है। दूसरे शब्दों में आत्म-रूप का दर्शन कर सकता है।

इसलिये आवश्यक है कि साधु चिन्ता का सर्वथा त्याग करे और श्रावक भी यथाशक्य संसार के समस्त पदार्थों और सांसारिक संबंधियों की ओर से अहर्निश बनी रहने वाली चिन्ताओं से अपने आपको अधिकाधिक मुक्त करे। यही 'अरति-परिषह' पर विजय प्राप्त करना होगा तथा आत्मोत्थान में सहायक बनेगा।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

२६ | प्रबल प्रलोभन

धर्मप्रेमी बंधुओ, माताओ एवं बहनो !

भगवान महावीर ने संवर के सत्तावन भेद बताए हैं, उनमें से पन्द्रह भेदों का वर्णन किया जा चुका है। कल के प्रवचन में कहा गया था कि साधना करते हुए कभी-कभी प्रासंगिक चिंता हो जाती है, किन्तु मुनि उसे भी अपने हृदय में स्थान न दे तथा अपनी आत्मा का समस्त विकारों और कषायों से रक्षण करता हुआ पाप क्रियाओं से निवृत्त होकर धर्म-रूपी उद्यान में विचरण करे जहाँ आरंभ समारंभ नहीं है और अशांति का कोई कारण नहीं है।

आज संवर के सोलहवें भेद यानी आठवें परिषह का विवेचन किया जाएगा। इस परिषह का नाम 'स्त्री परिषह' है।

यहाँ यह बात ध्यान में रखने की है कि साधना में लगे हुए पुरुष के लिए स्त्री जाति से बचना चाहिये और साधना-रत स्त्री जाति को पुरुषों से दूर रहना चाहिए।

'श्री उत्तराध्ययन सूत्र' में 'स्त्री-परिषह' के विषय में गाथा कही गई है—

सङ्गो एस मणुस्साणं, जाओ लोगम्मि इत्थिओ।
जस्स एया परिन्नाया, सुकडं तस्स सामण्णं॥

—अध्ययन २० गा० १६

अर्थात्—लोक में पुरुषों का स्त्रियों के साथ जो संसर्ग है उस स्त्री संसर्ग को जिस संयमी पुरुष ने ज्ञानपूर्वक परित्याग कर दिया है उसकी साधुता सफल है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इस संसार में चारों ओर प्रलोभन की असंख्य वस्तुएँ बिखरी हुई हैं। इनसे आकर्षित होकर व्यक्ति नाना प्रकार के कष्ट भोगते हैं और भाँति-भाँति की विडम्बनाओं में फँस जाते हैं। धन एकत्रित करने के लिये लोग नाना प्रकार की बेईमानियाँ करते हैं और परिवार की ममता के वश होकर भी अनेक प्रकार के कुकर्म कर डालते हैं : कभी-कभी तो हम यहाँ तक सुनते हैं और अखबारों में भी पढ़ते हैं कि सन्तान के जीवित न रहने पर लोग औरों के बच्चों को चुराकर किसी देवी-देवता के समक्ष बलिदान कर देते हैं। नर-बलि के समान भयंकर पाप और क्या हो सकता है ?

कहने का अभिप्राय यही है कि व्यक्ति धन, परिवार तथा यश-कीर्ति के प्रलोभन में आकर नाना प्रकार के अकार्य करता है। किन्तु इन सबसे बड़ा और जबर्दस्त प्रलोभन संसार में एक और है। वह है—काम विकार। काम का प्रलोभन इतना प्रबल है कि उससे व्यक्ति का बचना बड़ा कठिन होता है। साथ ही यह विकार इतना व्यापक भी है कि जगत के सम्पूर्ण जीव इसके चंगुल में पड़े रहते हैं, और इसके फेर में आकर अपनी बुद्धि, विवेक एवं ज्ञान, सभी को तिलाञ्जलि दे बैठते हैं।

एक छप्पय छंद में कहा गया है—

भीख-अन्न इक बार लौन बिन खाय रहत है।
फटी गूदरी ओढ़ वृक्ष की छाँह गहत है॥
घास पात कछु डारि भूमि पर नित प्रति सोवत।
राख्यो तन परिवार भार यह ताको ढोवत॥

इहि भाँति रहत चाहत न कछु, तऊ विषय बाधा करत।
हरि हाय तेरी सरन, आय पर्‌यो इनसे डरत॥

कहते हैं कि भिक्षुक दिन में एक बार ही भीख माँगकर अन्न लाता है और वह भी रूखा-सूखा नमक रहित, उसे ही खाकर रह जाता है। उसे नरम शैय्या और रूई के मोटे-मोटे गद्दे या रजाई ओढ़ने बिछाने को नसीब नहीं होते। माँग-मूँगकर लाई हुई फटी गुदड़ी ओढ़कर किसी वृक्ष-तले सोता और बैठता है तथा गुदड़ी भी न मिले तो पेड़ों के पत्ते या घास आदि बिछाकर पड़ा रहता है।

उसका कोई स्वजन, संबंधी, मित्र या अपना कहने वाला भी नहीं होता, परिवार के नाम पर केवल उसका शरीर ही अपना होता है और उसी के भार को वह किसी तरह ढोता रहता है। किन्तु कवि कहता है कि ऐसे व्यक्ति को भी काम

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विषयों की इच्छा नहीं छोड़ती। अतः हे प्रभो ! इन भोगेच्छाओं से डरता हुआ मैं आपकी शरण में आया हूँ।

कहने का अभिप्राय यही है कि जो व्यक्ति दूध घी, मिष्टान्न तथा विकारों को बढ़ाने वाले अन्य पौष्टिक पदार्थ नहीं खाते तथा घास फूस पर सोकर रातें गुजारते हैं, उन्हें भी जब काम-विकार नहीं छोड़ते तो फिर ऐश्वर्य व सुख के प्रचुर साधनों के बीच में रहने वालों की तो बात ही क्या है ?

तपस्वी विश्वामित्र जो वर्षों तपस्या करते रहे थे, अप्सरा मेनका के रूप पर मुग्ध होकर विषयों के शिकार बन गये। पेड़ों के पत्ते और जल पर जीवन टिकाने वाले पराशर ऋषि, जिन्होंने दिन को रात और नदी को रेत में परिणत कर दिया था वे भी काम को वश में नहीं कर सके। इतना ही नहीं, बड़े बड़े देवता भी काम को वश में नहीं कर सके और स्वयं उनसे हार गये।

आत्म-पुराण में लिखा है—

कामेन विजितो ब्रह्मा, कामेन विजितो हरिः।
कामेन विजितः शम्भुः, शक्रः कामेन निर्जितः॥

यानी कामदेव ने ब्रह्मा, विष्णु, शिव और इन्द्र को भी जीत लिया। इसी-लिए सभी धर्म ग्रन्थ उन साधकों को जो संसार से मुक्त होने की अभिलाषा रखते हैं, स्त्रियों के संसर्ग से दूर रहने का आदेश देते हैं। वे तो यहाँ तक कहते हैं कि स्त्री का दर्शन करना भी मुमुक्षु के लिये उचित नहीं है। कहा है—

संभाषयेत् स्त्रियं नैव पूर्वदृष्टांश्च न स्मरेत्।
कथां च वर्जयेत्तासां, नो पश्येल्लिखितामपि॥

श्लोक में कहा गया है—न तो स्त्री के साथ बात करनी चाहिये, न पहले देखी स्त्री को याद करना चाहिये और न ही उसकी चर्चा करनी चाहिये। यहाँ तक कि उसका तो चित्र भी कभी नहीं देखना चाहिये।

कहा जाता है कि एक तपस्वी जीवन भर तपस्या करते-करते वृद्ध हो गया। वह पूर्ण जितेन्द्रिय माना जाता था, और एक मंदिर में अकेला ही रहता था।

संयोगवश एक बार एक सुन्दर युवती उधर से गुजरी। तपस्वी की दृष्टि उस पर पड़ गई और वह मोहित होकर उसके पीछे चल दिया। स्त्री अपने घर पहुँची तब भी दरवाजे पर खड़ा हुआ तपस्वी उससे अपनी इच्छापूर्ति के लिये प्रार्थना करने लगा।

स्त्री को तपस्वी पर बड़ा क्रोध आया और उसने दरवाजा बन्द करना

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

चाहा। ज्योंही उसने जोर से दरवाजा बन्द करने का प्रयत्न किया, तपस्वी ने अन्दर घुसने के लिये अपना सिर अन्दर कर लिया। परिणाम यह हुआ कि मोटे और भारी किवाड़ों के बीच में आकर ऋषि का सिर फट गया और उसी क्षण तपस्वी की मृत्यु हो गई। ऐसे-ऐसे उदाहरणों से ज्ञात होता है कि जीवन भर तपस्या करने वाले वृद्ध और जितेन्द्रिय पुरुष भी जब स्त्रियों को देखकर विकार-ग्रस्त हो जाते हैं तब औरों का तो कहना ही क्या है!

आपदाओं का मूल

संयमी साधक स्त्री को अनेक आपदाओं का मूल मानते हैं। प्राचीन इतिहास को देखने पर पता चलता है कि स्त्रियों के कारण अनेक अनर्थ घटते रहे हैं।

स्त्री के कारण ही महाभारत हुआ। राजा बालि भी स्त्री के कारण मारा गया। रावण का सर्वनाश हुआ और नहुष को स्वर्ग से गिरना पड़ा। शिशुपाल का सिर स्त्री के कारण ही काटा गया और नूरजहाँ के कारण शेरे-अफगान को मरना पड़ा।

स्पष्ट है कि स्त्री अनेक अनर्थों का कारण बनती है इसलिये भगवान साधक को उनके संसर्ग से दूर रहने का आदेश देते हैं। इस विषय में दूसरी गाथा इस प्रकार है—

एवमादाय मेहावी, पङ्कभूयाओ इत्थिओ।
नो ताहिं विणिहन्नेज्जा चरेज्जऽत्तगवेसए॥

—उत्तराध्ययन सूत्र. अ. २. गा. १७

अर्थात् मेधावी पुरुष स्त्रियों को कीचड़ के समान मानकर उनके द्वारा अपने आपको हनन न करे, अपितु आत्मगवेषी बनकर दृढ़तापूर्वक अपने संयम-मार्ग में ही विचरण करे।

दृढ़तापूर्वक साधना पथ पर चलने के लिये साधु को स्त्रियों से दूर रहना तथा साध्वियों को पुरुषों के संसर्ग से बचना चाहिये। क्योंकि संसर्ग में रहने से विचारों के विकृत होने का भय रहता है। भगवान ने साधु-साध्वियों के लिये पूर्ण ब्रह्मचर्य के पालन का आदेश दिया है और इसके लिये नौ उपाय भी बताए हैं। इन उपायों को शास्त्र की भाषा में 'बाड़' कहा गया है। बाड़ कहते हैं, रोकने वाले को। लोग अपने बाग-बगीचों और खेतों के चारों ओर बाड़े लगाते हैं ताकि कोई पशु या चोर व्यक्ति उनके अन्दर घुसकर पेड़-पौधों और फसलों को हानि न पहुंचा सके। काँटों की बाड़ होने से ऐसे प्राणी अन्दर आने से रोक दिये जाते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ब्रह्मचर्य भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण वस्तु है और इसलिये उसकी रक्षा के निमित्त नौ बाड़ें मानी गई हैं, जिनका पालन करने से शीलव्रत की सुरक्षा हो सकती है। आप सोचेंगे, शील की रक्षा के लिये नौ बाड़ों की क्या आवश्यकता है ? क्या एक-दो से उसकी रक्षा नहीं हो सकती ?

इसका उत्तर इस प्रकार दिया जा सकता है कि इस संसार में जो वस्तु जितनी अधिक मूल्यवान मानी जाती है, उसकी सुरक्षा के लिये उतना ही अधिक प्रयत्न किया जाता है।

आप लोग अपने घर में वस्त्र या बर्तन-भांड़े बाहर का एक ताला लगाकर भी छोड़ देते हैं, किन्तु सोने, चांदी, हीरे, पन्नों के आभूषणों को इस प्रकार नहीं रखते। उन्हें तो हवेली के सब कमरों से अन्दर वाले कमरे में या और भी नीचे तहखाने में तथा ऊपर से तिजोरी में बन्द करके रखते हैं। अब बताइये ? आपके बहुमूल्य रत्नों को कितने कमरे पार करके और फिर तिजोरी खोलकर निकाला जायगा। क्या कभी तिजोरी को आप अपने घर के बाहर वाले बरामदे में रखते हैं ? नहीं, क्यों नहीं रखते ? एक बड़ा मजबूत ताला तो उसमें लगा हुआ ही होता है। वह एक ताला क्या आभूषणों की रक्षा के लिये काफी नहीं होता ? फिर क्यों एक के बाद एक इस प्रकार कई कमरों के अन्दर उसे ले जाकर रखते हैं ? इसलिये ही तो कि उसमें बहुमूल्य वस्तुएँ रहती हैं।

इसी प्रकार ब्रह्मचर्य को भी सर्वाधिक मूल्यवान माना गया है अतः उसके लिये नौ बाड़ें अथवा उसकी रक्षा के लिये नौ उपाय बताए गए हैं। उन्हें भी मैं संक्षिप्त में आपको बताये दे रहा हूँ।

(१) पहला उपाय या पहली बाड़ ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले साधक के लिये यह है कि जहाँ पर स्त्री अकेली रहती हो, नपुंसक रहता हो या पशु बाँधे जाते हों वहाँ पर साधु कभी न ठहरे। इनके समीप रहने से चित्त में चंचलता बढ़ती है और विकार जागृत होते हैं। कहा भी है —

विलीयते घृतं यद्वदग्नेः संसर्गतस्तथा।
नारी संसर्गतः पुंसो, धैर्यं नश्यति सर्वथा॥

जिस प्रकार अग्नि के संपर्क से घी पिघल जाता है, उसी प्रकार स्त्री के संपर्क से पुरुष का धैर्य नष्ट हो जाता है।

(२) दूसरी बाड़ यह है कि साधु स्त्री संबंधी कथा-वार्ता न करे। नारी सम्बन्धी कथाएँ पढ़ने से और उनसे सम्बन्धित वार्तालाप करने से भी चित्त अस्थिर हो जाता है। हम देखते हैं कि जहाँ चार व्यक्ति किसी विषय को लेकर बातें प्रारम्भ

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

करते हैं तो बाल की खाल निकाल डालते हैं। इसी प्रकार जब स्त्रियों से सम्बन्धित वार्तालाप प्रारम्भ होगा तो भारत की तो क्या अन्य देशों की स्त्रियों के भी रूप-रंग, कद, वेष-भूषा, चाल-चलन तथा खान-पान आदि सभी के बारे में बातें चल पड़ेंगी। स्पष्ट है कि साधक को उससे क्या लेना है ? वह नारियों से सम्बन्धित बातें पढ़ने और बोलने के प्रपंच में पड़े ही क्यों ?

(३) अब तीसरी बाड़ बताई है कि स्त्री, पुरुष के आसन पर और पुरुष स्त्री, के आसन पर न बैठे। इसके अलावा जहाँ स्त्रियाँ बैठी हों वहाँ साधु दो घंटों से पहले न बैठे और जहाँ पुरुष बैठे हों वहाँ साध्वियां दो घंटे से पहले न बैठें।

(४) चौथी बात यह है कि साधक कभी स्त्री के अंगोपांगों को निरखे नहीं। वह कभी यह विचार न करे कि अमुक स्त्री का मुँह, हाथ या पैर आदि अंग सुन्दर और सुडौल हैं। यहाँ तक कि स्त्री के चित्र को भी वह इस दृष्टि से न देखे।

महात्मा कबीर ने कहा भी है—

नारी निरख न देखिये, निरखि न कीजे दौर।
देखत ही तें विष चढ़े, मन आवे कछु और॥
सब तोने की सुन्दरी, आवे वास-सुवास।
जो जननी हो आपनी, तो हु न बैठे पास॥

कबीर जी का कहना है कि नारी का संपर्क महान् पापों का भागी बनाता है अतः मुक्ति के अभिलाषी को चाहिये कि वह नारी की ओर दृष्टिपात न करे। क्योंकि उसे देखने पर भी मन में विषय-विकारों का जागृत होना सम्भव है। वे तो यहाँ तक कहते हैं कि साधकों को अपनी माता के समीप भी नहीं बैठना चाहिये। माँ के समीप बैठने पर और उसके शरीर को देखने पर उन्हें अन्य नारी के संसर्ग की इच्छा हो सकती है।

(५) अब पाँचवीं बाड़ के विषय में बताते हैं। इस विषय में साधु को चेतावनी दी गई है कि वह ऐसे स्थान पर न रहे जहाँ रोशनदान तथा खिड़की आदि वाली दीवार हो या दीवार के स्थान पर घास-फूस या चटाई की आड़ की गई हो और उसके दूसरी तरफ कोई परिवार रहता हो।

ऐसी दीवार या आड़ का निषेध इसलिये किया गया है कि उसके दूसरी तरफ सांसारिक बातें होंगी और उनकी आवाज साधक के कानों तक पहुँचेगी। दुनियादारी की और विकार बढ़ाने वाली बातें अगर साधु सुनेगा तो उसकी साधना में बाधा आएगी और मन विकारग्रस्त हो जाएगा।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

(६) छठी बाड़ साधु के लिये यह बताई गई है कि वह पूर्वकृत काम-भोगों का स्मरण न करे। आप जानते हैं कि सभी संत बाल ब्रह्मचारी नहीं होते। अनेक साधु साल दो साल, पांच-दस साल या इससे भी अधिक वर्ष तक गृहस्थ रहकर फिर साधु बनते हैं। उनके लिये ही कहा है कि वे पूर्व में भोगे हुए ऐशोआराम का चिन्तन-स्मरण न करें। पत्नी के सहवास के प्रसंगों को भी याद न करें। क्योंकि भोगों का स्मरण करने से भी मन उन्हें पुनः भोगने की इच्छा कर सकता है।

(७) अब सातवीं बाड़ आती है। इसे समझाने के लिये कहते हैं—साधु सरस आहार न करे। प्रतिदिन सरस आहार करने से विकारों को प्रोत्साहन मिलता है। आपने सुना ही होगा—

जैसा खावे अन्न वैसा होवे मन।
जैसा पीवे पानी वैसी होवे वाणी॥

इस लोकोक्ति में से हमें यही जान लेना है कि मनुष्य जैसा भोजन करेगा, वैसा ही उसका मन बन जाएगा। अनेक व्यक्ति मांस, मदिरा तथा अण्डे आदि खाते हैं। ऐसे तामसिक भोजन को ग्रहण करने वाले कभी भी अपने विचार शुद्ध नहीं रख सकते तथा उनके जीवन में कभी आत्म-कल्याण की भावनाएँ और संसार से विरक्त होने की इच्छाएँ जागृत नहीं होतीं। अतः साधु को तो रूखा-सूखा और सात्विक आहार ही करना चाहिये। ऐसे आहार से विकारों को प्रोत्साहन नहीं मिलेगा तथा ब्रह्मचर्य की रक्षा होगी।

(८) अब आठवीं बाड़ के विषय में जानना है। अभी-अभी मैंने बताया है कि जो साधु सातवीं बाड़ का ध्यान रखता हुआ सरस आहार नहीं करता उसे यह भी जानना चाहिये कि रूखा-सूखा और नीरस आहार भी ठूँस-ठूँस कर भूख से ज्यादा नहीं खाना चाहिये।

कम खाने से प्रथम तो स्वास्थ्य ठीक रहता है, पेट खराब नहीं होता और दूसरे आलस्य शरीर को निष्क्रिय नहीं बनाता। आप सभी को अनुभव होगा कि जब भी खाना भूख से अधिक खाया जाता है तो फिर आलस्य आता है और सो जाने की इच्छा होती है। घंटों आप सोये भी रहते हैं। किंतु साधु अगर प्रमाद में पड़कर घंटों सोया पड़ा रहे तो उसकी साधना में बाधा आएगी या नहीं? अवश्य आएगी। इसलिये उसे कभी अधिक आहार नहीं लेना चाहिये, साथ ही यथाशक्य एकासन, उपवास, आयंबिल आदि करने चाहिये जिससे इन्द्रिय निग्रह हो सके।

हकीम लुकमान कह गए हैं—

कम खाओ, गम खाओ और नम जाओ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तीनों बातें गागर में सागर के समान हैं। अगर व्यक्ति इन्हें ग्रहण करले तो उसे संसार में कोई कष्ट ही महसूस न हो।

शरीर को स्वस्थ और मन को शांत रखने के लिये व्यक्ति को कम खाना चाहिये। और जब कलह की संभावना दिखे तथा सामने वाला व्यक्ति अत्यधिक आवेश में आजाय तो उसे भान भूला हुआ मानकर स्वयं ही गम खा लेना चाहिये अर्थात् शांत और चुप हो जाना चाहिये, इससे कभी झगड़ा बढ़ेगा नहीं। आखिर एक ही व्यक्ति कब तक बोलता रहेगा? तीसरी बात है नम जाना चाहिये। यह भी यथार्थ है। सदा अहंकार से गर्दन उठाए घूमने पर लोग अच्छा नहीं कहेंगे। थोड़ा सा धन इकट्ठा करके भी लोग गर्व से फूल जाते हैं। इससे उनकी कोई तारीफ नहीं करता। धनाढ्य व्यक्तियों को तो और भी सरल एवं नम्रता का व्यवहार सबसे करना चाहिये। आप जानते ही हैं कि आम पकने पर आम्र वृक्ष कितना झुक जाता है। यह उसकी नम्रता है। इसी प्रकार अगर धनी व्यक्ति धन के नशे में चूर न होकर यह समझ ले कि यह धन तो आज है कल नहीं, तो उसे गर्व करने की जरूरत ही न रहे। इसके अलावा वह यह भी जान ले कि अगर यह धन बना भी रहा तो क्या? एक दिन इसे छोड़ कर मुझे जाना पड़ेगा।

कवि वार्जिद ने भी कहा है—

मंदिर माल बिलास खजाना मेड़ियाँ।
राज भोग सुख साज औ चंचल चेड़ियां॥
रहता पास खवास हमेशा हुजूर में।
ऐसे लाख असंख्य गये मिल धूर में॥

तो बंधुओ, कवि कहता है कि जिनके पास बड़े-बड़े महल, खजाने और मेड़ियाँ थीं तथा विशाल राज्य-भोग और सैकड़ों चंचल चेड़ियां यानी दासियां सेवा-टहल करने के लिये रहती थीं। इतना ही नहीं हर वक्त एक खवास ही उनके समीप हाथ-पैर आदि दबाने के लिये रहा करता था, ऐसे-ऐसे असंख्य व्यक्ति भी जब धूल में मिल गए तो हमारे पास घमण्ड करने के लिये है ही क्या? अतः चाहे पास में कितना ही ऐश्वर्य क्यों न हो जाय व्यक्ति को सदा नम्र बना रहना चाहिये। ऐसा करने पर ही वह जगत में यश प्राप्त करता है।

(६) अब अंतिम या नवीं बाड़ आती है। इसमें कहा गया है कि अगर साधक को ब्रह्मचर्य का पालन करना है तो वह शरीर की शोभा बढ़ाने का प्रयत्न न करे। हमारे बुजुर्ग संतों का तो यह कथन रहा है कि अगर चोलपट्टा नया हो तो चादर पुरानी ओढ़ो। दोनों चीजें नई होना साधुता के लिये ठीक नहीं है। इसी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रकार कपड़े धोना ही नहीं, यह बात नहीं है किन्तु एकदम झकाझक ही सदा रहें यह भावना भी नहीं होनी चाहिये।

तो ये नौ बाड़ें या नौ बातें साधु को सदा ध्यान में रखनी चाहिये, जिससे प्रथम तो उसके आचरण में कहीं दोष न लगे और दूसरे मन विषय-वासनाओं की ओर न जाय। जो साधु इनका भली-भाँति ध्यान रखता है वह अपनी इन्द्रियों पर पूर्ण रूप से विजय प्राप्त कर सकता है। स्त्री परिषह साधारण नहीं है, इसे जीतने के लिये साधक को पूर्ण दृढ़तापूर्वक अपने साधना-मार्ग पर बढ़ना चाहिये।

विषय-भोगों से प्राप्त होने वाला सुख कैसा है, इस विषय में कहा गया है—

भ्रम के वश में फंस कूकर ज्यों,
रस के हित अस्थि चबावत है।
निज शोणित चाखत मोद भरो,
पर नेक विवेक न लावत है॥
नरहू वनिता तन सेवन ते,
तनिको न कबहुँ सुख पावत है।
निज देह परिश्रम के मिसते,
सुख की शठ भावना भावत है॥

पद्य में बताया गया है कि अज्ञान वश कुत्ता हड्डी को मुँह में डालकर चबाता है। हड्डी उसके तालु में चुभ जाती है और वहाँ से खून निकलने लगता है। उस अपने ही खून को भ्रम के कारण कुत्ता हड्डी में से निकला हुआ खून समझता है और उसे बहुत स्वादिष्ट मानता हुआ पीता जाता है। उसे यह भान भी नहीं होता कि मैं जिस खून को पी रहा हूँ वह हड्डी में से निकला हुआ नहीं है, वरन मेरा ही है और इस प्रकार मेरा ही नुकसान हो रहा है।

ठीक इसी प्रकार कामग्रस्त और स्त्री का सेवन करने वाले व्यक्ति की भी दशा होती है। वह भी नारी के संसर्ग से यह मानता है कि मैं सुख की प्राप्ति कर रहा हूँ। किन्तु विवेक के अभाव में वह यह नहीं सोचता कि जिसे मैं सुख मान रहा हूं, वह मेरे ही शरीर को शक्तिहीन करने जा रहा है।

मेरे कहने का आशय यह है कि ब्रह्मचर्य का पालन करना प्रत्येक साधक के लिये आवश्यक है। हम साधुओं के लिये तो अब्रह्मचर्य का सर्वथा निषेध है ही, किंतु

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आप श्रावकों के लिये भी स्वदार-संतोष की मर्यादा है। और उसमें भी अधिक से अधिक दिन एवं मुख्य तिथियों को तो नियम रखना ही चाहिये।

अनेक श्रावक आज ही ऐसे हैं जो सपत्नीक होते हुए भी तीस,पैंतीस और चालीस की उम्र से पहले ही पूर्ण ब्रह्मचर्य का नियम ले चुके हैं। मैं उन्हें धन्यवाद का पात्र मानता हूं कि घर में पत्नी के साथ रहते हुए भी वे ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं।

तो हमारा आज का विषय 'स्त्री परिषह' पर चला है और इसमें बताया है कि साधु स्त्री के संसर्ग से हमेशा दूर रहे और अभी बताए हुए नौ उपायों को सदा ध्यान में रखता हुआ अपने मन को कभी भी विकारग्रस्त न होने दे। ऐसा करने पर ही वह पूर्ण शांति एवं संयम पूर्वक संवर के मार्ग पर चल सकता है तथा अपने आत्म-कल्याण के उद्देश्य को सफल बना सकता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

२७ तीन लोक की सम्पदा रही शील में आन

धर्मप्रेमी बंधुओ, माताओ एवं बहनो !

कल हमने बाईस परिषहों में से आठवें परिषह 'स्त्री परिषह' के विषय में विचार-विमर्श किया था। इस विषय में बताया गया था कि साधु को स्त्री जाति से बचना चाहिए। जहाँ तक भी संभव हो उसे स्त्रियों के सम्पर्क, उनके दर्शन, उनसे वार्तालाप और उनके सम्बन्ध में पठन-पाठन सभी से परे रहना चाहिये। तभी वह दृढ़तापूर्वक अपने साधना-मार्ग पर बढ़ सकेगा और विषय-विकार उसके मन में उत्पन्न होकर बाधक नहीं बनेंगे।

आप भी ध्यान दें !

ये सब बातें साधु के लिये और साधना करने वाली सम्पूर्ण पुरुष जाति के लिये भी हैं। आप लोग यह न समझ लें कि साधु को ही इनका पालन करना आवश्यक है। आप श्रावक हैं, जैन हैं और इस संसार की असारता को समझते हैं। आप संतों के द्वारा यह भी सुनते आ रहे हैं कि प्रत्येक जीव कर्मों से बंधा हुआ इस संसार में भ्रमण कर रहा है और उसका कल्याण संसार से मुक्त होने में ही है। इस प्रकार हमारी और आपकी, सभी आत्माएँ इस संसार में अनन्त काल से जन्म और मरण के दुख भोगती चली आ रही हैं तथा इन्हें कर्मों से मुक्त करके अनन्त सुख की प्राप्ति कराना हमारा और आपका भी कर्तव्य तथा मुख्य उद्देश्य है।

इस प्रकार आप भी इसी मार्ग के पथिक हैं जिस पर हम चल रहे हैं। यह ठीक है कि आपकी गति धीमी है और मन से इस मार्ग की सराहना करते हुए भी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अपने व्यवहारों और क्रियाओं से इस पर बराबर चल नहीं पा रहे हैं। किन्तु आप कब तक लापरवाही करेंगे ? जबकि आप भी अपनी आत्मा को इस संसार से छुटकारा दिलाना चाहते हैं तो निश्चय ही आपको साधना का मार्ग अपनाना होगा और इस पर चलना पड़ेगा।

इसलिये धर्माराधन, साधना और परिषह विजय, इन सभी को साधुओं का कार्य कहकर आप बच नहीं सकते। भले ही साधुओं के समान अभी आप दृढ़ न रह सकें, आरम्भ-समारम्भ का पूर्णतया त्याग न कर सकें तथा संक्षेप में कहा जाय तो पाँचों महाव्रतों का पालन न कर सकें तो भी श्रावक के पालन करने योग्य एकदेशीय अर्थात् थोड़े अंशों में तो आपको भी व्रतों का पालन करना ही चाहिये। और इसीलिए आपको एकदेश मर्यादा की दृष्टि से स्वस्त्री-संतोष एवं परस्त्री के त्याग का पालन करना चाहिये।

कोई शंका करेगा कि इसके लिये व्रत क्यों ? उत्तर यही है कि व्रतों को ग्रहण करने से मन में दृढ़ता आती है और जीवन श्रेष्ठ बनता है। अगर व्यक्ति किसी एक नियम को ग्रहण कर लेता है तो वह धीरे-धीरे अन्य व्रतों को भी ग्रहण करता हुआ अपने आप पर नियंत्रण रखने में समर्थ बनता है।

श्री उत्तराध्ययन सूत्र में कहा भी है—

अप्पा चेव दमेयव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो।
अप्पा दंतो सुही होई, अस्सिलोए परत्थ य॥

—अध्ययन १, गा० १५

अर्थात् अपने-आप पर नियन्त्रण रखना चाहिये। अपने आप पर नियन्त्रण रखना वस्तुतः कठिन है किन्तु ऐसा करने वाला ही इस लोक और परलोक में सुखी बनता है।

कहने का अभिप्राय यही है कि शाश्वत सुख की आकांक्षा रखने वाले को अपने आप पर पूर्ण नियन्त्रण रखना होगा और अपने आप पर नियन्त्रण तभी हो सकेगा जबकि मनुष्य व्रतों को ग्रहण करता जाएगा तथा त्याग की ओर अधिक से अधिक बढ़ेगा।

तो अभी हमारा विषय 'स्त्री परिषह' पर कल से चल रहा है। इस संबंध में मुझे यह और कहना है कि जिस प्रकार साधु को स्त्री जाति से परे रहना चाहिये, उसी प्रकार साध्वी को भी पुरुष जाति से सम्पर्क नहीं रखना चाहिये तथा इसी परिषह को अपने लिये 'पुरुष परिषह' मानना चाहिये।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दोनों समान हैं

अनेक व्यक्तियों का और महापुरुषों का कथन है कि स्त्री पुरुष को बिगाड़ देती है, अथवा पतन की ओर ले जाती है। कबीर ने तो यहाँ तक कहा है—

कामिनि काली नागिनी, तीनों लोक मँझारि।
नाम-सनेही ऊबरे, विषिया खाये झारि॥

अर्थात्—तीनों लोकों में देखा जाय तो नारी काली नागिन के सदृश है। इसके दंश से केवल भगवान का नाम जपने वाले ही बचे हैं, विषय-भोगियों को तो वह एकदम से खा गई। किसी को भी उसने नहीं छोड़ा है।

पर बंधुओ, नारी जाति के प्रति ऐसी हीन भावना रखना निश्चित रूप से गलत है और भ्रम-मात्र है। यद्यपि ऐसी ही बातें राजा भर्तृहरि और संत तुलसीदास आदि ने भी लिखी हैं, किन्तु इनमें मुख्य रूप से उनका पुरुषों के प्रति पक्षपात है और इन बातों को कोई गंभीर विचारक अपने गले से नहीं उतार सकता।

जैसा कि हमारे शास्त्र कहते हैं—काम-विकार या उसका प्रलोभन संसार के अन्य समस्त प्रलोभनों से प्रबल है, यह सत्य है। किन्तु इसमें दोष उस विकार का है न कि सम्पूर्ण रूप से स्त्री जाति का, अगर भोगेच्छा प्राणियों को पतन की ओर अग्रसर करती है तो उसमें पुरुष व स्त्री दोनों ही समान रूप से भागीदार होते हैं।

अन्यथा हम तो देखते हैं कि दुर्व्यसनों को पुरुष जितने शीघ्र और अधिक संख्या में अपनाते हैं, स्त्रियाँ उन्हें ग्रहण नहीं करतीं। बाल-विधवा होकर नारी अपना सम्पूर्ण जीवन ब्रह्मचर्य की रक्षा करते हुए बिता देती है, पर पुरुष ऐसा नहीं कर पाते। वे स्त्री के मरते ही दूसरी, तीसरी और बुढ़ापे तक चौथी शादी करने में नहीं हिचकिचाते। क्या इससे स्पष्ट नहीं होता कि पुरुष का मन विकारी ज्यादा है या स्त्री का ?

हमारा इतिहास तो बताता है कि अनेकों सती नारियाँ पुरुषों को भी ठिकाने पर लाई हैं। सती राजीमती की कथा आप जानते ही हैं कि जब उसका देवर मुनि रथनेमि राजुल से आकर्षित हुआ और उसने अपना प्रणय निवेदन किया तो किस प्रकार राजीमती उसे पुनः मार्ग पर लाई ? चन्दनबाला की माता रानी धारिणी अपने सतीत्व की रक्षा के लिये जिह्वा खींचकर इस लोक से ही प्रस्थान कर गई। इसी प्रकार सती सुभद्रा, सीता, चंदनबाला आदि अनेकों सतियाँ इस धरती पर हुई हैं और आज भी हैं। कहने का सारांश यही है कि नारी-जाति की निंदा करना अनुचित

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

है। नारियों के बल पर ही आज धर्म टिका हुआ है और उन्होंने संसार को अनेकों अमूल्य रत्न दिये हैं।

गाँधी जी की माता ने उनमें ऐसे संस्कार डाले थे कि आज संसार के समस्त देश उन्हें आदर और सम्मान देते हैं। क्योंकि अहिंसा के बल पर ही उन्होंने भारत को आजाद करा दिया था और अहिंसा, सत्य एवं संयम का महत्व उन्होंने अपने जीवन में उतारा था। जीजाबाई ने शिवाजी में शूरवीरता इस प्रकार कूट-कूटकर भर दी थी कि उन्होंने मुगलों को नाकों चने चबवा दिये। इसीप्रकार अनेकों उदाहरण हैं किन्तु उन्हें कहने का अधिक समय नहीं है।

कहना यही है कि नारी अपने आपमें एक पवित्र ज्योति है जो अपने पति को, पुत्र को व परिवार के सभी प्राणियों को मार्ग-दर्शन कर सकती है।

एक पाश्चात्य विद्वान 'लावेल' ने कहा है—

'Earth's noblest thing a woman perfected.'

—साध्वी स्त्री संसार की सर्वोत्तम वस्तु है।

आचार्य मनु तो यहाँ तक कहते हैं—

'यत्र नार्यस्तु पूज्यते, रमन्ते तत्र देवताः।'

—जिस घर में स्त्रियों की पूजा होती है उस घर में देवता अवश्यमेव रमण करते है।

वस्तुतः जिस घर में सद्गुण सम्पन्न नारी सुखपूर्वक निवास करती है वहाँ लक्ष्मी रहती है तथा सदैव शांति का वातावरण रहता है।

अब नहीं जाऊँगी

कहते हैं कि एक सेठ को एक दिन स्वप्न में लक्ष्मी ने आकर कहा—"मैं कल से तुम्हारा घर छोड़ रही हूँ, इसका क्या प्रभाव तुम्हारे परिवार पर पड़ेगा यह कल इसी समय रात्रि को मुझे बताना।"

बेचारे सेठजी घबरा गये और जब वे सुबह उठे तो अत्यन्त चिन्तित और गमगीन थे। न उन्होंने प्रातःकाल नाश्ता किया और न ही भरपेट भोजन कर सके।

यह देखकर उनकी पत्नी, चारों पुत्र और पुत्रवधुएँ, सभी बड़े हैरान हुए। वे सोचने लगे—सेठजी की उदासी का ऐसा कौन सा कारण हो सकता है! सभी कुछ तो यथावत है, व्यापार आदि के घाटे की भी सूचना नहीं है। फिर आखिर बात क्या है?

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सेठ के बड़े पुत्र ने आखिर उनसे पूछा—"पिताजी ! आज आप इतने उदास और परेशान क्यों हैं ? लगता है एक रात्रि में ही आप बदल गए हैं ? क्या स्वास्थ्य संबंधी कोई तकलीफ है आपको ?"

सेठजी यद्यपि किसी से कुछ कहना नहीं चाहते थे। क्योंकि लक्ष्मी के लोप होने जैसी दुखद सूचना देकर परिवार के व्यक्तियों को अभी ही चिन्ता में डालना वे ठीक नहीं समझते थे। दूसरे वे सोचते थे कि अपार धन होने के कारण सभी को सुख-पूर्वक रहने के साधन मिले हुए हैं, और किसी प्रकार की कमी न होने से ही सारा परिवार ठीक रह रहा है, पर लक्ष्मी के जाने की सूचना पाते ही या जाते ही घर में सब एक-दूसरे से कलह करेंगे और सम्भव है सभी पुत्र अपनी-अपनी पत्नियों को लेकर अलग हो जायें।

यही सब विचार उन्हें परेशान कर रहे थे और उनके कारण वे मानसिक अशान्ति का शिकार बने हुए थे। किन्तु जब पुत्र ने पूछ ही लिया तो वे अपने आपको रोक न सके और लक्ष्मी की बात को उन्होंने ज्यों का त्यों अपने पुत्रों, पुत्र-वधुओं और पत्नी के समक्ष कह दिया।

सेठ जी की बात सुनकर एक बार तो वे सब काठ के समान स्तब्ध रह गये और कुछ उत्तर नहीं दे पाये, किन्तु जब सेठ जी ने पूछा कि—"आज मैं लक्ष्मी की बात का क्या उत्तर दूं यह बताओ ?" तो वे लोग प्रकृतिस्थ हुए और सोचने लगे कि क्या कहा जाय, यानी लक्ष्मी के न होने पर परिवार पर क्या प्रभाव पड़ेगा, इस विषय में क्या उत्तर दिया जाय।

आश्चर्य की बात थी कि लक्ष्मी की बात का उत्तर किसी की भी समझ में नहीं आया और वे सब एक-दूसरे का मुंह देखने लगे। किन्तु सेठजी की सबसे छोटी पुत्रवधू बड़ी बुद्धिमती थी। उसने अपने ससुर के कहा—"पिताजी ! आप लक्ष्मी से कह दीजियेगा कि तुम्हारे चले जाने पर भी हमारे परिवार पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। क्योंकि धन तो आज होता है और कल नहीं। इसमें आश्चर्य और दुःख की क्या बात है ? दूसरे, आप यह कहियेगा कि मेरे परिवार के सभी सदस्य एक दूसरे पर जान देते हैं अतः लक्ष्मी के न होने पर भी सब मिल जुलकर परिश्रम करेंगे और सूखी रोटी भी आपस में बांट कर प्रसन्नता से खाएंगे।

पुत्रवधू की बात सुनकर सेठ जी बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने देखा कि अन्य सब व्यक्ति भी असीम हर्ष सहित उसकी बात का समर्थन कर रहे हैं। यह देखकर उनके हृदय पर से बोझ हट गया और वे लक्ष्मी के प्रश्न का उत्तर देने के लिए तैयार हो गये।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ठीक अर्धरात्रि के समय लक्ष्मी पुनः सेठजी के स्वप्न में आई। उत्तर तो तैयार ही था अतः बिना झिझक के उन्होंने वही बात कह दी जो दिन को कहना तय हुआ था।

लक्ष्मी यह सुनकर अवाक रह गई। वह तो सोच रही थी कि सेठ रोएगा, गिड़गिड़ाएगा और परिवार के भूखों मर जाने की आशंका व्यक्त करेगा। किन्तु यह सब कुछ नहीं हुआ, उलटे निश्चितता पूर्वक सेठ जी ने अन्त में कह दिया—"तुम रहो तो प्रसन्नता की बात है पर नहीं ही रहना चाहती हो तो ठीक है, जाओ ?"

अन्त में लक्ष्मी ने कहा—"सेठ जी ! मैं तुम्हारे यहाँ से जाना चाहती थी किन्तु तुम्हारे घर के सब व्यक्तियों में इतना संगठन है, प्रेम है कि मैं अब जा नहीं सकती।"

कहने का अभिप्राय यही है कि सती-साध्वी एवं सुलक्षणा नारियाँ ही घर में लक्ष्मी को टिकाती हैं। वे समय-समय पर अपने पति को सच्ची सीख देने से भी नहीं चूकतीं।

श्रीपाल और मैनासुन्दरी की कथा में आता है कि जब श्रीपाल परदेश जाने लगते हैं तो प्रथम तो मैनासुन्दरी साथ चलने की इच्छा व्यक्त करती है, किन्तु श्रीपाल के यह कहने पर कि वहाँ मेरे रहने का भी ठिकाना नहीं होगा तो तुम्हें कहाँ रखूँगा, वह साथ चलने की जिद छोड़ देती है पर पति को जाते समय यह जरूर कहती है—

बरस सोलह से ऊपर नार से बातें नहीं करना।
जब आँखें चार होती हैं मोहब्बत हो ही जाती है॥

बात मनोरंजक ढंग से कही गई है पर उसमें 'स्वदारसंतोष' के व्रत की याद दिलाते हुए शिक्षा भी दी है कि अपने व्रत को भंग मत करना।

मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र जी ने अपने वनगमन के समय भरत को भी यही सीख दी थी—

"परस्त्री मात सम जानी, कभी मोहब्बत में मत फँसना,
लोभ को त्याग पर-धन में, भंग मरजाद मत कीजे,
कहे श्रीराम भरत ताईं कि भैया बात सुन लीजे।

रामचन्द्र जी की नसीहत थी कि—"भाई भरत ! मैं तो वन-वास करने जा रहा हूं पर तुम मेरी दो बातों को कभी मत भूलना। एक तो परस्त्री को सदा माता के समान समझना, दूसरे कभी पराये धन के लिये लोभ मत करना। इस प्रकार अपनी मर्यादा में रहना, उसे भंग मत करना।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

एक कवि ने इसी विषय में और कहा है—

"माता बहिन व कन्या समझूँ पराई नारी।
समभाव सब को देखूँ ऐसी प्रभु नजर दो।
भगवन ! दया की दृष्टि अब तुक इधर भी कर दो।

कवि का कहना है—अपनी पत्नी के अलावा संसार की स्त्रियों में से जो बुजुर्ग हैं उन्हें मैं माता के समान, मेरी समकक्ष उम्र की हैं उन्हें बहन की तरह और छोटी लड़कियों को मैं अपनी पुत्री के समान समझ सकूँ, हे प्रभो ! मेरी दृष्टि ऐसी ही बना दो। आपकी कृपा से यह हो सकेगा अतः मेरी ओर अपनी कृपादृष्टि फेरो।

कवि ने जैसी भावना व्यक्त की है, उसके अनुसार दृष्टि हो जाने पर फिर किसी व्यक्ति का मन अन्य स्त्री को देखकर विकारग्रस्त नहीं होगा।

कहा जाता है कि एक बार जोधपुर के राजा तखतसिंह जी ने किसी संत से पूछा—"आप लोगों की सेवा में यानी आप लोगों के दर्शनार्थ अनेक स्त्रियाँ आती हैं, तो उनके बहुमूल्य वस्त्राभूषणों से सज्जित सौन्दर्य को देखकर आप अपने दिल पर कैसे काबू रख पाते हैं ?"

संत ने कहा—"महाराज ! क्या आपकी बहन जब आपको राखी बाँधती है, उस समय आपके मन में उसे देखकर विकार उत्पन्न होता है ?"

"नहीं !" राजा ने उत्तर दिया।

"बस, इसी प्रकार संत सब स्त्रियों को अपनी बहन समझते हैं। इसलिये उन्हें देखकर भी उनके मन में विकार पैदा नहीं होता।"

संत की बात सुनकर राजा को निरुत्तर हो जाना पड़ा। सत्य भी यही है कि विकार भावनाओं से जागता है अतः साधक ईश्वर से यही प्रार्थना करता है कि मेरी दृष्टि में कभी विकार न आए।

संत तुकाराम जी मराठी भाषा में कहते हैं—

"पापाची वासना नको माझ्या डोला, त्याहूनि आंधला बरामीच।"

भक्त कहता है—हे प्रभो, मेरे हृदय में कभी भी पापपूर्ण भावनाएँ न आएँ। और अगर कभी मेरी दृष्टि में पाप आने लगे तो मुझे अन्धा ही कर देना।

वास्तव में ही भोगेच्छाओं पर विजय प्राप्त करना तथा ब्रह्मचर्य का पालन करना अत्यन्त श्रेष्ठ है। शीलव्रत के पालन से मानव की शारीरिक, मानसिक, वाचिक एवं आध्यात्मिक उन्नति होती है। भोग वास्तव में कर्मबन्ध के कारण हैं। भोगों का मूल भोग भोगने की अभिलाषा है। यहीं से कर्म बँधने प्रारंभ हो जाते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भोगों की इच्छा करने पर रागजनित कर्मों का बंध होता है। उसके पश्चात् जब वह भोगों के साधन संचित करने के लिये प्रयत्न करता है तो नाना प्रकार के आरंभ— समारंभ करने पड़ते हैं, उससे कर्म बंधते हैं। इतना करने पर भी अगर भोग-सामग्री प्राप्त न हुई तो पश्चात्ताप, खेद आदि से कर्म बधन होता है और अगर प्राप्त हो गई तब तो फिर कमी ही क्या रह जाती है? मनुष्य भोगों में इतना आसक्त हो जाता है कि जीवन के उद्देश्य का उसे स्मरण ही नहीं आता तथा रात-दिन भोगों में डूबे रहकर कर्म बांधता रहता है।

किन्तु इसके विपरीत जो शीलधर्म का पालन करता है वह अनेक प्रकार का लाभ उठाते हुए अन्त में अपने जीवन के उद्देश्य को प्राप्त कर लेता है।

शील की महिमा बताते हुए एक स्थान पर कहा है—

शीलं प्राणभृतां कुलोदयकरं शीलं वपुर्भूषणम्।
शीलं शौचकरं विपद्भयहरं दौर्गत्यदुःखापहम्॥
शीलं दुर्भगतादिकन्दहनं चिन्तामणिप्रार्थिते।
व्याघ्रव्यालजलानलादिशमनं स्वर्गापवर्गप्रदम्॥

अर्थात्-शील मनुष्यों के कुल की उन्नति करने वाला है क्योंकि शीलवान के कुल की कीर्ति बढ़ती है तथा श्री वृद्धि होती है। शील मनुष्य के शरीर का भूषण है क्योंकि उसके पालन से शरीर ओजस्वी, आभायुक्त और सुन्दर बनता है। शील से अन्तःकरण पवित्र बनता है, इससे विपत्ति और भय का अभाव हो जाता है। शील दुर्गति के दुखों का निवारण करता है तथा दुर्भाग्य को मूल सहित दूर कर देता है। शील इष्ट की प्राप्ति के लिये चिन्तामणि के समान है क्योंकि उसके समस्त मनोरथ सिद्ध हो जाते हैं।

शील के प्रखर प्रताप से व्याघ्र, सर्प, जल और अग्नि आदि की समस्त बाधाएं दूर हो जाती हैं। इसके अलावा इन लौकिक लाभों के अतिरिक्त शील से स्वर्ग और मोक्ष की भी प्राप्ति होती है। अगर शील पवित्र है तो उसका धारी व्यक्ति नीच गति में नहीं जाता। यदि कर्म बंध न हो तो मोक्ष और कर्म बाकी रहने पर स्वर्ग तो प्राप्त होगा ही।

तो बंधुओ, शीलव्रत का पालन करना मुमुक्षु के लिये आवश्यक है। और इसके लिये यह भी आवश्यक है कि मुमुक्षु पुरुष जाति में से हो तो वह स्त्रियों से कम संपर्क रखे और स्त्री जाति में से हो तो वह पुरुष के संसर्ग में कम आए। यह नियम दोनों के लिये समान है और दोनों के लिए समान रूप से महत्त्व-पूर्ण है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

क्योंकि पुरुषों में भी अच्छे और बुरे व्यक्ति होते हैं और स्त्रियों में भी यही बात लागू होती। दोनों के एक-दूसरे के अधिक संपर्क में आने से मन में विकार आ सकता है अतः पानी आने से पहले ही पाल बाँधे रखना ठीक है। अन्यथा ब्रह्मचर्य व्रत भंग होते ही अन्य सभी गुण खतरे में पड़ जाएँगे। कहा भी है—

जम्मि य भग्गंमि होइ सहसा सव्वं भग्गं....।
जंमि य आराहियंमि आराहियं वयमिणं सव्वं ॥

—प्रश्नव्याकरण २/४

—एक ब्रह्मचर्य के नष्ट होने पर सहसा अन्य सब गुण नष्ट हो जाते हैं तथा एक ब्रह्मचर्य की आराधना कर लेने पर शील, एवं विनय आदि सभी व्रत आराधित हो जाते हैं।

इसलिए साधु-साध्वियों को जहां अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए, वहां श्रावक एवं श्राविकाओं को भी एकदेशीय व्रत का दृढ़ता से पालन करना चाहिए। तभी 'स्त्री परिषह' और पुरुष परिषह पर विजय प्राप्त की जा सकेगी और ऐसा करना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है। क्योंकि आत्माएँ चाहे साधु की हों या श्रावक की, सभी संसार में भ्रमण कर रही हैं और उन्हें कर्मों से मुक्त होना है। यह तो है नहीं कि केवल साधुओं को ही मोक्ष में जाना है और श्रावकों को नहीं। क्या आप लोग मोक्ष प्राप्ति की अभिलाषा नहीं रखते? यह कार्य केवल साधुओं के लिये ही है क्या? नहीं, आप सब भी यही चाहते हैं कि हम संसार से मुक्त हो जाएँ और यह भी जानते हैं कि साधुओं की या साधकों की आत्मा चाहे जितनी शुद्ध हो जायें और भले ही संसार-मुक्त भी हो जायें पर उससे आपकी आत्मा का कोई भला नहीं हो सकता। आपकी आत्मा का भला तो तभी होगा जबकि आप स्वयं इसके लिये प्रयत्न करेंगे, स्वयं साधना करेंगे और स्वयं ही त्याग एवं नियमों का पालन करके कर्मों की निर्जरा करेंगे।

जिस प्रकार लखपति के पास बैठ जाने से और उसकी बातें सुन लेने से ही कोई लखपति नहीं बन सकता। वह लखपति बनता है तो अपने स्वयं के श्रम और पुरुषार्थ से, इसी प्रकार संतों की संगति कर लेने से, उनके उपदेशों को सुन लेने से या उनकी सराहना करने से आप अपने आत्मा को निर्मल नहीं बना सकेंगे। आपकी आत्मा तभी निर्मल हो सकेगी, जबकि आप स्वयं इसके लिये प्रयत्न करेंगे। और यह तभी होगा जब आप स्वयं जिन वचनों के अनुसार तथा संतों के उपदेशों के द्वारा आत्म-मुक्ति के साधनों को समझकर उन्हें जीवनसात् करेंगे।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

मोह की प्रबलता

साधना के क्षेत्र में बढ़ने से पहले आपको संसार की अनित्यता को हृदय से महसूस करना चाहिए। जब आप भली-भांति विचार कर लेंगे कि इस जगत का प्रत्येक पदार्थ नश्वर है, किसी भी दिन छूट सकता है और न छूटे तो हमें स्वयं ही एक दिन इसे छोड़ना है, तो आपको स्वयं ही इन सबसे विरक्ति हो जाएगी और इन पर से आपका मोह हट जाएगा। मोह-कर्म यद्यपि सभी कर्मों से बलशाली है, किन्तु संसार से विरक्त हो जाने वाला प्राणी इसे कैदखाना मानकर इससे छूटने के लिये महान् विकलता का अनुभव करता है। तथा इस मोह को धिक्कारते हुए इससे छूटने का प्रयत्न करता है।

श्री भर्तृहरि ने अपने एक श्लोक में लिखा है—

अजानन्माहात्म्यं पतति शलभो दीपदहने।
स मीनोऽप्यज्ञानाद्बडिशयुतमश्नातु पिशितम्॥
विजानन्तोऽप्येतान्वयमिह विपज्जालजटिला-
न्नमुञ्चामः कामानहह गहनो मोह महिमा॥

कहते हैं—अज्ञानवश पतंगा दीपक की लौ पर गिरकर स्वयं को भस्म कर लेता है, क्योंकि यह उसके परिणाम को नहीं जानता। इसी तरह मछली कांटे के मांस को मुँह में ग्रहण करके अपने प्राण खोती है क्योंकि वह भी अपने प्राण-नाश के भय को नहीं समझती। परन्तु हम लोग तो अच्छी तरह जानते हैं कि संसार के विषय-भोग विपत्ति के कारण हैं और उनके प्रति रहा हुआ हमारा मोह हमें अनन्त काल तक इस संसार में कैद रखने वाला है, तब भी हम इसका त्याग नहीं करते। मोह की यह महिमा कितनी आश्चर्यजनक है?

इसलिये बंधुओ! जब तक हम इस संसार के पदार्थों से मोह करते रहेंगे और इनसे सुख पाने के लिए इनका पीछा करते रहेंगे, तब तक सच्चा सुख मृग-तृष्णा की भांति हमसे दूर होता जाएगा। और जिस दिन हम संसार के इन सुखों से मुँह मोड़ लेंगे तथा आशा, तृष्णा एवं भोगेच्छाओं का त्याग करके आत्मस्वरूप में रमण करने लगेंगे, उसी दिन सच्ची शांति, सच्चा संतोष एवं सच्चा सुख हमारे कदमों पर बिखर जाएगा। किसी ने कहा भी है—

भागती फिरती थी दुनिया, जब तलब करते थे हम।
अब जो नफरत हमने की तो बेकरार आने को है॥

सारांश यही है कि सुखों की इच्छा रखने से और उन्हीं के लिये प्रयत्न में

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

लगे रहने से वे हमसे दूर रहते हैं यानी प्राप्त नहीं होते। किन्तु जब हम उन्हें पाने का यत्न छोड़ देते हैं तो वह स्वयं ही हमारी आत्मा में निवास करने लगते हैं।

समय हो गया है बंधुओ, अतः अंत में केवल इतना ही कहूँगा कि "हमें संसार के नश्वर सुखों का ध्यान छोड़ देना चाहिये तथा शाश्वत सुख की प्राप्ति के लिये त्याग-नियम और व्रतों को अपना कर उनका दृढ़ता से पालन करना चाहिए। यद्यपि साधना के इस मार्ग में अनेक बाधाएँ और परिषह हमारे सामने आते हैं, किन्तु अगर हमारा मन मजबूत रहेगा तो कोई भी विकार उसे डिगा नहीं सकेगा और प्रत्येक परिषह हमारे समक्ष हथियार डाल देगा। आज हमारा विषय स्त्री परिषह पर ही चल रहा है। यह परिषह यद्यपि सभी परिषहों से प्रबल है, किन्तु हमारा आत्म-विश्वास और दृढ़ता उस पर भी सहज ही विजय प्राप्त कर सकती है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

२८ | साधु तो रमता भला, दाग न लागे कोय

धर्मप्रेमी बंधुओ, माताओं एवं बहनो !

हम संवर के सत्तावन भेदों के विषय में वर्णन कर रहे हैं। इन्हीं में बाईस परीषह भी आते हैं। आठ परिषहों के विषय में हम जानकारी कर चुके हैं और आज नौवें परिषह को लेंगे। बाईस परिषहों में से नौवाँ परिषह है—'चर्यापरिषह'।

श्री उत्तराध्ययन सूत्र में इस परिषह पर गाथा दी गई है—

एग एव चरे लाढे, अभिभूय परीसहे।
गामे वा नगरे वावि, निगमे वा रायहाणिये॥

—अध्ययन २, गा १८

अर्थात्-अकेला साधु प्रासुक आहार से निर्वाह करता हुआ ग्राम में, नगर में, वणिक स्थान में और राजधानी आदि सभी अन्य स्थानों में विचरण करे।

आपको ध्यान होगा कि आठवें 'स्त्री परिषह' में कहा गया था— बुद्धिमान पुरुष स्त्री को कीचड़ के समान मानकर उनके द्वारा अपना हनन न करे किन्तु आत्म-गवेषी बनकर अपने संयम मार्ग में विचरण करे।

यहाँ हमें आत्मगवेषी शब्द को लेना है। इसका अर्थ है—आत्मा की खोज करना। सांसारिक पदार्थों की और उसके सुख की खोज तो सभी करते हैं, किन्तु उस खोज का कोई शुभ फल प्राप्त नहीं होता। शुभ-फल तो तब मिलता है जबकि आत्मा की खोज की जाय। आत्मा की खोज से तात्पर्य है—आत्मा के स्वरूप को समझना तथा ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र आदि आत्मा के गुणों को समझते हुए आत्मा की अनंत शक्तियों को जागृत करना।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

साधु अकेला कैसे ?

आत्मगवेषणा को ध्यान में रखते हुए भगवान की वाणी में कहा गया है कि साधु शुद्ध आहार से शरीर चलाता हुआ गाँवों में, नगरों में और राजधानियों में विचरण करे। इस गाथा में दो बातों पर ध्यान देना आवश्यक है। प्रथम यह कि साधु के लिये 'अकेला' शब्द आया है। इस शब्द से यह तात्पर्य नहीं है कि साधु एक ही हो तथा साथ में कोई अन्य संत न हो। यहाँ अकेले से यही अभिप्राय है कि मार्ग के कष्टों और परिषहों से त्राण पाने के लिये साधु किसी की सहायता की अपेक्षा न रखे और इस दृष्टि से उसे साथ न रखे।

दूसरे, अकेले से आशय यह है कि वह राग-द्वेषादि से, विषय-विकारों से तथा मोह, ममता एवं आसक्ति से रहित केवल आत्मगवेषी रहकर विचरण करे। मन के समस्त विकारों को छोड़ दे, उन्हें साथ न रखे।

समयसार ग्रंथ में कहा गया है—

'रत्तो बंधदि कम्मं, मुंचदि जीवो विराग संपत्तो।'

अर्थात्-जीव रागयुक्त होने से कर्म बाँधता है और विरक्त होकर कर्मों से मुक्त होता है।

आप समझ गए होंगे कि 'राग' का साथ होना कर्मबंध का कारण है और उसे छोड़ देना निर्जरा का। इसीलिये साधु को इसे छोड़कर निश्चितता पूर्वक जो भी रूखा-सूखा आहार मिल जाए उसे ग्रहण करते हुए रागादि से रहित होकर अकेले विचरण करना चाहिये।

इसी बात की पुष्टि करते हुए आगे उत्तराध्ययन सूत्र की दूसरी गाथा में कहा गया है—

असमाणे चरे भिक्खू, नेव कुज्जा परिग्गहं।
असंसत्तो गिहत्थेहिं, अणिएओ परिव्वए॥

अर्थात्-साधु सदा अहंकार से रहित होकर, किसी प्रकार के परिग्रह का संचय न करे। गृहस्थों में आसक्त न होवे और किसी प्रकार के घर-बार को न रखता हुआ सदा देश-प्रदेश में भ्रमण करे।

इस गाथा में भी साधु को आदेश दिया गया है कि देश विदेश में विचरे किन्तु अहंकार से रहित होकर तथा परिग्रह का बिना संचय किये हुए। वह न तो गृहस्थों में आसक्ति रखे और न ही साथ में घर-बार की वस्तुएँ रखे या कि कहीं अपने रहने के लिये विशिष्ट स्थान ही बनाए।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ये सब विधान साधु के लिए क्यों बनाए गए हैं ? इसलिये कि साधु समस्त संसार की ओर से उदासीन होकर आत्माभिमुख हो जाता है और साधु का बाना वह तभी सार्थक कर सकता है जबकि उसके अनुरूप कार्य करे तथा अपना व्यवहार बनाये। आज साधु को संसार इसीलिए मानता है कि वह अपने वेष के अनुसार ही आचार का पालन करता है। साधु-वेश की महिमा बताते हुए एक उदाहरण आपको देता हूँ। वह इस प्रकार है।

साधु वेषधारी चोर

एक चोर चोरी करने के लिये किसी राजमहल में आधी रात को घुसा। घूमते-घामते वह राजा के शयनकक्ष में जा पहुँचा। संयोगवश इस समय राजा और रानी सोये न थे, आपस में वार्तालाप कर रहे थे। चोर कुछ ठिठक गया और उनकी बातें सुनने लगा।

उस समय राजा ने रानी से कहा—"मैं अपनी राजकुमारी का विवाह उस साधु से करूँगा जो गंगा नदी के किनारे पर रहता हो।"

चोर ने जब यह बात सुनी तो अत्यन्त प्रसन्न हुआ और सोचने लगा—अगर मैं ही भगवांवस्त्र पहन कर गंगा के किनारे रहने लगूँ तो शायद मुझसे राजकुमारी का विवाह हो जाय। ऐसा हो गया तब तो फिर जिन्दगी भर मुझे चोरी करने की जरूरत ही नहीं रह जाएगी।

यह विचार कर चोर उसी समय राजमहल से बाहर चला गया और संन्यासी का वेश पहनकर गंगा के किनारे जा बैठा।

अगले दिन राजा ने अपने कर्मचारियों को गंगा के किनारे रहने वाले साधुओं के पास भेजा और पुछवाया कि कौन साधु राजकुमारी से विवाह कर सकेगा ?

कर्मचारी एक के पश्चात् एक के, इस प्रकार सभी के पास गये और उनसे राजकुमारी के साथ विवाह करने के लिये कहा। किन्तु किसी भी साधु ने इसके लिये स्वीकृति नहीं दी। सबसे अंत में उस साधु वेशधारी चोर का नम्बर आया। कर्मचारियों ने उससे भी यही बात कही। चोर ने कुछ उत्तर न दिया, मौन बैठा रहा।

अन्त में राज कर्मचारी वापिस लौटे और राजा से बोले—"हुजूर, और तो कोई साधु राजकुमारी जी के साथ विवाह करना नहीं चाहता, पर एक युवा संन्यासी शायद विवाह के लिये तैयार हो जाय, क्योंकि उसने विवाह के सम्बन्ध में हाँ या ना कुछ भी नहीं कहा है।"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यह सुनकर राजा स्वयं ही उस चोर के पास गए जो संन्यासी का बाना पहने गंगा के किनारे ध्यान का ढोंग किये हुए था। राजा ने उस संन्यासी से आग्रह करते हुए कहा—"महाराज ! मेरी कन्या की कुंडली में साधु से विवाह करना लिखा है अतः आप मेरी कन्या के साथ विवाह कर लीजिये। मैं अपनी पुत्री से विवाह करने वाले को आधा राज्य भी प्रदान करूँगा।"

चोर ने राजा की बात सुनी तो मन ही मन बड़ा प्रसन्न हुआ, किन्तु अचानक ही उसके हृदय में यह विचार आया कि—'देखो, साधु का वेश पहनते ही इसका कितना अच्छा फल मिला है कि स्वयं राजा अपनी राजकुमारी और राज्य देने के लिए आया है। पर अगर मैं सच्चा साधु बन जाऊँ और मन, वचन एवं शरीर से साधुत्व का पालन करूँ तो उसका परिणाम तो न जाने कितना अच्छा होगा और वह इस राज्य से भी अनेक गुना उत्तम होगा।

ऐसा विचार कर उस चोर ने राजा को अपने झूठे वेश पहनने का कारण बता दिया और उसी दिन से सच्चा संन्यासी बनकर तपस्या एवं साधना में जुट गया।

ऐसे उदाहरणों से ज्ञात होता है कि जब साधु का वेश ही व्यक्ति के मन को बदल देता है तो फिर साधुत्व को हृदय से अंगीकार करने वाले का हृदय तो विकारों से कितना रहित होना चाहिए। इसलिए शास्त्र की गाथाओं में कहा गया कि साधु को अहंकार, राग द्वेष, आसक्ति तथा परिग्रह आदि सबको त्याग करके निस्संग यानी संग रहित अकेले ही देश-विदेश में भ्रमण करना चाहिए।

अब प्रश्न होता है कि साधु को चातुर्मास अथवा किन्हीं विशेष कारणों के अलावा सदा यत्र तत्र विचरण क्यों करना चाहिये ?

विचरण किसलिए ?

भगवान महावीर का आदेश है कि साधु को ग्रामानुग्राम विचरण करते रहना चाहिए। इस विधान के अनुसार आप देखते ही हैं कि साधु चातुर्मास के अलावा इधर से उधर विहार करते हुए अनेक गांवों में जाते हैं। किन्तु इतना अवश्य है कि प्रायः साधु-साध्वी अपने प्रान्तों में, अपने भाषा-भाषी स्थानों में या अपने मानने वालों के गांव और नगरों में अधिक भ्रमण करते हैं। किन्तु अधिक अच्छा यही है कि साधु इन बातों का सर्वथा ध्यान न रखते हुए किसी भी प्रदेश में यथाशक्य विचरने का प्रयत्न करे और विशेष करके उन प्रदेशों में भी जाए जहाँ धर्म से अनभिज्ञ लोग कहलाते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अनार्य स्थानों के व्यक्ति, और व्यक्ति ही क्या वहाँ रहने वाले जैन भी अपने जीवन में यह नहीं जान पाते कि धर्म क्या है और उसकी आराधना किस प्रकार की जाती है ? और तो और, उन जैन कहलाने वाले व्यक्तियों के बालक तो यह भी नहीं जानते कि हमारे जैनधर्म में साधु भी होते हैं। इसलिये ऐसे स्थानों पर साधु को भ्रमण करके उन नामधारी जैनियों को कम से कम यह तो बताना ही चाहिये कि हमारा जैनधर्म क्या है ? उसके सिद्धान्त क्या हैं और उनका पालन करने के लिये किस प्रकार त्याग नियम अपनाना चाहिये ?

तो ऐसे अनभिज्ञ क्षेत्रों में विरले साधु-साध्वी ही पहुँच पाते हैं। उदाहरण स्वरूप हमारे श्रमण संघ की परम विदुषी महासती जी श्री उमरावकुंवर जी महाराज 'अर्चना' ने करीब तेरह वर्ष पूर्व अपनी शिष्याओं के साथ काश्मीर-भ्रमण किया था। उस समय श्रमण संघ के प्रथम आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज विद्यमान थे और उनकी शुभकामना, आज्ञा तथा प्रेरणा लेकर ही पंडिता सती जी ने काश्मीर प्रदेश की महान् कष्टकर यात्रा कमर कसकर प्रारंभ कर दी थी।

अभी करीब दो वर्ष पहले सांडेराव (राजस्थान) में जो प्रांतीय साधु-सम्मेलन हुआ था, उस समय सती 'अर्चना' जी से वार्तालाप के समय उन्होंने मुझे अपनी हिमाचल एवं काश्मीर यात्रा के कुछ अनुभव सुनाए थे और कुछ उनके प्रकाशित संस्मरणों से भी मालूम हुआ था कि उस यात्रा के दौरान सभी प्रकार के परिषहों का उन्हें डटकर मुकाबला करना पड़ा था। क्षुधा, पिपासा एवं शीत का तो पूछना ही क्या है। उन्होंने बताया था कि शिमला से बिलासपुर जाते समय करीब ६० मील के लम्बे मार्ग पर केवल दो बार आहार प्राप्त हुआ था और ऊपर से विकट पहाड़ी चढ़ाई वाला रास्ता। इसके अलावा भी अनेकों बार कई-कई दिन तक केवल मक्की के फूलों को खाकर भी समय गुजारना पड़ता था। वैसे भी उधर मोटी रोटियाँ और 'कड़म' नामक पत्ते का केवल नमक डाला हुआ साग मिलता था।

इसी प्रकार उन्हें मार्ग के कष्ट भी कम नहीं उठाने पड़े और दोषों से बचने के लिये शार्टकट मार्ग को छोड़कर अत्यधिक लम्बे मार्गों को तय करना पड़ा। यथा—विलासपुर से भाखड़ा नंगल केवल ३६ मील है किन्तु बीच में दरियाव था और साधु के लिये कच्चे पानी का स्पर्श वर्जित है अतः उन्हें पहाड़ियों का चक्कर काटते हुए करीब १५० मील चलकर भाखड़ा नंगल पहुंचना पड़ा।

किन्तु वह काश्मीर प्रदेश जिसमें राम को मानने वाले पंडित राम-नवमी के दिन भी अपने कार्यों से छुट्टी पाकर उस छुट्टी के दिन जी भर कर शिकार करते हैं तथा शिवरात्रि को शिव के मंदिर में मांस और मछली चढ़ाते हैं, वहाँ भ्रमण

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

करके सतीजी ने सैकड़ों व्यक्तियों को धर्म का स्वरूप समझाया तथा उन्होंने प्रभावित होकर अपने कुकर्मों का त्याग किया। इसके अलावा केवल हिन्दुओं को ही उन्होंने प्रतिबोध नहीं दिया वरन् वहाँ के मुसलमानों को भी धर्मोपदेश दिया और अनेकों मुसलमानों ने मांस व मदिरा का सर्वथा त्याग किया। लार्कपुर नामक गाँव, जो कि बेरीनाग से अवंतीपुर के रास्ते में है, वहाँ सिर्फ एक घर हिन्दू पंडित का था और बाकी सम्पूर्ण घर मुसलमानों के थे।

सती जी जब उस मार्ग से गुजरे तो एक-दो घण्टे वहाँ सड़कपर बनी हुई स्कूल में गुजारसे चाहे। पर वहाँ का मुसलमान हैडमास्टर आपसे इतना प्रभावित हुआ कि उन्हें तीन दिन लार्कपुर में ठहरना पड़ा तथा वहाँ के अनेक सरल मुसलमानों ने सती जी के धर्मोपदेश सुनकर हिंसा करने व शराब पीने का त्याग किया।

सती जी का मुख्य कथन यह है कि उधर के व्यक्ति इतने सरल और जिज्ञासु होते हैं कि वे तीव्र लगन पूर्वक तो उपदेश सुनते हैं और सुनने के पश्चात् अत्यन्त प्रभावित होते हुए अपने कुकर्मों पर पश्चात्ताप करते हुए उनका त्याग करने को तैयार हो जाते हैं। जबकि हमारे श्रावक जिन्दगी भर उपदेश सुनकर भी उन्हें क्रियान्वित नहीं कर सकते।

कहने का आशय यही है कि साधु अगर अनार्य देशों में भी भ्रमण करे तो आर्य देशों में रहने वाले व्यक्तियों से अधिक लाभ अनार्य कहलाने वाले लोग उठा सकते हैं। हमें और हमारे श्रमण संघ को गर्व है कि सती 'अर्चना' जी ने नारी होने पर भी हिमाचल और काश्मीर जैसे दुर्गम प्रदेशों में जाने का साहस किया तथा सभी परिषहों का मुकाबला करते हुए वहाँ के अनेकानेक आर्य एवं अनार्य लोगों को बोध-सूत्र देते हुए सत्पथ पर बढ़ाया।

तो बंधुओ, इसीलिये भगवान ने साधु को आदेश दिया है कि वह धर्म-प्रचार करने और अज्ञानी प्राणियों को उद्बोधन देने के लिये यत्र-तत्र भ्रमण करे। अगर वह ऐसा नहीं करेगा तो लोग जिन वचनों का लाभ नहीं उठा सकेंगे और धर्म के स्वरूप को नहीं समझ पाएँगे। इसके अलावा एक ही स्थान पर रहने से वहाँ के व्यक्तियों में साधु का मोह बढ़ सकता है तथा एक स्थान बना लेने से परिग्रह बढ़ने की सम्भावना भी रहती है।

शास्त्र में इसी विषय को दूसरी गाथा के द्वारा बताया है कि वह परिग्रह का संचय न करे तथा गृहस्थों में आसक्त न होवे। साधु को ही दूसरे शब्दों में संन्यासी कहा जाता है। संन्यासी यानी सम्यक् प्रकारेण न्यसनम्। अर्थात् उत्तम प्रकार से

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

संसार छोड़ा। तो, जो घर-बार छोड़ देते हैं उनमें संग्रह की वृत्ति नहीं रहती। उस वृत्ति के स्थान पर संतोष एवं शांति का आगमन हो जाता है।

अभी-अभी चोपड़ा साहब ने कहा—"संतों की तरफ देखने से संतोष होता है। धन तो अमरीका और रशिया में बहुत है, लेकिन वहाँ शांति और सुख नहीं है। वहाँ के लोगों को नींद नहीं आती और नींद लेने के लिये गोलियाँ लेनी पड़ती हैं।"

चोपड़ा साहब का कथन यथार्थ है। हमारा भारत धर्म प्रधान देश है और धर्म के मुख्य लक्षण संतोष, अपरिग्रह और त्याग हैं। भारत के निवासी अपनी संस्कृति के अनुसार यथाशक्य धर्माराधन करते हैं तथा अत्यधिक तृष्णा, आसक्ति और गृद्धता से बचते हैं। यद्यपि भारत के सभी व्यक्ति ऐसा नहीं कर पाते किन्तु अधिकांश व्यक्ति धर्म के मर्म को समझते हैं तथा वे चाहे जैन हों, वैष्णव हों या अन्य किसी मत के पर अपने धर्म-शास्त्रों का पारायण करते हैं अतः त्याग की महत्ता को समझने लगते हैं। भारत के सभी मुख्य धर्म अहिंसा, सत्य, अचौर्य, अपरिग्रह एवं सदाचार को महत्त्व देते हैं। उसी का परिणाम यह है कि भारत में प्रत्येक समय पर अनेक महा-पुरुष दिखाई देते हैं। भारत-भूमि में ही महावीर, कृष्ण, राम एवं बुद्ध आदि ने जन्म लिया है, जिनके अनुयायी आज भी अपने धर्म को, आचार-विचार को एवं संस्कृति को अपनाते हैं तथा अपने जीवन को आदर्श बनाने में समर्थ होते हैं। वे संसार की असारता को समझते हैं तथा हमेशा इसी चिन्तन में लीन रहते कि यहां पर जिनको मैं मेरा कहता हूँ, उनमें से कुछ भी मेरा नहीं है क्योंकि सब यहीं छूट जाना है। मेरा केवल धर्म ही है जो साथ रहेगा।

संस्कृत में एक श्लोक कहा गया है—

मम गृहवनमाला, वाजिशाला ममेयम्,
गजवृषभगणा मे, भृत्य सार्था ममेमे।
वदति सतिममेति मृत्युमापद्यसे चेद्,
नहि तव किमपि स्यात् धर्ममेकंविनान्यत्॥

इस श्लोक में भारतभूषण शतावधानी श्री रत्नचन्द्र जी महाराज अपने पठनीय भावनाशतक में कहते हैं—ये मेरे मकानों की पंक्तियाँ हैं, ये मेरे घोड़ों की घुड़साल है, मेरे इतने हाथी, घोड़े, और बैल हैं तथा सेवा में सेवकों का इतना बड़ा समूह है। इस प्रकार कहकर व्यक्ति गर्व से फूला नहीं समाता, किन्तु जब उसकी मृत्यु का समय आता है तो वे मकान, हाथी, घोड़े, बैल तथा ऐश्वर्य क्या उसके काम आता है? क्या कुछ भी उसके साथ चलता है? नहीं, कवि का कहना है कि एक

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

धर्म के बिना और कुछ भी उसका अपना नहीं है। धर्म ही उसका सच्चा साथी है और वही उसे शाश्वत सुख प्रदान करने वाला है।

आदिपुराण में भी बताया है।

धर्मो बन्धुश्च मित्रश्च धर्मोऽयं गुरुरङ्गिनाम्।
तस्माद् धर्मे मतिं धत्स्व स्वर्मोक्षसुखदायिनि॥

—१०/१०९

अर्थात्-धर्म ही मनुष्य का सच्चा बंधु है, मित्र है और गुरु है। इसलिये स्वर्ग एवं मोक्ष के सुख देने वाले धर्म में बुद्धि को स्थिर करना चाहिये।

वस्तुतः यह संसार और यहाँ तक कि शरीर भी जीवात्मा का नहीं है। शरीरों की प्राप्ति तो अनेकों बार हो चुकी है और हर बार वे आत्मा का साथ छोड़ चुके हैं तब फिर यह मनुष्य शरीर ही कब आत्मा के साथ रहने वाला है। यह तो केवल कारागार है जो कुछ समय तक उसे अपने में कैद रखता है। एक गुजराती के कवि ने भी आत्मा को पोपट यानी तोते की संज्ञा देते हुए उसे समझाया है—

हे पोपट, आ पिंजर नहिं तारूं अन्ते उड़ि जावुं पर थारूं।
छे, परनूं पण परिचय थी तू, मानो बैठो मारूं,
क्या ने तू क्या नू ये पिंजर, जो समजे तो सारूं।

कवि कहता है—अरे पोपट! तू जिस शरीर को अपना समझ रहा है, यह शरीर तेरा नहीं है। यह तो केवल पिंजरा है, जिसमें तू अभी कैद है और अंत में एक दिन इसे छोड़कर तुझे उड़ जाना पड़ेगा।

इसलिये तू भली-भांति यह समझ ले कि तू क्या है और ये शरीर रूपी पिंजरा क्या है। यानी तू तो अनन्त शक्तियों से सम्पन्न और अनंत ज्ञान से युक्त ऐसी आत्मा है जो यद्यपि अनन्त काल से कर्मों का भार लिये संसार-परिभ्रमण कर रही है, किन्तु चाहे तो क्षण मात्र में कर्म-मुक्त होकर सिद्ध स्थान प्राप्त कर सकती है, पर यह शरीर जड़ है और किसी समय तेरा साथ छोड़कर मिट्टी में मिल सकता है।

आगे कहा है—

मांस रुधिरमय अति दुर्गन्धि, नरक समान नठारू,
तेने तू कंचन सम माने, आवडूं सूं अंधारू?

शरीर कैसा है यह बताते हुए कहा है—यह देह मांस एवं रुधिर से निर्मित अत्यन्त अशुचिकर और दुर्गंधमय है। यहाँ तक कि नरक से भी अधिक निकृष्ट है। फिर भी व्यक्ति इसे कंचन के समान सुन्दर मानता है, यह उसके अज्ञान-रूपी अंधकार

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

का परिणाम है। कितने खेद की बात है। इसीलिये महापुरुष शरीर की वास्तविकता को जानकर उससे मोह छोड़ देते हैं।

अब वह बात नहीं है

हमारे शास्त्रों में सनत्कुमार चक्रवर्ती का उदाहरण आता है कि वे अत्यधिक सौन्दर्य के धनी थे। उनके अद्वितीय रूप को देखने के लिये स्वर्ग से देवता भी मृत्यु-लोक में आया करते थे।

एक बार एक देव के हृदय में भी यही भावना आई कि सनत्कुमार जी के सौन्दर्य की बड़ी प्रशंसा सुनी जाती है अतः मैं भी उनके उस असाधारण रूप को देखूँ।

यह विचार आते ही वह ब्राह्मण का वेश धारण करके सनत्कुमार चक्रवर्ती के राज्य में आया और उनके महल तक जा पहुँचा। महल के द्वार तक पहुँचकर उसने अन्दर महाराज को सूचना भिजवाई कि एक ब्राह्मण बहुत दूर से आपके दर्शनार्थ आया है। महाराज ने उस ब्राह्मण वेशधारी देव को अन्दर बुलवाया। और उससे मुलाकात की।

जिस समय चक्रवर्ती सनत्कुमार ब्राह्मण से मिले उस समय वे स्नानादि के लिये जा रहे थे और शरीर पर सुन्दर वस्त्राभूषणों को उन्होंने धारण नहीं किया था। किन्तु ब्राह्मण ने जब उनके दर्शन किये तो वह गद्‌गद् होकर बोल उठा—

"महाराज ! आपका सौन्दर्य मैंने जैसा सुना था वैसा ही अनुपम एवं अतुलनीय है। संसार का कोई भी व्यक्ति आपके सौन्दर्य के समक्ष नहीं ठहर सकता। धन्य हैं आप जिन्हें विधि ने सम्पूर्ण सौन्दर्य को एक ही स्थान पर एकत्र कर आपके शरीर का निर्माण किया है।"

ब्राह्मण के वचन सुनकर चक्रवर्ती महाराजा गर्व से भर गए और बोले— "ब्राह्मण देवता ! अभी आपने मेरे रूप को बराबर कहाँ देखा है ? इस समय तो मेरे शरीर पर न सुन्दर वस्त्र हैं और न आभूषण ही। अगर मेरा सौन्दर्य ही देखना है तो जब मैं वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होकर दरबार में आऊँ तब देखना।" ब्राह्मण राजा की बात सुनकर पुनः दरबार में आने का कहकर वहाँ से चला गया।

समय पर दरबार लगा और चक्रवर्ती सनत्कुमार बहुमूल्य वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होकर दरबार में आए। सचमुच ही उनका सौन्दर्य उस समय अनेक गुना अधिक दिखाई दे रहा था।

महाराज सिंहासन पर बैठे और उसके पश्चात् समस्त दरबारी भी अपने-

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अपने स्थान पर आसीन हुए। सनत्कुमार जी ने अपनी दृष्टि फैलाई तो देखा कि दरबार में एक ओर वह ब्राह्मण भी बैठा है, जो प्रातःकाल महल में उनके दर्शनार्थ आया था। उसे देखकर उन्हें सुबह की घटना एवं ब्राह्मण की की हुई प्रशंसा याद आई और उन्होंने संकेत से ब्राह्मण को अपने समीप बुलाया। ब्राह्मण तुरन्त अपना स्थान छोड़कर महाराज के समीप आया और हाथ जोड़कर खड़ा हो गया।

चक्रवर्ती महाराज ने बड़े गर्व से कहा—

"अब मेरे रूप को देखो ब्राह्मण देव ! क्या प्रातःकाल की अपेक्षा यह अनेक गुना अधिक नहीं बढ़ गया है ?"

"नहीं, अब तो वह बात नहीं रही महाराज ! इस समय आपका रूप वह नहीं रहा जो सुबह था।"

ब्राह्मण की बात सुनकर तो सनत्कुमार मानो आकाश से गिर पड़े। घोर विस्मय से वह बोले—"यह क्या कह रहे हैं आप ? मेरा रूप वह कैसे नहीं रहा जो पहले था ?"

ब्राह्मण नम्रता से बोला —"महाराज, एक पीकदान मंगवाइये।"

जब पीकदान आ गया तो ब्राह्मण ने कहा—

"अब इसमें आप थूकिये महाराज !" महाराज ने उसमें थूक दिया। पर ब्राह्मण के संकेत पर उन्होंने देखा कि उनके थूक में सैकड़ों कीड़े बिलबिला रहे हैं।

"यह क्या बात है ब्राह्मण देवता ! ये कीड़े कैसे हैं इस थूक में ?"

"ये कीड़े आपकी उन बीमारियों के हैं जो आपके शरीर में पैदा हो गई हैं। आपका सौन्दर्य तो ऊपरी है। इसके अन्दर तो केवल मांस, मज्जा, रुधिर एवं अन्य दुर्गंधिपूर्ण वस्तुएँ ही हैं, जिन्हें किसी भी समय रोग घेर सकता है।" ब्राह्मण ने शांतिपूर्वक महाराज को समझाया।

यह सुनते ही चक्रवर्ती सनत्कुमार की आँखें खुल गईं और उनकी समझ में आ गया कि शरीर के ऊपरी सौन्दर्य का कोई महत्व नहीं है। इसके अन्दर तो समस्त घिनौनी और अशुद्ध वस्तुएँ भरी हुई हैं जो किसी भी क्षण विकृत होकर रोगों के रूप में सामने आ सकती हैं। इतना ही नहीं वे रोग इस शरीर को कुरूप बना सकते हैं तथा नष्ट भी कर सकते हैं। यह विचार आते ही उन्होंने निश्चय कर लिया कि शरीर के इस नश्वर सौन्दर्य का मोह छोड़कर मैं आत्मा के अनश्वर सौन्दर्य को निखारूँगा, ताकि वह कभी मिट न सके और आत्मा को सदा के लिए रोग-शोक से मुक्त कर सके।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तो कवि ने भी शरीर की वास्तविकता बताते हुए इस देह के ऊपरी रूप को ही सब कुछ न मानकर आंतरिक घृणित वस्तुओं पर ध्यान देने को कहा है तथा ज्ञानपूर्वक मनन करते हुए इससे लाभ उठाने की प्रेरणा दी है। आगे कहा है—

बीजा जोया एवूं आ पण, नामे केवल न्यारूं।
सर्व प्रकारे साचवतो पण आखर छे पड़नारूं।
सारासार विचार करो तो भवसागर नू वारूं,
केशव हरि कारीगर तेनू, जीव विश्वमां संभारूं॥

कहते हैं कि जिस प्रकार हम औरों के शरीर को नष्ट होता हुआ देखते हैं, उसी प्रकार हमारा शरीर भी नष्ट होने वाला है। इसकी चाहे जितनी सार-संभाल करें पर एक दिन तो यह जाएगा ही। शरीर सभी के नश्वर हैं और एक जैसे हैं। केवल नाम ही अलग-अलग हैं।

इसलिए कवि जीवात्मा को संबोधित करता हुआ कहता है कि—'तू संसार में सार क्या है और असार क्या है, इस बात को समझ तथा सार को ग्रहण करके असार का त्याग कर दे। सार ही संसार-सागर से पार उतारने वाली नौका के समान है, अतः उसे ग्रहण करके पार उतरने का प्रयत्न कर।'

प्रश्न होता है कि आखिर सार यहाँ पर क्या है? इसका उत्तर बड़े विस्तार से दिया जा सकता है पर हमें संक्षेप में इस प्रकार समझना है कि आत्मा से भिन्न जो भी वस्तुएँ हमें दिखाई देती हैं वे सब असार हैं और आत्म-रूप के समीप ले जाने वाली भावनाएँ सार-रूप हैं। आत्मा के गुण ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र की आराधना करना तथा संवर-मार्ग को अपनाकर कर्मों की निर्जरा करना ही सार है। पर यह तभी होगा जब कि व्यक्ति बाह्य पदार्थों से सुख प्राप्त करने की इच्छाओं का त्याग करे तथा द्रव्य, मान एवं कीर्ति आदि की कभी आकांक्षा न करे। एक उदाहरण है—

भगवद्गीता का सार

एक विद्वान ब्राह्मण किसी राजा के पास पहुँचा और उनसे बोला—"महाराज! मैंने धर्मग्रन्थों का बहुत अध्ययन किया है अतः मैं आपको भगवद्गीता पढ़ाना चाहता हूँ।"

राजा भी होशियार था। उसने सोचा—जो व्यक्ति गीता का गंभीर अध्ययन कर ले, वह राज-दरबार में मान-प्रतिष्ठा प्राप्त करने की आकांक्षा नहीं कर सकता। अतः उसने उत्तर दिया—"महाराज! मैं आपको अपना शिक्षक अवश्य बनाऊँगा, किन्तु अभी आप गीता का पूरा अध्ययन कर लें।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

ब्राह्मण राजा की बात सुनकर चला गया, लेकिन मन में विचार करता गया कि राजा मूर्ख है अतः कहता है कि गीता का पूर्ण अध्ययन करो, जबकि मैं गीता को अच्छी तरह से उसे समझा सकता हूँ। पर राजा ने कह दिया था अतः उसने फिर कई बार गीता को पढ़ा और कुछ दिन बाद पुनः राजा के पास अपने पूर्व उद्देश्य को दोहराया।

पर आश्चर्य कि राजा ने फिर कह दिया—"पंडित जी, आप अभी और गीता को अच्छी तरह पढ़िये।"

ब्राह्मण को राजा की बात सुनकर आश्चर्य तो हुआ पर क्रोध नहीं आया। उसने सोचा कि राजा के इस कथन में गूढ़ रहस्य होना चाहिये। वह घर आ गया और बड़ी तन्मयता से पुनः पुनः गीता को पढ़ने लगा।

धीरे-धीरे उसे समझ में आ गया कि धन-दौलत एवं मान-प्रतिष्ठा आदि के लिये दरबार में जाना निस्सार है। गीता पढ़ने का सार यही है कि अधिक से अधिक आत्म-चिन्तन किया जाय।

जब ब्राह्मण की समझ में यह बात आ गई तो वह दिन-रात दत्तचित्त होकर ईश्वर की आराधना और आत्म-चिंतन करने लगा। राजा के पास गया ही नहीं।

कुछ वर्षों बाद राजा को ब्राह्मण का स्मरण हुआ और वह उसकी खोज करता हुआ ब्राह्मण के घर जा पहुँचा। वहाँ पर आंतरिक ज्ञान एवं अखंड श्रद्धा के कारण उत्पन्न हुए ब्राह्मण के दिव्य तेज को देखकर राजा ब्राह्मण के चरणों पर गिर पड़ा और बोला—"गुरुदेव! अब आपने गीता का सार समझ लिया है अतः मुझे अपना शिष्य बनाकर कृतार्थ कीजिये।"

बन्धुओ, आप भी समझ गए होंगे कि वास्तव में धर्म का सार क्या है और उसे किस प्रकार ग्रहण किया जा सकता है। सच्चे संत भी उसी प्रकार संसार में जो असार है उसे छोड़कर सार को ग्रहण करते हैं तथा आत्म-चिंतन करते हुए मन के समस्त विकारों को एवं आसक्ति तथा परिग्रहादि को छोड़कर आध्यात्मिक दृष्टि से अकेले विचरण करते हैं। ग्रामानुग्राम भ्रमण करते हुए वे किसी भी परिषह से घबराते नहीं हैं तथा धर्म के प्रचार का उद्देश्य लिये हुए आर्य एवं अनार्य प्रदेशों को समान समझते हुए यथाशक्य विचरते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

२९ | महल हो या मसान···!

धर्मप्रेमी बंधुओ, माताओ एवं बहनो !

कल के प्रवचन में हमने नवें परिषह के विषय में बात की थी जिसमें बताया गया था कि साधु ग्रामानुग्राम में विचरण करे तथा राग-द्वेष एवं आसक्ति आदि से रहित होकर निस्संग भ्रमण करे।

आज हमारे सामने बाईस परिषहों में से दसवाँ परिषह आता है। इस परिषह का नाम है—'नैषेधिकी परिषह।' इस विषय में गाथा है—

सुसाणे सुन्नगारे वा रुक्खमूले व एगओ।
अकुक्कुओ निसीएज्जा न य वित्तासए परं॥

—उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन २-२०

अर्थात्—साधु श्मशान में, शून्य घर में या वृक्ष के मूल में किसी प्रकार की भी कुचेष्टा को न करता हुआ राग-द्वेष से रहित अकेला ही बैठे और किसी भी प्रकार से अन्य जीवों को त्रास न देवे।

भगवान महावीर ने जिस प्रकार साधु को चर्या परिषह सहन करने का आदेश दिया है, उसी प्रकार नैषेधिकी परिषह को भी पूर्ण समभाव एवं शांतिपूर्वक सहन करने के लिए कहा है। उन्होंने फरमाया है कि साधु को संयोगवश अगर शून्य घर में, वृक्ष के नीचे या श्मशान भूमि में भी ठहरना पड़े तो निःशल्य होकर ठहरे। और वहाँ पर किसी भी प्रकार की कुचेष्टा न करे। क्योंकि ऐसा करने से प्रथम तो मन अस्थिर होता है तथा चंचलता बढ़ती है, दूसरे अन्य जीवों की हिंसा होने का भय रहता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इसी विषय में दूसरी गाथा इस प्रकार है—

तत्थ से अत्थमाणस्स, उवसग्गाभिधारए ।
संकाभीओ न गच्छेज्जा, उट्ठित्ता अन्नमासणं ॥

—उत्तराध्ययन सूत्र, अ. २, गा. २१

गाथा में कहा गया है—उक्त स्थानों में बैठे हुए साधु को यदि कोई उपसर्ग आ जावे तो साधु उनको सहन करे किन्तु किसी प्रकार की शंका से भयभीत होकर वहाँ से उठकर अन्य स्थान पर न जावे ।

तात्पर्य यही है कि श्मशान या अन्य निर्जन भूमि में बैठे हुए साधु को कदाचित् किसी प्रकार का उपसर्ग आए या देवादि उन्हें किसी प्रकार का कष्ट पहुँचाएँ तो भी वह उनसे भयभीत न हो तथा वहाँ से उठकर अन्य स्थान पर जाने का विचार न करे । क्योंकि अगर साधु उपसर्गों से भयभीत होकर इधर-उधर जाने का प्रयत्न करेगा तो उसके स्वाध्याय तथा ध्यान आदि में बाधा पड़ेगी । इसलिये उपसर्गों को अपना परीक्षाकाल समझ कर उनको तुच्छ समझो और उन पर विजय प्राप्त करे ।

वास्तव में ही हम साधुओं को अनेक बार ऐसे स्थानों पर रहने का अवसर आता है । साधु कभी तो आलीशान मकान में रहता है और कभी टूटी झोंपड़ी भी उसे नसीब नहीं होती । लेकिन फिर भी हमें कोई दुःख महसूस नहीं होता । हर स्थिति में आनन्द का अनुभव होता है । फकीरी में आनन्द भी तभी आता है ।

एक पंजाबी कवि ने भी फकीरी की मस्ती का वर्णन करते हुए लिखा है—

वाह, वाह, जो मौज फकीरां दी !
कभी पौढ़ते रंगमहल में, कभी घास झूपड़ियाँ दी ।
कभी ओढ़ते शाल-दुशाले, कभी गुदड़ियाँ सीरां दी ।
कभी चाबते चना चबेना, कभी लपक ले सीरां दी ।
बड़े-बड़े राजा महाराजा, धूल लगावत चरणां दी ।

इस भजन में बताया गया है कि फकीरों की मस्ती का क्या कहना है, वे तो हर हाल में मौज से रहते हैं । वह किस प्रकार ? इस प्रकार कि कभी-कभी तो बड़े नगरों में उन्हें विशाल बिल्डिंगें रहने को मिलती हैं और गाँवों में भी गढ़ और महलों में ठहरने का अवसर मिलता है, किन्तु कभी-कभी घास-फस की झोंपड़ियां भी नहीं मिलतीं तथा वृक्षों के नीचे या श्मशानों में भी रहना पड़ता है

इसी प्रकार चातुर्मास आदि में आहार में मेवा-मिष्टान्न भी आता है और

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विहारों में जब वे होते हैं तो मुट्ठीभर चने मिलने भी मुश्किल हो जाते हैं। यही हाल वस्त्रों का है जब मिलता है तो अच्छा वस्त्र प्राप्त हो जाता है और जब नहीं मिलता तो सीं-साकर भी समय निकालना पड़ता है।

किन्तु बंधुओ ! यही कारण है, अर्थात् उनके त्यागमय जीवन का प्रभाव ही है कि बड़े-बड़े राजा-महाराजा भी उनके सामने विनत होते हैं और उनके चरणों की धूल अपने मस्तक पर चढ़ाते हैं। अनेक सांसारिक व्यक्ति जो संसार से उदासीन तो होते हैं किन्तु उससे छुटकारा प्राप्त नहीं कर पाते। वे सदैव तरसते हैं कि वह दिन कब आएगा जब हम इन सांसारिक झमेलों से मुक्त होकर फकीर बन जाएँगे और निश्चित होकर भगवान की आराधना में समय गुजारेंगे।

श्री भर्तृहरि ने भी अपने श्लोक में विरक्त पुरुषों की भावनाओं का चित्रण किया है—

वितीर्णे सर्वस्वे तरुणकरुणापूर्णहृदयाः
स्मरन्तः संसारे विगुण परिणामा विधिगतीः।
वयं पुण्यारण्ये परिणतशरच्चन्द्र किरणं—
स्त्रियामां नेष्यामो हरचरणचित्तैकशरणाः॥

भव्य पुरुषों की भावना रहती है कि कब हम सर्वस्व त्यागकर करुणापूर्ण हृदय से संसार और संसार के पदार्थों को सारहीन समझकर केवल शिवचरणों को अपना रक्षक समझते हुए शरद्चन्द्र की चाँदनी में किसी पवित्र वन में बैठे हुए रातें बिताएँगे ?

कहने का अभिप्राय यही है कि संत जीवन और दूसरे शब्दों में त्यागमय जीवन इतना पवित्र और कल्याणकारी होता है कि उसको अपनाने के लिये मुमुक्षु प्राणी तरसते रहते हैं।

तो मैं आपको बता यह रहा था कि भगवान के आदेशानुसार साधु को किसी भी निर्जन स्थान, मंदिर या श्मशान भूमि में ही क्यों न रहना पड़े उन्हें बिना किसी भय और व्याकुलता के ठहरना चाहिये तथा कष्टों या उपसर्गों की परवाह किये बिना अपने समय पर चिन्तन-मनन, स्वाध्याय आदि कार्य सम्पन्न करना चाहिये। हम लोगों को विचरण करते समय अनेक प्रकार के अनुभव होते हैं।

सोजत की एक घटना है कि वहाँ पर एक तपस्वी मुनि को रात्रि में ठहरना था। पूछ-ताछ करने पर किसी व्यक्ति ने कोई बड़ा भारी किन्तु पूरी तरह सूना मकान ठहरने के लिये बताया। मकान सूना इसलिये था कि उस घर में उसके मृत मालिक का उत्पात होने से कोई व्यक्ति उसमें रहने की हिम्मत नहीं करता था।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तपस्वी मुनि को तो इस बात का पता था नहीं, और होता भी तो संत उपसर्गों से कभी घबराते नहीं, किन्तु मुनि को मकान बनाने वाले व्यक्ति के मन में उन पर घटने वाले उत्पात के द्वारा तमाशा देखने की भावना थी। खैर—मुनि निस्संकोच उस व्यक्ति से आज्ञा लेकर वहाँ ठहर गये।

वैसे मकान के विषय में लोगों का कहना असत्य नहीं था कि उसके मालिक की इच्छा उसमें रह गई थी अतः वह वहाँ रहने के लिये आने वाले व्यक्तियों को परेशान करता था और नाना प्रकार के उपद्रव करके उन्हें टिकने नहीं देता था। कहा भी जाता है—'जहाँ आशा वहाँ वासा।' इस उक्ति के अनुसार उस घर का मालिक वहाँ वास करता था।

हमारे ज्ञाता धर्म कथा सूत्रों में नन्दन मणियार का वर्णन आता है कि उसने धर्मशालाएँ, कुँए तथा बावड़ी आदि बनवाईं, किन्तु उन्हें वह देख नहीं पाया, अतः उन्हें देखने की इच्छा लिये हुए मर जाने के कारण वह अपने कुए में ही मेंढ़क बन गया।

इसी प्रकार सोजत में जिस मकान में तपस्वी मुनि ठहरे थे उसमें वहाँ के मालिक की आत्मा मंडराती रहती थी। मुनि वहाँ ठहर तो गये किन्तु रात्रि होने पर उसके मालिक ने आकर मुनि को तंग करना ही नहीं मार डालने का भी प्रयत्न किया। किन्तु मुनि साधारण मुनि नहीं वरन तपस्वी थे और तप की महिमा देवताओं को भी रक्षा करने के लिये बाध्य कर देती है। इसलिये मकान का मृत मालिक मुनि को कुछ भी हानि नहीं कर सका पर उनसे बोला –

"महाराज ! आपको नमस्कार है, पर आप मेरे घर में क्यों ठहरे ? मैं तो किसी को भी यहाँ ठहरने नहीं देता।"

मुनिराज ने शांति से उसकी बात सुनी और फिर मन्द-मन्द मुस्कुराते हुए कहा—"भाई ! मुझे तो किसी व्यक्ति ने वहाँ ठहरने की आज्ञा दी थी अतः मैं ठहर गया। पर इस घर से तुम्हारा इतना मोह था तो तुम इसे अपने साथ क्यों नहीं ले गये ? और जब साथ नहीं ले जा सके तो फिर अब दूसरों को दुख देकर क्यों अपने पाप-कर्मों की शृंखला बढ़ा रहे हो ? मेरा तो तुम्हें यही कहना है कि तुम अपने अब तक के किये पापों का पश्चात्ताप करो तथा अपने स्थान पर जाओ।"

इस प्रकार मुनिराज ने उस आत्मा को बोध देते हुए अपनी साधना के साथ रात्रि व्यतीत की।

कहने का सारांश यही है कि साधुओं को अवसर आने पर किसी भी स्थान पर ठहरना पड़ता है और वे निर्भय होकर ठहरते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पूज्य श्री जयमल जी महाराज एक महान् संत थे और उन्होंने अपने दीक्षा काल में सोलह वर्ष तक एकांतर तप किया, तथा बावन वर्ष तक सोये नहीं थे। अर्थात् दिन या रात में कभी भी नींद नहीं लेते।

वे विचरण करते हुए एक बार बीकानेर की तरफ पधारे। उन दिनों बीकानेर में यतियों का प्रभाव था। यति लोगों को जैसे ही जयमल जी महाराज के उधर आने का समाचार मिला उन्होंने महाराज श्री को बीकानेर शहर में आने से रोकते हुए स्पष्ट कह दिया—

दरवाजा के भीतर तुमको धरवादां नहीं पैर।
करना हो जो करलो संतां आ पड़ी बीकानेर हो—
जाने दां नाहीं हरगिज अन्दर में बीकानेर के····।

यतियों की यह बात सुनकर श्री जयमल जी महाराज न आवेश में आए और न ही उन्होंने किसी प्रकार का आग्रह किया। केवल यही कहा—

समता सागर पूज्य पयंपै करां नहीं तकरार।
राजा जी को हुकम होसी तो करसा यहां से बिहार हो-
क्यूं थे यूं बरजो जातां अंदर में बीकानेर के····॥

सिर्फ इतना कहकर पूज्य जयमल जी महाराज शहर से बाहर श्मशान में जो छतरियां बनी हुई थीं, उन्हीं में एक कुम्हार से आज्ञा लेकर ठहर गये।

और फिर क्या हुआ ? पूरे आठ दिन तक अपने शिष्यों सहित वे बिना अन्न और जल लिये वहीं श्मशान की छतरियों में ठहरे रहे।

कितना कठिन परिषह उन्हें उठाना पड़ा ? आज व्यक्ति अन्न के अभाव में तो फिर भी कुछ दिन गुजार लेता है, पर जल के बिना शरीर की क्या स्थिति होती है यह अंदाज अनुभव के बिना नहीं किया जा सकता। पर वे सच्चे संत थे अतः भूख-प्यास के ऐसे जबर्दस्त परिषह के सामने भी नहीं झुके और न ही उन्होंने कहीं अन्यत्र जाने का विचार किया। पूर्ण शांति और समतापूर्वक तपाराधन करते हुए वे अपने ज्ञान-ध्यान एवं आत्म-चिंतन में लगे रहे।

यहाँ आपको यह बताना आवश्यक है कि जोधपुर के दीवान साहब की पुत्री रामकुँवर बाई थी और वह बीकानेर के दीवान को ब्याही गई थी। जिस समय श्री जयमल जी महाराज बीकानेर पधारे उस समय रामकुँवर बाई के पुत्र दीवान के पद पर थे। महाराज श्री विशेषकर रामकुँवर बाई की प्रबल विनती के कारण ही बीकानेर की ओर पधारे भी थे।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

किन्तु दुख की बात रही कि जयमल जी महाराज के बीकानेर की सूचना भी रामकुँवर बाई को नहीं मिली थी और उनके गुरुदेव पूज्य श्री जयमल भी महाराज भूखे-प्यासे श्मशान में ही आठ दिन तक ठहर रहे।

किन्तु आठ दिन के बाद संयोगवश रामकुँवर बाई अपनी दासी के साथ रथ में बैठकर कहीं जा रही थी और रथ श्मशान के समीपस्थ मार्ग से गुजर रहा था। उस समय दासी की दृष्टि छतरियों की ओर उठी और उसने फौरन रामकुँवर बाई से कहा—

"बाई जी ! देखिये, श्मशान की छतरियों में तो कोई अपने जैन मुनि विराजे हुए दिखाई दे रहे हैं।"

रामकुँवर बाई यह बात सुनकर बुरी तरह चौंकी और पर्दा हटाकर देखा सचमुच ही वहाँ जैन संत विराजे दिखाई दिये। यह बदहवास-सी उसी क्षण रथ से उतर पड़ी और संतों के दर्शनार्थ पहुंची। पास जाकर जब उसने देखा कि संत उसके गुरु पूज्य श्री जयमल जी महाराज ही हैं और वे आठ दिन से अन्न-जल के अभाव से भी बिना किसी दुश्चिन्ता के अठाई तप का आराधन कर रहे हैं तो उसकी आँखों से आँसुओं की अविरल जल-धारा बह चली और वह बोली—"भगवन् ! मेरा कैसा दुर्भाग्य है कि मुझे आपके पधारने का पता ही नहीं चला और आप भी इतनी तकलीफ और परिषह यहाँ उठा रहे हैं। आप शहर में क्यों नहीं पधारे ?"

मधुर मुस्कान सहित जयमल जी महाराज ने उत्तर दिया—

मैं तो उण दिन ही आ जाता
वरज्या जती हमने आता
यह सुनकर बाई अति दुख पाई आई महल में···।

गुरुदेव की यह बात सुनकर रामकुँवर बाई अत्यन्त दुखी हुई और उलटे पैरों अपने महल में आ गई। किन्तु उसी क्षण से उसने अन्न-जल त्याग दिया और अपने दीवान पुत्रों को धिक्कारते हुए कहा - "क्या लाभ है तुम्हारी दीवानी जैसे इतने बड़े पद से ? जबकि हमारे ही गुरु हमारे शहर में न आ सकें और आठ दिन अन्न-जल के अभाव में श्मशान में रह रहे हैं। अब मैं तो तभी अन्न और पानी ग्रहण करूँगी जब मेरे गुरु मेरे हाथ से आहार लेंगे। अन्यथा मैं भी प्राण त्याग करूँगी।"

रामकुँवर बाई के पुत्र बड़े मातृभक्त थे। उन्होंने माता से सब हाल जानकर उसी क्षण वहाँ के राजा से कहा—"अपनी दीवानी सम्हाल लीजिये। हम इस

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अधिकार का क्या करेंगे जबकि हमारे संत ही हमारे नगर में यतियों के कारण नहीं आ सके हैं।"

बीकानेर के राजा को भी सारा हाल सुनकर अतीव दुख हुआ और उन्होंने उसी समय आज्ञा देते हुए कहा—"आपको दीवान पद छोड़ने की आवश्यकता नहीं है। आप अविलम्ब जाइये और अपने गुरु महाराज को धूमधाम से शहर में ले आइये।"

यही हुआ भी, रामकुंवर बाई, उनके पुत्र तथा बहुसंख्यक जनता महाराज श्री की सेवा में पहुंची और धूम-धाम से 'जैनधर्म की जय' के नारे लगाते हुए वे जयमल जी महाराज को शहर के अन्दर लाये। उस समय का वर्णन करते हुए कवि ने कहा है—

जयमल आया मध्य बजारां,
जतियाँ री बात रही फीकी।
आय उतरिया राजमहल में,
पूज्य जी री बात रही तीखी।
मास कल्प मुनि तिहां विराज्या,
गादी दिपाई जिनजी की।

पद्यों में बताया गया है कि धर्म की सदा विजय होती है और इसीलिये अनेक परिषह सहने के पश्चात् भी जयमल जी महाराज ठाट-बाट से शहर में पधारे तथा राजमहल में ही ठहरे।

इस प्रकार यतियों को नीचा देखना पड़ा और वे अपने उपासरे बंद करके दुबक गये। अपने कल्प जितने समय तक महाराज श्री बीकानेर में ठहरे तथा वहाँ पर जिन भगवान के धर्म का पूर्ण रूप से प्रकाश करके लोगों को धर्म पर दृढ़ किया और उसके पश्चात् वहाँ से लौटे। इस प्रकार नाना कष्ट सहकर सर्वप्रथम श्री जयमल जी महाराज बीकानेर पधारे और उन्होंने ही भविष्य के लिये मार्ग खोला।

कहने का अभिप्राय यही है कि संत विचरण करते समय अपने हृदय में धर्म-प्रचार की ही बलवती भावना रखते हैं तथा उस उद्देश्य के लिये चाहे उन्हें जंगल में, चाहे निर्जन मकानों में और चाहे श्मशानों में भी क्यों न ठहरना पड़े, वे अपनी आन्तरिक मस्ती को कायम रखते हुए प्रतिकूल स्थिति में भी प्रसन्न एवं निश्चित रहते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इधर मंदसौर और प्रतापगढ़ के आस-पास भी हमारे संत आठ-आठ दिन तक केवल अचित्त पानी पर निर्भर रहे थे जबकि उन्हें गाँवों में प्रवेश नहीं करने दिया गया था। पर उन्होंने धर्म-प्रचार के लिये किसी भी परिषह की परवाह नहीं की तथा सभी का डटकर मुकाबला किया।

मुझे एक बात और याद आती है कि दर्यापुरी सम्प्रदाय का जो अपना स्थान है इसके मूल पुरुष धर्मसिंह जी महाराज बड़े साहसी पुरुष थे। उनकी भावना थी कि हम क्रिया का उद्धार करें। आडम्बर में क्या रखा है। जैसे पूज्य लवजी ऋषि जी महाराज और पूज्य धर्मदास जी महाराज। इन तीन ऋषियों ने धर्म क्रिया का उद्धार किया।

धर्मसिंह जी यति थे। उन्होंने अपने गुरु से आज्ञा मांगी, पर गुरुजी ने कहा—पहले तुम गाँव से बाहर जो 'पीर' का स्थान है, वहाँ पर एक रात्रि रहो। वह तुम्हारी हिम्मत की परीक्षा होगी। अगर उसमें सफल हो गये तो फिर आज्ञा देंगे।

इस पर श्री धर्मसिंह जी ने दर्याखान के ठिकाने पर जाकर वहाँ रात्रि भर ठहरने की आज्ञा चाही। वहाँ के मुसलमानों ने उन्हें बहुत समझाया कि—'क्यों आप अपनी जान देना चाहते हैं? लौट जाइये, यहाँ रात को ठहरकर कोई भी व्यक्ति जीवित नहीं लौट सकता।'

किन्तु वीर के बढ़े हुए कदम कभी पीछे नहीं हटते और न वह शेखी बघारता है। संत तुलसीदास जी ने कहा है—

शूर समर करनी करहिं, कहि न जनावहिं आपु।
विद्यमान रन पाइ रिपु, कायर करहिं प्रलापु॥

यानी—शूरवीर व्यक्ति कभी डींगें नहीं हांकता, वह युद्ध में करनी करके बताता है। प्रलाप तो कायर करता है तथा समर-भूमि को देखते ही पलायन कर जाता है।

तो इधर भी धर्मसिंह जी को मुसलमानों ने मौत का भय बताया। इससे बढ़कर डर की और कौन सी बात होती है? किन्तु वे मरने से कब डरने वाले थे? बोले—"भाई! पैदा हुआ हूँ तो एक दिन मरना ही है। आज ही वह दिन आ जाय तो भी क्या हर्ज है? अतः अगर तुम आज्ञा दो तो मैं आज ठहरना यहीं चाहता हूँ।"

मुसलमानों को ऐतराज तो कुछ था नहीं, स्वीकृति दे दी और वे ठहर गये। पर जैसा कि वहाँ कहा जाता था, देवता ने उन्हें रात को सताया किन्तु उनकी

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दृढ़ता के समक्ष आखिर हार गया और वे ज्ञान-ध्यान में अपनी सम्पूर्ण रात्रि व्यतीत करके ही वहाँ से लौटे। न वे रात को तनिक भी भयभीत हुए और न ही वहाँ से उठकर उन्होंने किसी अन्य स्थान पर जाने का विचार किया। यही 'निसीइया-परिषह' को सहन करना कहा जाता है।

मुनि गजसुकुमाल ने कितनी अल्पवय में संयम ग्रहण किया था। किन्तु उसी दिन वे साधु की ग्यारहवीं प्रतिमा धारण करके महाकाल श्मशान में ध्यानस्थ हो गये और अपने ससुर के द्वारा दिये गये मरणांतक परिषह को भी सहन करके सर्वदा के लिये शाश्वत सुख के अधिकारी बने।

ऐसी भव्य आत्माएँ ही साधना के पथ पर दृढ़ता पूर्वक अग्रसर होती हैं तथा भयानक कष्टों और उपसर्गों को सहन करती हुई मोक्ष-पद की अधिकारिणी बनती हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

३० | मिलें कब ऐसे गुरु ज्ञानी ?

धर्मप्रेमी बंधुओ, माताओ एवं बहनो !

संवर तत्त्व के सत्तावन भेदों में बाईस परिषह आते हैं और हम क्रम से उनके विषय में आपको बता रहे हैं। कल दसवें परिषह के विषय में कहा गया था और आज ग्याहरवें को लेंगे। ग्यारहवें परिषह का नाम है—'शय्या परिषह।'

इस विषय में श्री उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है—

उच्चावयाहिं, सेज्जाहिं, तवस्सी भिक्खु थामवं।
नाइवेलं विहन्निजा, पावदिट्ठी विहन्नई॥

—अध्ययन २, गा. २२

अर्थात्—ऊँची नीची शय्या आदि से साधु अपने स्वाध्याय आदि के समय का उल्लंघन न करे किन्तु तपस्वी साधु उस परिषह के सहन करने में अपने आपको शक्तिशाली बनाये। जो साधु पापदृष्टि होता है वह संयम का उल्लंघन कर देता है।

भगवान महावीर का फरमान है कि मुनि को विचरण करते समय कहीं पर ऊँची और कहीं पर नीची जगह भी बैठने और सोने के लिये मिलती है। कहीं पर फर्श पक्का होता है, कहीं कच्चा और कहीं तो केवल रेत ही बिछी हुई होती है। अधिक क्या कहें, कभी-कभी तो भीषण गर्मी में भी हमें आपके मोटर गैरेज में ठहरना पड़ जाता है। तो ऐसी स्थिति में भी भगवान का आदेश है कि साधु जैसा भी स्थान मिले, वहाँ ठहरे और ऊंची या नीची जगह भी प्राप्त होती है वहाँ समभाव पूर्वक सोये। किन्तु शय्या के कष्ट से अपने स्वाध्याय आदि के समय का उल्लंघन न करे। जो ऐसा करता है वह पापदृष्टि कहलाता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

साधारणतया शैय्या का ऊँचापन शीत को कम करता है और उसका नीचापन शीतबाधा या शीत के कष्ट का कारण बनता है। पर तपस्वी साधु जैसी भी जगह उपलब्ध हो वहाँ शांतिपूर्वक सहन करे, शीत या उष्ण का कुछ कष्ट भी हो तो वह उसे सहन करे। वह कभी भी अपने आपको शीतादि सहन करने में असमर्थ मानकर अपने ध्यान, चिंतन अथवा स्वाध्याय आदि के समय का अतिक्रमण न करे !

क्योंकि अगर वह अच्छे स्थान की तलाश में तप एवं स्वाध्याय आदि के समय का उल्लघन करता है तो यह मानना चाहिये कि उसकी दृष्टि शारीरिक सुख में है तप-स्वाध्याय में नहीं। और शरीर को सुख पहुंचाने की दृष्टि रखने वाला साधक शरीर के प्रति विरक्त कैसे रह सकता है।

वैसे आप गृहस्थ भी जब एक शहर से दूसरे शहर में जाते हैं तो ट्रेनों में स्थान न मिलने पर रात को जगते हैं, स्टेशन पर भी कष्ट उठते हैं और जैसा मिलता है वैसा बाजार का खाकर रहते हैं। यह तो नहीं कहते कि घर में हम इस तरह सोते थे, इस तरह बैठते थे और ऐसा खाते थे अतः बाहर के ये दुख हम सहन नहीं करते।

तो आप भी जब घर से बाहर निकलते हैं तो अपने घर की अपेक्षा कुछ कष्टकर स्थानों में रहते हैं और कई तरह की मुसीबतें उठाते हैं। तो फिर हमने तो साधुत्व ग्रहण किया है और सभी सांसारिक सुखों से मुँह मोड़ा है पर तब भी अगर परिषहों से घबराकर अपने नित्य-नियम तथा स्वाध्यायादि में बाधा डालें तो संयम का पालन किस प्रकार होगा ?

भगवान की वाणी में साधु को तो यह विचार करना चाहिये :—

पइरिक्कुवस्सयं लद्धुं, कल्लाणमहव पावयं।
किमेगराइं करिस्सइ, एवं तत्थऽहियासए ॥

—उत्तराध्ययन सूत्र, अ० २ गा० २३

साधु क्या विचारे ? इस विषय में कहा है—स्त्री, पुरुष, पंडक आदि से रहित कल्याणकारी उपाश्रय पाकर भी अथवा पापरूप उपाश्रय को प्राप्त करके भी वह हर्ष या शोक का अनुभव न करता हुआ यह सोचे कि यह स्थान एक रात्रि में मेरा क्या बिगाड़ लेगा ? यह विचार कर वहाँ होने वाले शीत या उष्णादि के परिषहों को सहन करें।

सारांश यही है कि साधु विचरण करते समय यह ध्यान तो रखे कि उस स्थान पर कोई स्त्री अकेली न रहती हो, पशु न बँधते हों और कोई नपुंसक न हो।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पर इन सबसे रहित जो स्थान मिल जाय वह चाहे अनुकूल हो या प्रतिकूल एक ही भाव से ग्रहण करे और संयम की दृढ़ता का परिचय देवे। ऐसे सन्त ही साधना के पथ पर अविचलित भाव से चल सकते हैं तथा अपनी आत्मा का कल्याण कर सकते हैं।

एक कवि ने ऐसे समभावी और ज्ञानी सन्त की खोज करते हुए लिखा है :—

मिलें कब ऐसे गुरु ज्ञानी ?
यश-अपयश जीवन-मरण अरु सुख-दुख एक समान ।
मित्र-रिपु एक समलेखे जो मन्दिर और मसान ॥
एक सम गिने लाभ हानि, मिलें कब .....।
काच समान गिने रतनों को माने धन को धूल ।
प्यार-मार को एकसम जाने फूल बराबर शूल ॥
एक है दासी और रानी, मिलें कब .....।

कवि का कहना है—मुझे ऐसे ज्ञानी गुरु कब मिलेंगे जो यश और अपयश को समान समझते होंगे। आज प्रत्येक व्यक्ति अपनी प्रशंसा सुनकर फूला नहीं समाता और निन्दा होने पर क्रोध और बदले की भावना से जल उठता है। पर ज्ञानी पुरुष ऐसा नहीं करते वे यश की आकांक्षा नहीं करते और अपयश की परवाह नहीं करते। वैष्ण व साहित्य में एक कथा है :—

विजय का भी तिरस्कार

एक बार व्रज में एक विद्वान ब्राह्मण दिग्विजय करते हुए पहुंचे। वहाँ पहुँचकर उन्होंने व्रज के विद्वानों को भी शास्त्रार्थ के लिए चुनौती दी। किन्तु वहाँ के विद्वानों ने कहा—हमारे व्रज में तो सनातन गोस्वामी और उनके भतीजे जीव गोस्वामी ही श्रेष्ठ विद्वान हैं। अगर वे आपको विजय पत्र लिख दें तो हम सभी उस पर हस्ताक्षर कर देंगे।

यह सुनकर दिग्विजयी पण्डित सनातन गोस्वामी के यहाँ पहुँचे और उनसे कहा—"स्वामीजी या तो आप मुझसे शास्त्रार्थ कीजिये या फिर विजय पत्र पर हस्ताक्षर कर दीजिये।

गोस्वामी जी ने दिग्विजयी की बात सुनकर बड़ी नम्रता से कहा—"भाई ! अभी हमने शास्त्रों का मर्म ही कहाँ समझा है ? हम तो विद्वानों के सेवक हैं। यह कहते हुए उन्होंने विजय पत्र लिखकर दे दिया।"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दिग्विजयी पण्डित आनन्द और गर्व से झूमते हुए वहाँ से लौटे। मार्ग में ही जीव गोस्वामी मिल गये।

विद्वान् ने जीव गोस्वामी से भी कहा—'आपके ताऊजी सनातन गोस्वामी ने तो बिना शास्त्रार्थ किये ही मुझे विजय पत्र लिख दिया है। आप इसी पर हस्ताक्षर करेंगे या शास्त्रार्थ करेंगे ?"

जीव गोस्वामी युवक थे और प्रकाण्ड पण्डित भी। दिग्विजयी ब्राह्मण का अपने ताऊजी के प्रति तिरस्कार का भाव देखकर उनसे रहा नहीं गया और वे बोले—"मैं शास्त्रार्थ करने को तैयार हूँ।"

दोनों में शास्त्रार्थ प्रारम्भ हो गया पर जीव गोस्वामी के समक्ष दिग्विजयी ब्राह्मण ठहर नहीं पाए और उन्होंने दो-चार प्रश्नों के बाद ही हथियार डाल दिये। अत्यन्त दुखी होकर उन्होंने विजय पत्र फाड़ दिया और मुँह लटकाये वहाँ से रवाना हो गए।

इसके बाद जीव गोस्वामी अपने ताऊजी के पास पहुँचे और अपनी विजय तथा दिग्विजयी ब्राह्मण की पराजय के विषय में बताया। पर आश्चर्य की बात हुई कि सनातन गोस्वामी प्रसन्न होने की बजाय क्रोधित हो गये और अपने भतीजे जीव गोस्वामी से बोले—

'जीव ! तुम तुरन्त यहाँ से चले जाओ। मैं तुम्हारा मुँह भी देखना नहीं चाहता। एक ब्राह्मण को अपमानित और दुखी करके तुम्हें क्या मिला ? यश ? क्या करोगे इस यश का ? यह केवल तुम्हारे अहंकार को ही तो बढ़ाएगा और तुम्हारे जैसा अहंकारी भगवान का भजन कैसे कर सकेगा ? आखिर उस ब्राह्मण को विजयी मान लेने में तुम्हारा क्या बिगड़ता था ?"

बेचारे जीव गोस्वामी अपनी भूल समझ गये और उन्होंने अपने अहंकार एवं यश-प्राप्ति की कामना के लिए पश्चाताप करते हुए अपने ताऊजी से क्षमा माँगी।

तो बन्धुओ, ऐसे यश और अपयश की परवाह न करने वाले निरहंकारी और नम्र हृदय के महापुरुष ही सच्चे सन्त कहला सकते हैं। कवि भी अपने भजन में यही कह रहा है कि यश, अपयश, जीवन-मरण और सुख-दुख को समान समझने वाले गुरु मुझे कब मिलेंगे ?

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कवि सुन्दरदास जी ने भी अपने एक पद्य में कहा है—

काहू सों न रोष तोष, काहू सों न राग द्वेष,
काहू सों न बैर भाव, काहू सों न घात है।
काहू सों न बकवाद, काहू सों नहीं विषाद,
काहू सों न संग, न तो काहू पच्छपात है॥
काहू सो न दुष्ट बैन, काहू सों न लेन देन,
ब्रह्मा को विचार कछू और न सुहात है।
सुन्दर कहत सोई, ईसन को महाईस,
सोई गुरुदेव जाके दूसरो न बात है॥

सुन्दरदास जी कहते हैं—"मेरे तो वही गुरु हैं जो किसी से रुष्ट और किसी से तुष्ट नहीं होते, किसी से राग-द्वेष नहीं रखते, किसी से वैरभाव रखकर उसकी घात करने का प्रयत्न नहीं करते, किसी से बकवाद करते हुए पराजित होकर दुख का अनुभव नहीं करते तथा किसी को कटु वचन नहीं कहते।

आगे कहते हैं—जो किसी की स्वार्थवश संगति नहीं करते और न ही कभी उसका पक्ष लेते हैं। वे केवल प्रभु की भक्ति में लीन रहते हैं और उसके अलावा उन्हें कुछ भी नहीं सुहाता। बस वे ही मेरे गुरु और ईश्वर से भी बड़े हैं।

वस्तुतः ईश्वर की भक्ति करने वाले विरले ही होते हैं। आज संसार में सैकड़ों व्यक्ति ऐसे हैं जो थोड़ा सा कष्ट आते ही कहते हैं—इस दुख से तो साधु हो जाना अच्छा और घर में भी किसी से लड़ाई होते ही साधु बन जाने की धमकियाँ देने लगते हैं। एक मनोरंजक उदाहरण इस विषय में है।

एक घर में दो पति-पत्नी रहा करते थे। पति का स्वभाव बड़ा चिड़चिड़ा और क्रोधी था, किन्तु पत्नी बड़ी चतुर और नरम स्वभाव की थी। पति को क्रोध में देखकर वह अपनी गलती न होने पर भी प्रायः क्षमा माँग लिया करती थी। पर पति प्रसन्न नहीं होता था और हमेशा उसे घर छोड़कर सन्यासी बन जाने की धमकी दिया करता था।

एक दिन पत्नी ने अपने पति से मजाक में कहा—'तुम रोज रोज घर छोड़कर सन्यासी बनने की धमकियाँ देते हो, पर सन्यासी बन नहीं सकते। साधुपना पालना हँसी-खेल नहीं है। मन के सारे विकारों का तथा लोभ-लालच का भी त्याग करना पड़ता है।"

पति बोला—"अगर तुम ऐसा कहती हो तो तो मैं कल ही सन्यासी बनकर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दिखा दूंगा। मुझे तो सारे संसार और धन-दौलत, सभी से विरक्ति हो गई है।" पत्नी ने कहा—

"ठीक है देखूँगी कि किस प्रकार की विरक्ति तुम्हारे दिल में है ?"

पत्नी ने कुछ विचार किया और रात्रि होने पर पान खाकर उस आधे चबाए हुए पान की एक गोली बनाकर अपने पति के पलंग के पास डाल दी। प्रातःकाल जब उसका पति उठा तो उसने पलंग के समीप उस गोली को पड़ी हुई देखी।

पति को उसे देखते ही बड़ी चिन्ता हुई कि यह माणिक यहाँ कैसे पड़ा है ? क्या घर में रात को चोर घुस आए थे ? उसी क्षण उसने पत्नी को आवाज लगाई और कहा—"अरे भागवान ! हमारे तो तकदीर फूट गये। रात को घर में चोर घुसकर सब ले गए हैं शायद ! देखो तो यह माणिक यहाँ गिर पड़ा है।

पत्नी पति की बात सुनकर हँस पड़ी और बोली—"जरा माणिक उठाकर तो देखो।"

पति ने लपककर उसे उठाया, पर वह तो पान की गोली थी अतः गीली-गीली लगी। वह पूछने लगा—"यह क्या माजरा है ?"

पत्नी ने कहा—"मैंने तुम्हारी परीक्षा ली थी कि तुम्हें धन-दौलत से कितनी विरक्ति हुई है ? अगर वास्तव में ही तुम विरक्त हो गए होते तो यहाँ चाहे माणिक होता या मिट्टी, चोर आते या न आते, तुम्हें क्यों चिन्ता होती ? क्या यही तुम्हारे सन्यासी बनने के लक्षण हैं ?

यह सुनकर पति बहुत शर्मिन्दा हुआ और उसने उसी दिन से साधु बनने की धमकियाँ देना बन्द कर दिया।

मराठी भाषा में भी कहा है—

"ज्याचे मन नाहीं लागले हातासी, त्याने प्रपंचासी त्यागू नये।"

अर्थात्—जिसका दिल काबू में नहीं है और मनोवृत्ति शांतिपूर्ण नहीं है, उसे साधुपना नहीं लेना चाहिये। क्योंकि अगर मन पर वश नहीं रहेगा तो साधुत्व का पालन भी वह नहीं कर सकेगा और जगत में हँसी होगी।

वस्तुतः मुनिवृत्ति का पालन करना कोई हंसी-खेल या साधारण बात नहीं है। मन में अनाशक्ति का भाव उत्पन्न होना और जन्म-जन्मान्तरों के मोहमय संस्कारों पर विजय प्राप्त करना बड़ा कठिन है। इसके लिये गंभीर साधना की आवश्यकता होती है। निर्बल आत्माएँ साधना के मार्ग पर दृढ़ता से नहीं बढ़

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सकतीं। संयम मार्ग पर चलने के लिये मनुष्य को अपनी सभी वासनाओं का दमन करना पड़ता है, इन्द्रियों को वश में करना होता है तथा कवि के कथनानुसार जीवन और मरण को भी समान समझना होता है।

साधु के लिये मित्र और शत्रु समान होते हैं तथा महल और मसान यानी श्मशान भी समान महत्व रखते हैं। साधु वृत्ति एक ऐसी कसौटी है, जिस पर मानव के संयम, साहस सहनशीलता, शांति, संतोष, धैर्य एवं पवित्रता की सच्ची परख होती है। इस कसौटी पर विरले पुरुष ही खरे उतरते हैं। कायर और निर्बल व्यक्ति प्रथम तो इसे अंगीकार ही नहीं कर पाते और कदाचित कर भी लें तो उसका पालन नहीं कर सकते।

कवि ने आगे कहा है—मुझे ऐसे गुरु कब मिलेंगे जो धन को धूल और रत्न को कांच समझते होंगे।

वस्तुतः कवि का कथन सत्य है। सच्चा संत वही है जो धन-दौलत को नफरत की निगाह से देखता है तथा उससे विषधर भुजंग के समान बचता है। सच्चे सत की क्या अभिलाषा होती है, और वह किस धन की आकांक्षा करता है यह एक उक्ति से समझा जा सकता है। वह इस प्रकार है—

"ऐ कनाअत तवंगरम गरमां कि—
वेश अज तो हेच नेमते नेस्त।"

अर्थात्—हे सन्तोष ! मुझे तो तू ही दौलतमंद बना; क्योंकि इस संसार में तुझसे बड़ा और कोई भी ऐश्वर्य नहीं है।

वास्तव में ही संतोष के अभाव में तो मनुष्य करोड़पति और अरब पति होने पर भी तृष्णा से पीछा नहीं छुड़ा सकता। संसार की समग्र दौलत भी उसे संतुष्ट नहीं कर सकती। किन्तु जिस समय उसके अन्तर्मानस में संतोष का शान्तिपूर्ण स्रोत प्रवाहित हो जाता है तो उसे अपना शरीर भी बोझ लगने लगता है। वह उसे कायम भी केवल इसलिये रखता है कि उसकी सहायता से कर्मों की निर्जरा होती है, यानी तप, त्याग, ध्यान, साधना, चिन्तन, मनन आदि निर्जरा करने वाली सब क्रियाएँ उसके माध्यम से ही हो सकती हैं।

अगर ऐसा न होता तो वे शरीर टिकाने के लिये भी रूखा-सूखा आहार-रूप भाड़ा देने की फिक्र न करते। वैसे भी उनकी अन्तरात्मा सदा उन्हें यही कहती हुई महसूस होती है कि—

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

घड़ी घड़ी घड़ियाल पुकारै कही है,
बहुत गयी है अवधि अलप हो रही है।
सोवै कहा अचेत, जाग जप पीव रे !
चलिहै आज कि काल बताऊ जीव रे ॥
काल फिरत है हाल रैंण दिन लोई रे !
हणे राव अरु रंक गिणै नहिं कोइ रे।
यह दुनिया बाजिद बाट की दूब है,
पाणी पहिले पाल बँधे तू खूब है ॥

ये सुन्दर पद्य कवि बाजिद के हैं। वे अपने आत्मानुभव से महामानवों की भावनाओं को बता रहे हैं ! भव्य पुरुषों की अन्तरात्मा कहती है—अरे जीव ! दिन-रात अविराम गति से बोलने वाली घड़ी कहती है कि तेरी बहुत जिन्दगी निरर्थक चली गई है और अब तो बहुत थोड़ी ही बची है। इसलिये प्रमाद-रूपी निद्रा में अचेत-सा क्यों पड़ा हुआ है ? अब भी शीघ्र जाग, और प्रभु का नाम जप। इस जीवन का क्या भरोसा है ? तू बटोही के समान ही यहाँ आया है और आज या कल कभी भी प्रयाण कर सकता है।

आगे कहते हैं—"नादान जीवात्मा ! क्या तू नहीं देखता कि काल तो अहर्निश प्राणियों को इस लोक से ले जाने की ताक में घूमता फिरता है और बिना यह देखे कि सामने राजा-महाराजा हैं या दीन-दरिद्र, वह मौका पाते ही उन्हें ले उड़ता है। इस प्रकार यह संसार केवल मार्ग में उगी हुई दूब के समान क्षणिक है। अतः जल्दी जाग उठ, तथा मृत्यु-रूपी पानी का प्रवाह आने से पहले शुभ-कर्मों की पाल बाँध ले जिससे संसार-सागर में तुझे अनन्त काल तक डूबना-उतरना न पड़े।"

तो बंधुओ ! इसी प्रकार महा-मानवों की आत्माएँ अपने आपको उद्‌बोधन देती रहती हैं और इसीलिए वे सदा जागरूक रहकर चाहे एक स्थान पर रहें और चाहे विचरण में, प्रतिपल अपनी साधना को उन्नति की ओर अग्रसर करते रहते हैं।

उनके हृदय में अपनी आत्मा के उद्धार की तथा संसार के अन्य प्राणियों के कल्याण की भावना भी बनी रहती है। इसीलिए वे वर्षाकाल के अलावा भगवान के आदेशानुसार आर्य एवं अनार्य क्षेत्रों में विचरते हुए धर्म प्रचार करते हैं तथा अज्ञानी प्राणियों को उद्‌बोधन देकर उन्हें आत्म-शुद्धि के मार्ग पर लाते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

यद्यपि इस कार्य में उन्हें अनेक परिषहों को सहन करना पड़ता है तथा मार्ग में आहार-पानी की, ठहरने के स्थानों की साथ ही अन्य अनेक कठिनाइयों का मुकाबला करना पड़ता है। किन्तु इन सभी को वे पूर्ण समभाव एवं शांतिपूर्वक सहन करते हुए अपने ज्ञान-ध्यान, चिंतन-मनन एवं पठन-पाठन तथा स्वाध्याय आदि की समस्त क्रियाओं को बिना समय का अतिक्रमण किये हुए करते हैं। न वे ऊँचे-नीचे स्थान की परवाह करते हैं और न शीतादि परिषह की।

ऐसे ही संत सच्चे गुरु कहलाते हैं और जैसा कि अभी भजन में कहा गया है, जिज्ञासु प्राणी उनकी खोज में विकल रहते हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

३१ | स्वागत है पर्वराज !

धर्मप्रेमी बन्धुओ, माताओ एवं बहनो !

आज से लोकोत्तर पर्व, जो पर्युषण पर्व कहलाता है उसका प्रारम्भ हो रहा है। पर्वाधिराज पर्युषण पर्व आध्यात्मिक पर्वों में एक विशिष्ट महत्त्व लिये हुए हैं और इसलिए सर्वश्रेष्ठ पर्व कहलाता है। वैसे प्रत्येक हिन्दू आत्मोत्थान के लिए अनेकों प्रकार के अनुष्ठान करता है किन्तु जैनधर्मावलम्बियों के द्वारा किये जाने वाले धार्मिक अनुष्ठानों में यह सर्वोपरि अनुष्ठान है। जबकि आत्म-मुक्ति का इच्छुक व्यक्ति इन आठ दिनों में सांसारिक प्रपंचों से कुछ अंशों में मुक्त होकर आध्यात्मिक-संसार में विचरण करता है।

पर्वों का महत्त्व

आज के इस युग में जहाँ व्यक्ति भौतिक वस्तुओं की चकाचौंध में अपने अन्तर् की ओर झाँकने का भी अवकाश नहीं पाता वहाँ पर्युषण जैसे पर्व प्रतिवर्ष अपने साथ कुछ नई प्रेरणा, उल्लास एवं नूतन सन्देश लेकर उपस्थित होते हैं। वह सन्देश है—आत्म-जागृति, आत्म-उत्थान एवं कर्म-मुक्ति का।

इन आध्यात्मिक पर्वों के कुछ दिनों में मानव क्रोधादि कषायों और मन के कामादि विकारों से भी कुछ परे हो जाता है। वह जो कुछ सदा नहीं कर पाता वह इन आध्यात्मिक पर्वों में और विशेषकर पर्युषण पर्व के आठ दिनों में करता है। यद्यपि शुभ का आराधन तो यथाशक्य प्रतिदिन ही करना चाहिए। आत्म उद्धार के कार्यों के लिए कोई निश्चित समय नहीं होता। प्रत्येक पल धर्म की आराधना के लिए आवश्यक होता है; किन्तु उस हालत में जबकि सांसारिक कार्यों के

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कारण व्यक्ति समय नहीं निकाल पाता तो इन पर्वों के बहाने से तो उसे कुछ समय पूर्ण रूप से ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र की आराधना में बिताना ही चाहिये और फिर मुख्य रूप से पर्युषण पर्व का तो एक पल भी धर्मध्यान, तत्त्व-चिंतन, जप, तप आदि से रहित नहीं रखना चाहिए।

हमारे आचार्यों ने तो मानव की सांसारिक स्थितियों को ध्यान में रखते हुए अधिक से अधिक सुविधाएँ भी इस संबंध में दी हैं। उन्होंने कहा है—अगर तुम प्रतिदिन तपस्या किसी प्रकार का त्याग नहीं अपना सकते तो, पन्द्रह दिन में दूज, पंचमी, अष्टमी, ग्यारस, और चतुर्दशी को भी कुछ न कुछ तप करो, ब्रह्मचर्य का पालन करो। और पाँच दिन नहीं बनता तो अष्टमी एवं चतुर्दशी, दो दिन भी इन कार्यों के लिये रखो। यह छूट इसीलिये रखी गई है कि व्यक्ति अगर पूरी तरह से अपना समय इन कार्यों में नहीं लगा सकता तो कुछ दिन तो वह मर्यादाओं का पालन करे बिलकुल नहीं से तो इतना भी हो सके तो अच्छा है।

हमारे 'पन्नवणा सूत्र' में कहा गया है कि आयुष्य के तीसरे हिस्से में अगले जन्म के आयुष्य का बंध होता है। किन्तु आज के समय में क्या किसी के आयुष्य का पता चलता है कि उसे कितने वर्ष जीना है? आज हम देखते हैं कि काल न वृद्ध को देखता है, न युवा को और न ही बालक को देखता है। किसी भी उम्र का व्यक्ति किसी भी समय काल-कवलित होता देखा जाता है।

इस स्थिति में कोई भी व्यक्ति कैसे यह जान सकता है कि मेरे जीवन का तीसरा हिस्सा कब है। आज हमारी आंखों के सामने उठती उम्र के अनेकों नवयुवक बीस, तीस और चालीस वर्ष के अन्दर भी तनिक सा बहाना पाकर परलोक सिधार जाते हैं, अतः प्रत्येक व्यक्ति को अपनी उम्र की अनिश्चितता जानकर सदा ही त्याग-नियम एवं व्रतादि अपनाने चाहिये।

कवि बाजिद ने कहा भी है—

गाफिल हुए जीव कहो क्यूं बनत है?
या मानुष के सांस जो कोऊ गनत है।
जाग, लेय हरिनाम, कहां लौं सोय है?
चक्की के मुख पर्यो सो मैदा होय है।

कहते हैं—"अरे अज्ञानी जीव! इस प्रकार गाफिल बने रहने से भला कैसे काम चलेगा? मनुष्य को इस संसार में कितने श्वास लेना है, यह क्या कोई जान सकता है, और उन्हें गिनकर अपने जीवन का तीसरा हिस्सा निकाल सकता है कि उसमें धर्माराधन करके अगले जन्म के लिये उत्तम आयुष्य कर्म का बंध किया जा सके?"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

"इसलिए 'जब जागे तभी सबेरा' समझकर जाग उठ और प्रभु का स्मरण कर। अन्यथा जिस प्रकार चक्की में पड़ा हुआ प्रत्येक दाना पिस जाता है, उसी प्रकार तू भी जन्म-मरण रूपी चक्की के दोनों पाटों में पड़ा हुआ अनन्तकाल तक दुख प्राप्त करता रहेगा।"

आगे फिर कहा है—

आज सुनै कै काल, कहत हौं तुज्झ को,
भावै बैरी जान कै जो तूं मुज्झ को।
देखत अपनी दृष्टि खता क्या खात है,
लोहे कैसो ताव जनम यह जात है॥

कवि कहता है—"भाई ! भले ही तू मेरी बात आज सुने या कल, मैं तो तुझे चेतावनी देता ही रहूँगा। इसके अलावा मुझे तो तू अपना दुश्मन भी समझ ले तो कोई बात नहीं, पर स्वयं अपनी आँखों से देखते हुए भी धोखा क्यों खा रहा है ? यानी तेरी आँखों के सामने ही तो अनेकानेक व्यक्ति प्रतिदिन काल के ग्रास बन रहे हैं। उन्हें इस प्रकार चटपट यह लोक छोड़ जाते देखकर भी क्या तुझे सीख नहीं लगती ? मैं तो तुझे यही कह रहा हूँ कि जब तक मनुष्य के चोले में है, कुछ लाभ उठा ले। एक कहावत भी है कि—

'जब तक लोहा गरम है उसे पीट लो।'

आप जानते हैं कि लोहार लोहे की कोई भी वस्तु बनाना चाहता है तो उसे भट्टी में तपाकर खूब लाल कर लेता है और तब उसे ठोक-पीटकर मोड़ता हुआ मन के माफिक पदार्थ गढ़ता है। यह ध्यान में रखने की बात है कि उस लोहे की तभी कोई वस्तु बन सकती है, जब तक वह गरम रहे। ठंडा हो जाने पर वह पुनः कड़ा हो जाता है और फिर न वह मुड़ता है तथा न ही उससे कोइ वस्तु बनाई जा सकती है।

बंधुओ, यह मानव जन्म भी तपे हुए लोहे के समान है। जब तक यह विद्यमान है, तभी तक इसे धर्मक्रियाओं में मोड़कर इससे परलोक के लिये पुण्यों का संचय किया जा सकता है। किन्तु जैसे लोहा ठंडा पड़कर बेकार हो जाता है, उसी प्रकार यह शरीर भी नष्ट होकर मिट्टी बन जाता है और फिर इससे कैसे शुभ कर्मों का संचय किया जा सकता है ? यह शरीर ही तो मोक्ष-साधना के लिये माध्यम है और इसीलिये यह मिला है, ऐसा मानना चाहिये। क्योंकि अन्य किसी भी योनि में प्राणी शुभ कर्म करके कर्मों की निर्जरा नहीं कर सकता तथा संसार से मुक्त नहीं हो सकता। और तो और स्वर्ग में रहने वाले देवता भी अपनी आत्मा की मुक्ति के

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

लिये प्रयत्न नहीं कर सकते। वे केवल पूर्व-पुण्यों के बल पर स्वर्गीय सुखों का उपभोग करते हैं किन्तु मोक्ष के लिये करनी तो उन्हें पुनः मनुष्य-जन्म लेकर ही करनी पड़ती है। इसीलिये मानव-जन्म को अमूल्य माना गया है। इस जीवन को अरबपति अपनी समस्त सम्पत्ति देकर या चक्रवर्ती सम्राट् अपने छः खंड के राज्य को न्योछावर करके भी खरीद नहीं सकता। केवल महान पुण्यों के उदय से ही यह अनमोल जीवन प्राप्त होता है। इसीलिए इसे कभी निरर्थक नहीं गँवाना चाहिए और इसके प्रत्येक पल का सदुपयोग करना चाहिये।

प्रत्येक बुद्धिमान व्यक्ति को यह समझना चाहिए कि -

नो धत्तं किल मानुषम् वरमिदम् मित्राय पुत्राय वा,
नो धत्तं किल मानुषम् वरमिदम् चित्ताभिरामास्त्रियः।
नो धत्तं किल मानुषम् वरमिदम् लाभाय लक्ष्म्यास्तथा,
किन्त्वात्मोद्धरणाय जन्म जलधेः धत्तं वरम् मानुषम्॥

संस्कृत के इस श्लोक में कवि बड़ी सुन्दर बात कहता है कि हमें यह सर्वश्रेष्ठ मनुष्य-जन्म प्राप्त हुआ है। आपके हृदय में तर्क हो सकता है कि हमारे तो देवता श्रेष्ठ हैं, किन्तु देवता मनुष्यों से श्रेष्ठ क्यों नहीं हैं, यह मैं अभी-अभी आपको बता चुका हूँ कि ऐश्वर्य और सुख की दृष्टि से जरूर देवता मनुष्य से अच्छे हैं किन्तु परलोक के लिए कमाई करने की दृष्टि से नहीं। देव और मनुष्य में यही अन्तर है कि देवता पहले की हुई कमाई को समाप्त करते हैं और मनुष्य आगे के लिये उपार्जन कर लेता है।

तो कवि का कथन यही है कि यह दुर्लभ मानव जन्म हमें मित्र या पुत्र की प्राप्ति के लिए नहीं मिला है, चित्त को प्रसन्न करने वाली स्त्री प्राप्त कर लेने के लिए नहीं मिला है और लक्ष्मी तथा अन्य किसी भी प्रकार का बहुत लाभ हो, इसके लिए भी नहीं मिला है। यह हमें इसलिए मिला है कि इसकी सहायता से हम आत्मा का उद्धार करें तथा संसार-सागर को पार कर सकें।

आप लोग पुण्यवान हैं कि आपको मनुष्य जन्म तो मिला ही है साथ ही संतों की संगति एवं शास्त्र-श्रवण का अवसर भी मिला है। आप बुद्धिमान हैं अतः विचार करना चाहिए कि मित्र, पुत्र, स्त्री एवं धन आदि तो पुण्योदय से प्राप्त हो ही जाता है पर आत्मा का उद्धार सहज में नहीं हो सकता। इसलिए सारा प्रयत्न तो इसी कार्य के लिये करना है। पर यह होना भी सहज नहीं है, इसके लिये बड़ी साधना करनी पड़ेगी और तप और त्याग को अपनाना होगा।

हमारे देश में तो ऐसे-ऐसे महापुरुष हुए हैं जिन्होंने सांसारिक पदार्थों का तो

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

क्या अपने शरीर का मोह भी त्याग दिया तथा उसे अन्य प्राणियों की रक्षा में लगाया।

शरणागत की रक्षा में जीवन अर्पण

महाराजा शिवि के बारे में आपने सुना होगा। इस वैष्णव कथा में बताया जाता है कि राजा शिवि बड़े ही दानी और करुणा के सागर थे। उनकी अतिथि-सत्कार की भावना और शरणागत रक्षा की इतनी कीर्ति फैल गई थी कि देवराज इन्द्र और अग्निदेव को उनसे ईर्ष्या हो गई। और वे शिवि की परीक्षा लेने के लिये उद्यत हो गये।

परीक्षा लेने के लिए अग्निदेव ने एक कबूतर का रूप बनाया और इन्द्र ने बाज का। इसके पश्चात् जबकि राजा शिवि अपने महल के प्रांगण में बैठे थे, कबूतर वेशधारी अग्निदेव आकर उनकी गोद में गिर पड़ा और उसके बाद ही पीछे-पीछे बाज वेशधारी इन्द्र भी वहाँ आ गये। कबूतर बाज के द्वारा खा लिये जाने के भय से बुरी तरह काँप रहा था और छटपटा रहा था। प्राण-भय के कारण वह राजा शिवि के वस्त्रों में छिपने लगा। राजा ने उसके शरीर पर बड़े प्रेम से हाथ फेरा और पुचकारा।

इतने में ही बाज स्पष्ट मानवी भाषा में बोला—"महाराज ! यह कपोत मेरा आहार है। मैं बहुत भूखा हूँ अतः मेरा भोजन मुझे दीजिये। आपका यह धर्म नहीं है कि आप किसी के मुँह का ग्रास छीनें।"

राजा शिवि ने कहा—"तुम्हारा पेट तो अन्य किसी के भी मांस से भर जाएगा। मैं अपने शरणागत को मौत के मुँह में नहीं डालूँगा।"

"तो फिर मैं क्या खाऊँ ? भूख से छटपटा रहा हूँ, अब दूसरा शिकार ढूँढ़ने कहाँ जाऊँगा ?"

शिवि ने सहज भाव से उत्तर दिया—

"तुझे मैं अन्यत्र भटकने नहीं दूँगा। मांस ही चाहिए न तुम्हें ? तो मेरा मांस ले लो और अपनी उदर-पूर्ति करो।"

"पर मैं इस कबूतर के तौल के बराबर ही मांस लूँगा।" बाज बोला।

"मैं उतना ही मांस तुम्हें बराबर तौलकर देता हूँ। घबराओ नहीं।" यह कहते हुए शिवि ने एक बड़ी तराजू वहाँ मँगवाई और उसके एक पलड़े पर भयग्रस्त कबूतर को बैठा दिया और दूसरे पलड़े पर अपनी जंघा का मांस अपने हाथ से काट कर रखा।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पर उसने देखा कि जांघ का मांस कबूतर के वजन से कम है तो दूसरी जंघा भी काटी और उससे भी मांस निकालकर तराजू में डाला। पर कबूतर वाला पलड़ा तो जमीन से ऊँचा उठा ही नहीं। यह देखकर राजा शिवि ने पहले अपना एक पैर और फिर दूसरा पैर भी काटकर तराजू पर रख दिया कि अब तो कबूतर के बराबर वजन हो ही जाएगा।

किन्तु बड़े आश्चर्य की बात हुई कि कबूतर का वजन उससे भी अधिक निकला। तब राजा ने अपना बांया हाथ भी काट कर तराजू के पलड़े पर रख दिया, पर हाल वही था। कपोत के बराबर वजन नहीं हो पाया और पलड़ा नीचे नहीं आया।

यह देखकर भी शरणागतवत्सल शिवि के चेहरे पर एक भी शिकन नहीं आइ और वे स्वयं ही उस मांस वाले पलड़े पर बैठते हुए बाज से बोले—"भाई; मैं स्वयं ही इस तराजू में बैठा जा रहा हूँ और तुम निश्चित होकर मेरे मांस से अपनी भूख का निवारण कर लो।"

इस प्रकार राजा शिवि शरणागत कपोत की रक्षा के लिये स्वयं मरने को तैयार हो गये और बाज के द्वारा खाये जाने की प्रतीक्षा करने लगे। उन्होंने आनन्द से अपने नेत्र मूँद लिये और अन्तिम समय प्रभु का स्मरण करने लगे।

पर कुछ समय तक प्रतीक्षा करने पर भी उन्हें बाज के द्वारा खाये जाने का कोई लक्षण दिखाई नहीं दिया तो उन्होंने नेत्र खोले, पर महान् आश्चर्य के साथ देखा कि एक तरफ तो उनका अंग-अंग अलग हुआ शरीर पुनः अपनी पूर्व स्थिति में आता जा रहा है और दूसरी तरफ बाज और कपोत बने हुए इन्द्र तथा अग्निदेव अपने असली स्वरूपों में खड़े हैं।

यह देखकर महाराज शिवि गद्गद् होकर उठे और दोनों देवताओं को नमस्कार किया। इन्द्र और अग्निदेव ने तब बताया कि हमने आपकी परीक्षा लेनी चाही थी और आप इसमें खरे उतरे हैं। आपकी करुणा और शरणागत रक्षा की भावना को धन्य है। आपके जैसा पुण्यात्मा तो हमारे स्वर्ग में भी नहीं है। यह कहकर दोनों देवता शिवि की सराहना करते हुए वहाँ से चल दिये।

तो बंधुओ, जो भव्य प्राणी जीवन के महत्व को तथा शरीर की अनित्यता को समझ लेता है, वह अपने शरीर से तनिक भी मोह नहीं रखता और अपनी दया तथा करुणा के कारण उसे समय आने पर औरों के लिए अर्पण भी कर देता है।

भगवान नेमिनाथ के विषय में आप सब भली-भांति जानते हैं कि जब वे

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

विवाह करने के लिए दूल्हा बनकर जा रहे थे, मार्ग में बाड़े में कैद पशुओं का हृदय-विदारक करुण-क्रन्दन सुनाई पड़ा।

अपने सारथि से उन्होंने इसके बारे में पूछा और यह जानकर कि वे सब उनके विवाह में बरातियों का भोजन बनेंगे, उसी क्षण रथ को लौटा ले गये। उनके मन में उन मूक प्राणियों के लिए इतनी करुणा उपजी कि वे विवाह करना भूल गये और उसी क्षण आत्म-कल्याण के पथ पर बढ़ गये।

अभी श्लोक में जो कहा गया है कि मनुष्य का जन्म चित्त को प्रसन्न करने वाली स्त्री को पा लेने के लिए नहीं मिला है, इस बात को नेमिनाथ ने पलक झपकते ही समझ लिया और तभी वे अपनी आत्मा का उद्धार कर सके।

किसी कवि ने सत्य कहा है—

पाया है उच्च जीवन इसकी विचारो कीमत।
ऐसा प्रयत्न कर लो कुविचार मन से निकलें॥

वस्तुतः जो व्यक्ति मनुष्य-जीवन की कीमत समझ लेता है वह कभी भी अपने मन में कुविचारों को स्थान नहीं देता। वह जान लेता है कि अच्छा खाने-पीने और भोग-विलास करने के लिये यह जीवन नहीं मिला है। जीवन जन्म-मरण का अन्त करने के लिए प्राप्त हुआ है।

हमारे 'अन्तगड़ सूत्र' में जिन महान् आत्माओं का वर्णन आता है उनके विषय में हम क्यों पढ़ते और सुनते हैं? इसीलिए कि उन्होंने मानव जीवन पाकर ऐसी करनी की थी कि उनकी आत्माओं को पुनः जन्म-मरण की आवश्यकता ही नहीं रही। उन महापुरुषों और महासतियों का नाम लेने से भी अपने पाप-कर्म क्षीण होते हैं। जैसे—'छिद्रहस्ते यथोदकम्।' अर्थात् हथेली में लिये हुए पानी को बड़ी सावधानी से रखा जाय तो भी अंगुलियों के बीच में रहे हुए छिद्रों से वह बूंद-बूंद करके नीचे गिर जाता है। इसी प्रकार संत एवं सतियों की उत्तम करनी के विषय में सुनने पर भी हमारा मन कुछ न कुछ निर्मल अवश्य होता है अत पाप कर्म रूपी जल धीरे-धीरे झर जाता है।

आप लोग कहा करते हैं कि इमली, नीबू अथवा ऐसे ही प्रिय पदार्थों का चिन्तन करने से मुँह में पानी आ जाता है। जबकि ये पदार्थ तो क्षणिक और महत्वहीन हैं। तब फिर महापुरुषों के गुण गान करने से मन में पवित्रता क्यों नहीं आएगी और उससे पाप क्यों नहीं घटेंगे?

मोक्षप्राप्ति

पर्यूषण पर्व में आठ दिन तक 'अन्तगड़ सूत्र' इसीलिए पढ़ा जाता है कि

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इसे सुनने वाले भी अपने जीवन के महत्त्व को समझें और अपनी आत्मा को शुद्धता की ओर ले जाने का प्रयत्न करें। आत्म-शुद्धि के प्रयत्न और धर्माराधन के लिए कोई उम्र या कोई समय निश्चित नहीं होता। महत्त्व होता है व्यक्ति के हृदय में विचारों के बदलने का। जिस दिन मानव यह समझ ले कि जीवन और शरीर क्षणिक हैं तथा हमें इसके द्वारा अधिक से अधिक लाभ उठाना है, उसी दिन से वह आत्म-शुद्धि के मार्ग पर चल सकता है।

अन्तगड़ सूत्र में आपने पहले सुना होगा और अब भी ऐवन्ता कुमार के विषय में सुनेंगे कि उन्होंने कितनी अल्पवय में साधना के मार्ग को ग्रहण कर लिया था। उन्होंने उस समय शास्त्रों का अध्ययन किया था न धर्मोपदेश सुने थे और न ही सन्तों की संगति में ही रहे थे। केवल एक दिन गौतम स्वामी के दर्शन किये थे तो उन्हें अपने घर पर आहार के लिए बाल-स्वभाव के अनुसार अंगुली पकड़ कर ले गये और जब गौतम स्वामी लौटकर भगवान महावीर के स्थान पर पधारने लगे तो उनकी अंगुली पकड़े-पकड़े ही भगवान के दर्शनार्थ साथ-साथ चल दिये।

पर आठ-वर्ष के बालक ही तो थे वे। इधर गौतम स्वामी के हाथ में आहार की झोली थी और सन्त-स्वभाव के अनुसार उन्हें धीर गति से चलना था। अतः यह कहकर कि—"आप तो बहुत धीरे चल रहे, मैं जल्दी से जाता हूँ।" कहते हुए वे उनकी अंगुली छोड़कर भाग खड़े हुए और सीधे भगवान के समीप जा पहुँचे।

बस इतना ही उनका सत्संग था और इसी के प्रभाव से वे दीक्षित हो गये। सन्तों की चर्या और नियमों के विषय में भी कहाँ उन्हें पूरा ज्ञान था? और इसी लिये वर्षाकाल में जब वे सन्त मण्डली के साथ एक दिन प्रातःकाल के समय जंगल के लिए गये तो रात्रि को पानी बरसने से उन्होंने इधर-उधर बहते पानी को देखा तो वहीं बैठ गये। वह किसलिये?—

बहतो पाणी रोक ने सरे,
क्रीड़ा करण रा भाव।
मेली पाणी में पातरी बोल्या-
म्हारी तिरे छे नाव हो अयवन्ता मुनिवर,
नाव तिरायो बहता नीर में।

कवि ने राजस्थानी भाषा में ऐवन्ता मुनि की कथा लिखते हुए बताया है कि ज्योंही आठ वर्ष के उन बाल-मुनि ने मार्ग पर बहता हुआ पानी देखा तो वहीं बैठ गये और जल्दी-जल्दी गीली मिट्टी की पाल बाँधकर पानी एक जगह रोका तथा उसमें अपनी छोटी सी पातरी यानी काष्ट का पात्र डाल दिया और काष्ट का होने

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

से जब वह तैरने लगा तो बड़े हर्ष से बाल-सुलभ चंचलता पूर्वक कहने लगे—"मेरी नाव तैर रही है, मेरी नाव तैर रही है।"

इधर जब पीछे से और सन्त आये तो उन्होंने ऐवन्ता मुनि के इस कृत्य को देखा। यह देखकर कि ऐवन्ता कुमार ने मुनि होकर भी सचित्त जल का स्पर्श किया है तथा मिट्टी की पाल बांध कर उसके पानी में पातरी तैरा रहे हैं, वे लोग बहुत नाराज हुए और कहने लगे—

"भगवान भी बिना सोचे समझे चाहे जिसको दीक्षित कर लेते हैं। क्या ऐसा कार्य साधु के लिये उचित है ?"

कुछ देर बाद भगवान के समीप पहुँचकर भी उन्होंने ऐवन्ता मुनि की शिकायत की। पर बन्धुओ, आप जानते हैं कि भगवान ने उन क्रियानिष्ठ सन्तों को क्या उत्तर दिया ? उन्होंने फरमाया—"सन्तो ! अगर तुम्हें आत्म-कल्याण करना है तो इस बाल-मुनि की सेवा अग्लानि पूर्वक करो। यह सरल और भद्र मुनि ऐवन्ता कुमार इसी भव में मोक्ष प्राप्त करेगा।"

भावना भवनाशिनी

कहने का अभिप्राय यही है कि धर्म का पालन करने के लिए बड़े-बड़े अनुष्ठानों की और लम्बे-चौड़े क्रियाकाण्डों की आवश्यकता भी नहीं है। धर्म सरल और निष्कपट हृदय में निवास करता है। कहा भी है—

'धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई।'

जिसका हृदय शुद्ध है, धर्म का वहीं निवास होता है। ऐवन्ता मुनि ने भले ही सचित्त जल का स्पर्श करके साधु के व्रत में दोष लगाया होगा किन्तु उनके हृदय में दोष-पूर्ण कार्य करने की भावना नहीं थी और दोष भावनाओं पर ही अवलंबित होते हैं। भावनाओं में जहाँ विकार होते हैं, वहाँ उनके अनुसार क्रिया न करने पर भी आत्मा पाप की भागी बनती है और जिसके हृदय में दोषपूर्ण भावनाएँ नहीं होतीं, उसके द्वारा अनजान में दोष-पूर्ण कार्य हो जाने पर भी आत्मा को पाप स्पर्श नहीं करते।

सूक्ति मुक्तावली में कहा गया है—

भावेषु विद्यते देवस्तस्माद्भावो हि कारणम्।

सात्विक भावनाओं में ही ईश्वरत्व का निवास है, अतएव भावनाएँ ही ईश्वर की प्राप्ति में कारणरूप हैं।

इसलिए मुमुक्षु के लिए आवश्यक है कि वह अपनी भावनाओं को शुद्ध और

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

सम्यक रखे। अगर वह ऐसा नहीं करता तो प्रथम तो वह सम्यक् चारित्र का पालन ही नहीं कर सकता और अगर क्रियाएँ उसने कीं भी तो वे शुद्ध फल प्रदायिनी नहीं होतीं।

एक स्थान पर बताया भी है कि—

"नो शुद्ध्यन्ति विशुद्ध भावचपला नैते क्रियातत्पराः।"

अर्थात्—पवित्र भावों में अस्थिरता रखने वाले प्राणी पवित्र नहीं हुआ करते हैं, तथा अस्थिर विचार वाले ये प्राणी सम्यक् चारित्र के प्रति भी स्थिर नहीं रह पाते।

जो प्राणी ऐसा समझ लेते हैं वे स्वयं अपना कल्याण तो करते हैं, औरों के आत्म-कल्याण में भी सहायक बनते हैं। ऐवन्ता मुनि की माता यद्यपि एक मां थी और उनके हृदय में पुत्र के संयम लेने पर अपार दुःख का होना स्वाभाविक था किन्तु उन्होंने अपने पुत्र को आत्म-कल्याण में बाधा देना उचित नहीं समझा; उलटे यह सुन्दर सीख दी—

"बेटा! तू दीक्षा लेने जा रहा है। अतः मेरा विकल और दुखी होना स्वाभाविक है। तेरे प्रति रहा हुआ मोह मुझे सता रहा है एवं तेरा वियोग मेरे लिए अत्यन्त कष्टकर है। किन्तु फिर भी मेरा यही कहना है कि संयम ग्रहण करके तू ऐसी करनी करना, जिससे पुनः किसी माता को तुझे जन्म देकर रोना न पड़े। अर्थात् फिर जन्म लोगे तो फिर दीक्षा लेना पड़ेगी और वह माता भी मेरी तरह रोएगी अतः जन्म-मरण सदा के लिये मिट जाय, इस प्रकार की करनी करना।"

एक माता की कितनी कल्याणकारी शिक्षा थी? आज तो हम देखते हैं कि अनेकों बाल-विधवाएँ जिन्हें दुख के कारण विरक्ति हो जाती है, उन्हें भले ही घर में रहने पर कोई नहीं पूछता, उलटे नाना प्रकार के कष्ट घरवाले देते हैं। पर अगर वे दीक्षा लेकर अपनी आत्मा का कल्याण करना चाहती हैं तो वे ही घरवाले, पड़ौसी और समस्त दूर के रिश्तेदार भी हितैषी बनकर आ खड़े होते हैं और तरह-तरह के रोड़े अटकाते हैं। अगर बहन दृढ़ होती है तब तो वह किसी की परवाह न करती हुई साधना मार्ग को अपना ही लेती है अन्यथा कमजोर दिल वाली फिर से जीवन भर निरर्थक प्रपंचों में पड़ी हुई दुख पूर्ण समय बिताती है और बिना मानव जन्म का लाभ उठाए इस संसार से विदा हो जाती है।

आज इस प्रवचन स्थल पर भी एक प्रकार से भावदीक्षित उन्नीस बहनें उपस्थित हैं। इन सबकी भावना कुछ अध्ययन करके दीक्षा ग्रहण करने की है। मुझे

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इन्हें देखकर बड़ा हर्ष हुआ है कि ये अपनी आत्मा का कल्याण करने की इच्छा रखती हैं। मैं आशीर्वाद देता हूँ कि ये सब जिन भगवान के द्वारा बताये हुए मार्ग पर बढ़ें और अपने भविष्य को सर्वाङ्ग सुन्दर बनाएँ।

हम संत तो सदा ही प्राणीमात्र के कल्याण की भावना रखते हैं तथा भगवान के बताए हुए मार्ग को समझाते हैं। अब इस पर कौन चलता है और कौन नहीं, यह ध्यान रखना हमारा कार्य नहीं है। जिस प्रकार एक इंजीनियर सड़क बनवा देता है तथा वहाँ रही हुई ऊँची-नीची जगहों को समतल कराकर चलने योग्य कर देता है। किन्तु उसके बनवाए हुए मार्ग पर कौन चलता है और कौन नहीं, इसका हिसाब वह नहीं रख सकता।

तो बंधुओ ! हम आपको जिनवाणी के अनुसार दान, शील, तप एवं भाव से युक्त मार्ग आपको सुझाते आ रहे हैं और भरसक सुझाते रहेंगे। पर इन मार्गों पर चलना आपको है और आप कितना चलते हैं, इसका हिसाब आपको ही रखना है।

यह जीवन बार-बार मिलने वाला नहीं है। ऐसा सर्वश्रेष्ठ अवसर पाकर भी अगर आप धर्मकार्यों से उदासीन रहे तो फिर कौन सी योनि में आप यह कर सकेंगे ? सांसारिक कार्यों के प्रति तो आप सदा जागरूक और उत्साही बने रहते हैं। विवाह करने जाते समय यह नहीं कहते कि हमें नींद आ रही है, लक्ष्मी तिलक करने आए तो भी यह नहीं कहते कि मुँह धोकर आते हैं अभी तुम ठहरो, इसी प्रकार रात्रि को बारह बजे तक भी बहीखाते देखते हैं तो पूर्णरूप से सजग रहते हैं कि कहीं कोई अंक गलत न लिख जाय।

परन्तु यहाँ प्रवचन सुनते समय और सामायिक करते समय आपको नींद आने लगती है और झोंके खाते-खाते क्या सुना और क्या नहीं सुना इसका ध्यान नहीं रहता। यह क्यों होता है ? इसलिये ही कि इन कार्यों के प्रति आपके हृदय में उत्साह और लगन नहीं है। इनके प्रति आपकी उदासीनता है।

पर भाइयो ! ऐसे काम कैसे चलेगा ? आपको धर्माराधन भी अन्य सांसारिक कार्यों के समान ही जागरूक रहकर हमेशा करना चाहिये। और हमेशा पूरी तरह नहीं कर सकते तो इस पर्युषणपर्व के शुभ अवसर पर तो सांसारिक प्रपंचों को छोड़ ही देना चाहिए। आप यह विचार करें कि ये दिन गाँवों में लगने वाले हाट-बाजारों के समान मुख्य और अधिक विशेषता लिए हुए होते हैं।

अगर गाँव का व्यक्ति हमेशा तो अपनी दुकान खोले रहे पर हाट के दिन

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

किवाड़ बन्द करके सो जाय तो उसे कितनी हानि होगी ? इसी प्रकार प्रतिदिन तो आप कुछ करते हैं या नहीं ठीक है, पर इन पर्युषण के दिनों में भी अगर चूक गये, कुछ नहीं किया तो आपको भी कितना नुकसान होगा, आपको इसका अन्दाज है ? अगर है, तो फिर मन, वचन एवं शरीर से जो कुछ भी त्याग-तप बन सके, करने का प्रयत्न कीजिये । शास्त्रकारों ने तप का बड़ा महत्व बताया है ।

श्री उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है —

"भवकोडी संचियं कम्मं तवसा निज्जरिज्जइ ।"

—साधक करोड़ों भवों के संचित कर्मों को तपस्या के द्वारा क्षीण कर देता है ।

इसलिये प्रत्येक आत्म-हिताकांक्षी को तपस्या करना चाहिए । हमारे मगन मुनि जी ने स्वास्थ्य नरम होने पर भी इकतीस दिनों के व्रत किये है । इनके साथ भी चार, तीन या जिससे जितना बने करो तो आपकी आत्मा को लाभ होगा । यह मैं अपनी ओर से कहता हूँ । आप कह सकते हैं कि —'हमें तो उपदेश दे रहे हैं पर आप स्वयं क्यों नहीं करते ।' पर यह कोई बात नहीं है । मुझसे जो बनता है, मैं करता हूँ और आपसे जो बने आप करें । मैं एकासन करता हूँ । संत उसके लिए भी मना करते हैं स्वास्थ्य के कारण । किन्तु मेरा कहना है कि जब तक बनता है करूँगा : चन्द्रऋषि जी भी कर रहे थे पर उनका स्वास्थ्य खराब हो गया तो पारणा करना पड़ा । पर तबियत ठीक होते ही इन्होंने पुनः उपवास प्रारम्भ कर दिए हैं । आपको भी इन दिनों में यथाशक्य तप करना चाहिए ।

तप से मेरा आशय केवल उपवास, बेले, तेले या अठाई आदि से भी नहीं है । केवल अनशन ही तप में नहीं आता । इसके अलावा भी वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान, पापों के लिए प्रायश्चित, विनय आदि तप के जो बारह प्रकार हैं, उनमें से जो भी आपसे बन सके और जितनी मात्रा से बनें, सभी उत्तम हैं तथा निर्जरा के कारण हैं । अतः अपनी शक्ति और सामर्थ्य के अनुसार आप जो भी करें वह आत्मा के लिए उपयोगी है ।

सच्चा साधक वही है जो मलिन और हीन भावनाओं को मानस में से निकालकर उनके स्थान पर विशुद्ध भावनाओं को प्रतिष्ठित करे तथा आत्मा की ज्योति को जगाए । जो भी व्यक्ति ऐसा करेगा, वह किसी न किसी प्रकार का तपाचरण स्वतः ही कर सकेगा ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

एक फारसी के कवि ने कहा है—

ज़ाहिर अज़ आमाले नेको पाक कुन ।
बातन अज़ हक़कुल् यक़ीं बेबाक कुन ॥

अर्थात्— हे जीव ! तू अपने बाह्यस्वरूप को शुभ कर्मों के द्वारा पवित्र कर और आन्तरिक भावों का दृढ़ श्रद्धा से उत्थान कर ।

मानव-जीवन के पावन उद्देश्य की पूर्ति इसी मार्ग से हो सकती है और जो ऐसा करेंगे, वे अपने जीवन को सफल बनाते हुए अनन्त सिद्धि हासिल कर सकेंगे । बस इतना ही कहकर मैं आज का प्रवचन समाप्त करता हूँ ।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

३२ | नीके दिन बीते जाते हैं

धर्मप्रेमी बंधुओ, माताओ एवं बहनो !

कल से हमारे यहाँ महापर्व पर्युषण का प्रारम्भ हुआ है। हमारे देश में पर्वों का आगमन सदा होता रहता है। कितने पर्व हमारे हिन्दुस्तान में मनाये जाते हैं उनकी ठीक गणना भी नहीं की जा पाती। किन्तु उनमें से अधिक भौतिक पर्व होते हैं और बाकी आध्यात्मिक पर्व।

इन आध्यात्मिक पर्वों में से सबसे मुख्य पर्युषण-पर्व को माना गया है। क्योंकि भौतिक या सांसारिक पर्व दीवाली, होली, राखी आदि सभी व्यावहारिक पर्व होते हैं और इन्हें आप अच्छा खा-पीकर, अच्छे-अच्छे कपड़े पहनकर, शरीर की साज-सज्जा कर तथा मकानों की सजावट करके मनाते हैं।

किन्तु पर्युषण पर्व इन दृष्टियों से नहीं मनाया जाता है। इसे मनाने का उद्देश्य आत्मा की शुद्धि करना, इसे कर्मों से रहित करना तथा परलोक के लिए शुभ कर्मों का संचय करना होता है। अतः इन दिनों में लोग जप, तप, सेवा, परोपकार, स्वाध्याय तथा दान-पुण्य करते हैं।

ध्यान देने की बात है कि अभी मैंने जिन-जिन शुभ क्रियाओं के नाम बताए हैं वे तथा और भी अनेक उत्तम कार्य तथा त्याग आदि सभी मिलकर कर्मों की निर्जरा करते हैं। यह नहीं कि एक गुण तो अपना लिया और बाकी को छोड़ दिया। उससे क्या बनेगा ? उदाहरण स्वरूप स्वाध्याय तो खूब कर लिया पर क्रोध में दुर्वासा ऋषि ही बने रहे और क्षमा भाव धारण नहीं किया तो क्या अधिक लाभ होगा ? इसी प्रकार यश-प्राप्ति के लिए दान तो दे दिया पर दूसरी तरफ धन

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इकट्ठा करने के लिए अनीति, धोखेबाजी और अनेक प्रकार के हिंसात्मक कार्य करवाते रहे तो उससे कर्मों की निर्जरा कैसे होगी ?

मेरे कहने का अभिप्राय यही है त्याग, व्रत, तपस्या, दान, सेवा आदि सभी गुणों का संगठित रूप ही साधक के आचार को श्रेष्ठ बनाता है तथा आत्म-कल्याण में सहायक बनता है। दूसरे शब्दों में समस्त गुणों का संगठन ही आत्मा को शुद्ध बना सकता है। इसके विपरीत जिस प्रकार एक बड़ा सुन्दर, सुदृढ़ और विशाल खम्भा ही मकान का काम नहीं दे सकता, उसी प्रकार एक गुण को अपना लेने से और अन्य दुर्गुणों का त्याग न करने से मोक्ष की साधना सम्पन्न नहीं होती।

संगठन से लाभ

अभी-अभी प्रसंगवश रतनमुनि जी ने संगठन के विषय में अपने विचार प्रकट करते हुए कहा है कि समाज रूपी मकान बनाने में जब आप सभी समाज के सदस्य संगठित होकर काम करेंगे तो समाज-रूपी विशाल भवन निर्मित हो सकेगा। मुनिजी का कथन सत्य है। वास्तव में ही अपना पेट तो सभी भर लेते हैं। आप भी अपने और अपने परिवार के लिए तो सब कुछ करते हैं किन्तु समाज में कितने दीन-दुखी, असहाय और अभावग्रस्त हैं, क्या इसका हिसाब भी आप रखते हैं ? नहीं, रख भी नहीं सकते, यह एक ही व्यक्ति के बस का रोग नहीं है। सब संगठित होकर कमर कस लें तो सम्पूर्ण समाज का भला किया जा सकता है।

अपने परिवार का और अपना ख्याल सभी रखते हैं पर उससे कभी आपकी आत्मा का लाभ नहीं होता क्योंकि वह सब तो आप मोह और स्वार्थ के वशीभूत होकर करते हैं। उदाहरण स्वरूप आप अपने घर में बीज बोयेंगे तो क्या कुछ ऊग सकता है ? दशहर या गमलों में बोने से कुछ ऊग जाता है पर उससे भी फल प्राप्त नहीं होता। फल प्राप्ति के लिये तो घर से बाहर खुली जमीन में बीज बोने पर ही काम बनेगा।

इसी प्रकार अपने घर-परिवार के लिए चाहे आप हजारों और लाखों खर्च करें तो उससे क्या लाभ है ? लाभ तो समाज के दीन-दुखियों की सहायता करने में है। अपनों की बजाय दूसरों के लिए खर्च करने पर फल भी कई गुना अधिक मिलता है। पर खेद की बात है कि आप लोगों की दृष्टि अपने घर से बाहर नहीं जाती और इसीलिए हमारी कौम अपने प्राचीन गौरव को प्राप्त नहीं कर पाती।

एक कवि ने कहा है—

और कौमें तो बढ़ी, तुम न बढ़े एक कदम।
आंख मलते ही रहे, आंख का जाला न गया॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

कवि दुःख प्रकट करता हुआ कहता है—'अन्य जातियों को देखो, वे अपनी तरक्की करती जा रही हैं पर तुम एक कदम भी बढ़ न सके। इसका कारण क्या है ? यही कि तुम में संगठन नहीं है। आगे वही समाज बढ़ सकता है जब कि उसके सदस्य एकमत होकर किसी भी काम का बीड़ा उठाएँ।

भगवान महावीर ने भी धर्म का उद्धार करने के लिए चतुर्विध संघ की स्थापना की है। वह इसलिए कि चारों अपना-अपना कार्य करें। एक का काम दूसरा बराबर नहीं कर पाता अतः सभी संघों को अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार कार्य करना चाहिए तथा धर्म का प्रचार एवं प्रसार करने में शक्ति लगानी चाहिए।

पिछले दिनों में कान्फरेंस ने बहुत कार्य किया। अजमेर साधु-सम्मेलन के लिए संतों को इकट्ठा करने में बड़े-बड़े धनाढ्य व्यक्ति भी जहाँ साधन नहीं थे, वहाँ पैदल गये। जैसे हैदराबाद वाले लालाजी, अहमदनगर के मूथाजी, और सतारा वाले श्रावक ने जिस प्रकार उत्साह पूर्वक बीड़ा उठाया था, उसी प्रकार कार्य भी किया और संतों के इकट्ठे होने का प्रसंग आया। अन्यथा एक सम्प्रदाय का साधु दूसरे सम्प्रदाय के साधु को देखते ही पीठ फेरकर चला जाता था।

किन्तु इन श्रावकों ने दो पैसे खर्च किये और श्रम भी किया अतः उसका फल कुछ तो मिलेगा ही। यह सही है कि जब वृक्ष लग जाता है तो कुछ कीड़े भी उत्पन्न होते हैं और वृक्ष के खाने का प्रयत्न करते हैं। इसी प्रकार संगठन में जिन्होंने बराबर का हिस्सा लिया था वे ही किन्हीं कारणोंवश अलग हुए और इस प्रकार कीड़े लगने के समान ही संगठन कुछ कमजोर हो रहा है, ऐसा कहने में कोई हर्ज नहीं है।

अगर आज सभी संत एक दूसरे की भावनाओं का आदर करते हुए इकट्ठे होकर काम करें तो बहुत से काम बन सकते हैं। मैं किसी का नाम नहीं लेना चाहता पर जिस संगठन को बनाने में श्रावकों ने लाखों रुपया खर्च किया उसे पुनः तोड़ देना अच्छी बात नहीं है। बिखरी हुई शक्ति से कभी काम नहीं बनता। समाज का भला तो संगठन से ही होगा।

कवि का कहना है कि तुम अपनी आँखें तो मलते रहे पर उसमें आया हुआ जाला नहीं निकाला जो दृष्टि में बाधक बनता रहा है। अर्थात् समाज का भला हो इसके लिए बातें तो करते रहे हो पर असंगठन रूपी जाला नहीं हटा सके। ऐसी स्थिति में काम कैसे होगा ?

बन्धुओ ! अब भी कुछ नहीं बिगड़ा है। समय है अतः जागृत होकर समाज में संगठन हो, उसकी तरक्की हो, धार्मिक शिक्षण की अधिक से अधिक सुविधा लोगों

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

को हासिल हो तथा निराश्रित भाई-बहनों को संरक्षण मिले इसके लिए धन, बुद्धि और विवेक से सम्पन्न लोगों को कदम उठाना चाहिए।

संगठन किन में है ?

कहते हैं कि संगठन का सबक तो काक, कायस्थ और कुक्कुट से लेना चाहिये। कौओं में संगठन की भावना कितनी जबर्दस्त होती है ? उन्हें कहीं भी कोई खाद्य पदार्थ दिखाई दे जाय, फौरन कांव-कांव करके अपनी जाति के अन्य कौओं को बुला लेते हैं। कोई भी कौआ कभी अकेला कुछ नहीं खाता।

इसी प्रकार कायस्थ जाति के लिये भी कहा जाता है कि कायस्थ जाति बड़ी होशियार और संगठित होती है। किसी कचहरी में अगर एक कायस्थ पहुँच गया तो अपने बल पर दस-बीस और भी इकट्ठे कर लेगा।

तीसरा संगठनप्रेमी कुक्कुट माना जाता है। घूरे पर या उकरड़ी पर उसे अन्न के दाने दिख जायें तो उन्हें अपने पैरों से खोद-खोदकर दूर उछालता जाता है ताकि अन्य मुर्गे भी सरलता से उन्हें खा सकें। इस प्रकार काक, कायस्थ और कुक्कुट इन तीनों के द्वारा सम्प का उदाहरण दिया जाता है।

असंगठित कौन रहते हैं ?

अब असंगठितों के विषय में भी सुनिये ! जिनमें सगठन नहीं है, वे हैं— 'वणिक, श्वानो, गजाः द्विजाः।'

असंगठित व्यक्तियों में सर्वप्रथम वणिक का नाम आया है। वणिक अर्थात्— व्यापारी। इनके असंगठन के विषय में तो आप भली-भांति जानते ही होंगे क्योंकि आप में से अधिकांश व्यापारी ही हैं। फिर अपनी प्रवृत्तियों से अनजान नहीं हो सकते। कहने वाले ने इसीलिए कहा है कि एक व्यापारी दूसरे व्यापारी की उन्नति कभी नहीं देख सकता। अब उनसे पूछा जाय कि भाई ! तुम दूसरों को देखकर क्यों जलते हो ? तुम्हें उतना ही तो मिलेगा जितना पूर्वजन्म में पुण्य का उपार्जन किया है। जितना बोया जाता है वही तो फल देता है। तुमने अगर बोया नहीं होगा तो अब मिलेगा कैसे ? पर यह कहाँ सोचते हो आप लोग ? आप चाहे अपना नुकसानकर लेंगे पर दूसरे का भी नुकसान हो यह प्रयत्न जरूर करेंगे। वह कैसे ? इस प्रकार कि आपके पड़ोसी व्यापारी को नफा हो रहा है तो आप अपने वस्तुओं का दाम उस व्यापारी के दामों से दो पैसे कम कर देंगे। इससे आपका भी नुकसान हुआ कि नहीं ? आज के युग में तो बहुत कम ऐसे व्यक्ति होंगे जो अपने से हीन व्यक्ति को सहारा देकर उठाने का प्रयत्न करते होंगे।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पर बंधुओ, प्राचीन काल में ऐसा नहीं था। शास्त्रों में आपने सार्थवाह शब्द कई बार पढ़ा होगा। सार्थ यानी समूह, और वाह यानी वाहक, या वहन करने वाला। इस प्रकार सार्थवाह का अर्थ समूह को लेकर चलने वाला होता है।

उस काल में जो सार्थवाह होते थे यानी सम्पन्न व्यक्ति कहलाते थे, वे व्यापार के लिए जाते समय गाँव के सभी व्यक्तियों को आमंत्रित करते हुए कहते थे—"मैं व्यापार के लिए विदेश जा रहा हूँ, जिसे भी मेरे साथ चलना हो प्रसन्नता पूर्वक चल सकता है। मार्ग का व्यय, खाने-पीने का खर्च तथा वस्त्र एवं औषधि आदि जो भी आवश्यक होगा, सभी का खर्च मैं करूँगा और व्यापार में लाभ हुआ तो सबको हिस्सा दूँगा तथा हानि हुई तो वह मैं ही सहन करूँगा।"

कितनी उदारता, कितना स्नेह और कितने परोपकार की उनमें भावना थी? वे भी तो आप जैसे ही व्यक्ति होते थे किन्तु समाज का और जाति का भला हो यह प्रबल भावना उनके अन्तःकरण में विद्यमान रहती थी। आज कहाँ हैं वैसे लोग? आज तो सार्थवाह में 'व' और जुड़ गया है तथा सार्थवाह के स्थान पर स्वार्थवाह हो गया है। सभी की भावना यह हो गई है कि मुझे अधिक से अधिक मिले।

पर बंधुओ! ऐसी भावना रखने से क्या आपके समाज और आपकी जाति का उत्थान हो सकेगा? क्या आपके धर्म की रक्षा होगी? आपका धर्म क्या कहता है? यही तो, कि संसार के समस्त प्राणियों पर करुणा का भाव रखो, अगर तुम्हारे पास रोटी है तो दूसरे को भूखा मत सोने दो। कल मैंने राजा शिवि के बारे में आपको बताया था कि एक कबूतर के लिए भी उन्होंने अपने शरीर का मांस और वह भी कम होने पर सम्पूर्ण शरीर ही अर्पण कर दिया था।

अब आपको इतना त्याग करने की तो आवश्यकता नहीं पड़ती, पर केवल स्वार्थ का त्याग तो करना चाहिए। इसी प्रकार संसार के समस्त प्राणियों की भी फिक्र आप न करें, किन्तु अपने समाज के अनाथ, असहाय और अभावग्रस्त व्यक्तियों का ध्यान तो रखें। हम साधु हैं। अगर हमें एक स्थान पर सुविधाएँ न मिलीं तो फौरन हम दूसरे गाँव की ओर चल देंगे। किन्तु आपके गाँव में तथा समाज में रहने वाले निराश्रित व्यक्ति और अनाथ बहनें कहाँ जाएँगी? उनके लिए तो आप लोगों का ही सहारा है। और आप संगठित होकर ही उनका सहारा बन सकते हैं।

तो मैं बता रहा था कि असंगठित व्यक्तियों के उदाहरणों में वणिकों का नाम सर्वप्रथम आया है। आप इस कलंक को मिटाएँ तथा स्वार्थवाह न बनकर सार्थवाह बनें, मेरी यही कामना है। आप यह भी कभी न भूलें कि सार्थवाह बनने पर आपकी करणी आपके साथ चलेगी और स्वार्थवाह बनने पर जो इकट्ठा करेंगे

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

वह सब यहीं रह जाएगा। इसलिये मिले हुए जीवन के एक-एक क्षण को आप सार्थक करे, क्योंकि बीता हुआ समय पुनः वापिस नहीं आता।

किसी कवि ने एक भजन में भी यही बात कही है—

दिन नीके बीते जाते हैं।
सुमरण कर नाम जिनन्द का, दिन नीके बीते जाते हैं।
जैसे पानी बीच बतासा, मूरख फंसे मोह की फांसा।
भला क्या जोवे सांस की आसा गये सांस नहीं आते हैं।
दिन नीके बीते जाते हैं।

कवि का कथन अत्यन्त शिक्षाप्रद है। वह कहता है—"अरे भोले प्राणी! जरा विचार कर कि तेरे जीवन के ये सुनहरे दिन किस प्रकार निरर्थक चले जा रहे हैं। जन्म लेने के पश्चात् बचपन में ज्ञान का सम्यक् उदय नहीं होता और वृद्धावस्था आ जाने पर फिर धर्माराधन की शक्ति नहीं रहती। इससे स्पष्ट है कि शैशव और वृद्धत्व के बीच का समय ही त्याग, तपस्या एवं धर्माराधन की अन्य क्रियाओं के लिये उपयुक्त होता है। इस काल में ही व्यक्ति इच्छानुसार शुभ कर्मों का संचय कर सकता है। कवि ने इन्हीं दिनों के लिए कहा है कि ये नीके अर्थात् कुछ कर सकने लायक दिन व्यर्थ जा रहे हैं। इनके चले जाने पर प्रथम तो वृद्धावस्था आएगी या नहीं इसका क्या पता है, और अगर आ भी गई तो उस स्थिति में क्या धर्मक्रियाएं या साधना करना संभव होगा?

कवि सुन्दरदास जी ने कहा है—

देह सनेह न छांड़त है नर,
जानत है थिर हैं यह देहा।
छीजत जाय घटै दिन ही दिन,
दीसत है घट को नित छेहा॥
काल अचानक आइ गहै कर,
आहि गिराइ करै तनु खेहा।
सुंदर जानि यहै निहचै धरि,
एक निरंजन सूं करि नेहा॥

कहते हैं—बुद्धि और विवेक से हीन मनुष्य अपने शरीर के प्रति रहे हुए मोह को कभी भी नहीं छोड़ता। संसार के असंख्य जीवों को सदा मौत के मुँह में जाते हुए देखकर भी वह अपने शरीर को इस प्रकार रखता है जैसे यह सदा ही स्थिर रहने वाला है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बालक जिस समय जन्म लेता है उसी क्षण से उसकी आयु घटती जाती है और युवावस्था के पश्चात् तो शरीर क्षीण होता ही चला जाता है। किन्तु इस बीच में भी काल तो सदा ही मस्तक पर मँडराता रहता है तथा बचपन, जवानी या बुढ़ापे में जब भी दाव लगता है, झपट्टा मारकर जीव को ले जाता है।

इसलिए कवि कहता है कि मन में निश्चय पूर्वक शरीर की नश्वरता को और काल के किसी भी समय के आगमन को समझते हुए निरंजन प्रभु से प्रेम करो और उनकी भक्ति-उपासना करके अपने इस सुनहरे समय को सार्थक करो।

प्रत्येक व्यक्ति को शास्त्र-स्वाध्याय से, धर्मोपदेश श्रवण से एवं सत्संग से लाभ उठाकर जीवन के महत्त्व को तथा साधना के सच्चे मार्ग को समझना चाहिए।

संगति का फल

प्रत्येक प्राणी के जीवन पर संगति का बड़ा भारी प्रभाव पड़ता है। मनुष्य का जीवन वैसा ही बनता है, जैसे उसके साथी होते हैं। एक पाश्चात्य विद्वान् 'गेटे' ने बड़ी महत्वपूर्ण बात कही है—

"Tell me witt whom thou art found and I will tell thee who thou art."

—मुझे बताइये आपके संगी-साथी कौन हैं और मैं बता दूँगा कि आप कौन हैं।

दार्शनिक गटे के कथन का आशय यही है कि किसी व्यक्ति के चरित्र के बारे में अगर हमें सही जानकारी करनी है तो बिना उससे कुछ पूछे भी, केवल उसके साथियों और मित्रों के आचरण के आधार पर ही उस व्यक्ति के चरित्र को जाना जा सकता है।

इससे यह शिक्षा मिलती है कि व्यक्तियों को सदा सज्जन पुरुष की संगति करनी चाहिये। उससे दो लाभ होते हैं—पहला तो यह कि सत्संगति करने से जिनकी संगति की जाती है, उनके सद्गुणों का, सदाचार का एवं सुन्दर विचारों का हम पर प्रभाव पड़ता है यानी हममें भी उनका आविर्भाव होता है। और दूसरा लाभ यह होता है कि हम जिनकी संगति करते हैं उन्हें देखकर अन्य व्यक्ति हमें भी उनके समान सद्गुण सम्पन्न समझते हैं। तो, संगति का जीवन पर बड़ा प्रभाव पड़ता है और दूसरे शब्दों में संगियों के गुणानुसार ही संग करने वाले के जीवन का निर्माण होता है। एक छोटा सा उदाहरण इस विषय को स्पष्ट करता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पक्षियों पर भी संगति का असर

एक जंगल में बहुत से तोते रहते थे। उनमें से एक को एक बार एक भील पकड़कर ले गया और एक को एक ऋषि बड़े प्रेम से ले आए तथा उसे पालने लगे।

ऋषि और भील, दोनों ने अपने-अपने काम के अनुसार तोतों को शिक्षा दी तथा अपने-अपने स्थान पर पिंजरों में बंद करके पेड़ों पर लटका दिया।

एक बार उस प्रदेश का राजा जंगल से गुजरता हुआ अपने महल की ओर जा रहा था कि उसे मार्ग में उसी भील का झोंपड़ा दिखाई दिया जो जंगल से तोते को लाया था।

राजा उस झोपड़े के समीप से ही गुजरा पर वृक्ष पर पिंजरे में बैठा हुआ तोता राजा को देखते ही जोर से बोला—"अरे भीलो ! दौड़ो, यह मनुष्य धनवान है, इसे लूट लो दौड़ो, दौड़ो।"

तोते की यह बात सुनते ही राजा ने घबराकर घोड़े को एड़ लगाई और वहाँ से भाग निकला। घोड़ा भागते-भागते अब ऋषियों के आश्रम के समीप से गुजरा। वहाँ पर भी एक तोता पिंजरे में बन्द था और पिंजरा वृक्ष से लटक रहा था। यह तोता वही था जो ऋषि जंगल के उस स्थान से लाये थे, जहाँ से भील एक तोते को ले गया था।

आश्रम निवासी तोते ने भी राजा को देखा, पर वह राजा को देखते ही चिल्लाया—

"महाराज ! आज अपने यहाँ अतिथि आए हैं। इनका स्वागत-सत्कार करो। जल्दी आओ।"

राजा ने इस तोते की बात भी सुनी और आश्चर्य में पड़ गया। किन्तु वह वहाँ ठहरा नहीं और सांझ पड़ जाने के भय से अपने नगर में आ गया।

राजा को दोनों तोतों की बातों पर बड़ा आश्चर्य हुआ था अतः वह उनकी बातों को भूला नहीं और अगले दिन ही उसने अपने कर्मचारियों को भेजकर दोनों को मंगवाया।

अपने यहाँ मंगवाकर उसने उन दोनों की परीक्षा ली और पाया कि दोनों की बात-चीत वगैरह में बड़ा भारी अन्तर है। भील के पास रहा हुआ तोता सदा 'पकड़ो, मारो, लूटो, हत्या कर दो।' बस इसी आशय के वाक्य बोलता था किन्तु ऋषि के आश्रम में रहा हुआ तोता बोलता था--मन्दिर जाओ, भजन करो, अतिथि की सेवा करो, ध्यान करो, पूजा में बैठो आदि आदि।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

राजा को बड़ा आश्चार्य हुआ कि दोनों ही तोते हैं किन्तु ऐसे विपरीत भाव व्यक्त क्यों करते हैं ? पर जानकारी करने पर मालूम हुआ कि संगति के कारण इन दोनों में इतना अन्तर आया है। भीलों के साथ रहने वाला तोता वैसी ही बातें सुनता रहता है अतः स्वयं भी इसी प्रकार बोलता है और ऋषियों के आश्रम में रहने वाला पूजा-पाठ, भक्ति, सेवा आदि आदि वाक्य सुनता है अतः ऐसी भाषा सीख गया है।

तो बन्धुओ, इसीलिए आपसे बार-बार सत्संगति करने के लिए कहा जाता है। जब विशेष बुद्धि और विवेक से रहित पक्षियों पर भी संगति का ऐसा असर पड़ता है तो फिर मनुष्यों का तो मनुष्यों पर प्रभाव पड़ना कौन सी बड़ी बात है। पर आप लोग इस बात का कहाँ ध्यान रखते हैं ? आप कभी यह नहीं देखते कि आपके बालक कैसे व्यक्तियों की संगति करते हैं ? उन्हें धर्म-स्थान में लाने के लिए कहें तो आप उत्तर देते हैं—"महाराज ! क्या करें आजकल के बालक माता-पिता का कहना ही नहीं मानते। हम तो बहुत कहते हैं पर लड़के आते ही नहीं।"

मुझे यह सुनकर बड़ा खेद होता है कि जब आप अपने बच्चों पर अपना प्रभाव नहीं डाल सकते तथा उनमें अच्छे संस्कार आरोपित नहीं कर सकते तो फिर वे कब धर्म के महत्व को समझेंगे और कब जीवन की सार्थकता के विषय में सोचेंगे ? उनके जीवन का सुनहरा समय या कवि के शब्दों में नीके दिन क्या यों ही नहीं चले जाएँगे ?

भजन में आगे भी कहा गया है—

'जैसे पानी बीच बतासा मूरख फंसे मोह की पासा।' अर्थात् भले ही यह जीवन हमें पचास साठ तथा सत्तर वर्ष का भी दिखाई देता है। किन्तु जबकि हम अनन्तकाल से इस संसार में भ्रमण कर रहे हैं तो उस समय को देखते हुए तो यह केवल इतना ही है जितना समय पानी में डाले हुए बतासे को घुलने में लगता है। इतने से समय में ही यह समाप्त होने वाला है।

किन्तु मूर्ख व्यक्ति फिर भी जीवन के मोह में ही पड़ा रहता है। वह इस बात की आशा करता है कि हम सौ वर्ष जीएँगे। पर क्या कोई इसकी गारण्टी ले पाता है ? अनेकों जीव इस संसार से नित्य जाते हैं। कोई बैठा-बैठा मित्रों से प्रेमालाप करता हुआ अचानक ही समाप्त हो जाता है, कोई सड़क पर ठोकर लगते ही यहाँ से प्रयाण कर जाता है, कोई हास्य विनोद में मग्न है, किन्तु उसी क्षण हृदय की गति रुकते ही निश्चेष्ट हो जाता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तभी तो कहा गया है :—

कौन भांति करतार, कियो है सरीर यह,
पावक के मांहि देखौ पानी को जमावनो।
नासिका श्रवन नैन, बदन रसन बैन,
हाथ पाँव अंग नख, सीस को बनावनो॥
अजब अनूप रूप, चमक दमक ऊप,
सुन्दर सोभित अति अधिक सुहावनो।
जाही छिन चेतन, सकति-लीन होइ गइ,
ताही छिन लागते हैं, सबकूं अभावनो॥

कवि का कहना है कि विधाता ने यह शरीर किस प्रकार का बनाया है? जिस प्रकार अग्नि में जल नहीं ठहरता, उसमें डालते ही विलीन हो जाता है। उसी प्रकार जीवन भी पलक झपकते ही समाप्त हो जाता है।

ऊपर से देखने में तो यह बड़ा सुन्दर मालूम देता है। व्यक्ति के सुडौल नाक, कान, आँखें, मुँह, शरीर, हाथ-पैर तथा अन्य सभी अंग नख से शिखा तक बड़े अनुपम और सौन्दर्य की प्रतिमूर्ति दिखाई देते हैं। किन्तु जब उम्र बढ़ने पर शरीर की शक्ति क्षीण हो जाती है तो वे ही अंग बेडौल दिखाई देने लगते हैं। अर्थात् बड़ी-बड़ी सुन्दर आँखें ज्योतिहीन हो जाती हैं, कमर टेढ़ी हो जाती है, त्वचा झुर्रीदार बन जाती है तथा दांतविहीन मुँह पोपला हो जाता है तो कोई फिर उस शरीर से स्नेह नहीं रखता, उलटे ग्लानि करने लगता है। और जिस दिन इस शरीर-रूपी पिंजरे से आत्मा अलग हो जाती है, फिर तो क्षण भर भी उसकी ओर कोई दृष्टि उठाकर नहीं देखता, तथा भय के मारे उस स्थान से ही दूर भाग जाते हैं।

इसलिए बन्धुओ! हमें जीवन का लक्ष्य केवल अपने शरीर को सजाना, सँवारना और पौष्टिक बनाना ही नहीं मानना चाहिए। अपितु जीवन का लक्ष्य जीवन से मुक्ति प्राप्त करना समझना चाहिये। मेरे कहने का आशय यही है कि हमने मानव-जीवन प्राप्त किया है और यह नर-देह मिल गई है तो इसे नौका बनाकर संसार-सागर को पार करने के उपयोग में लेना चाहिए। हमारा लक्ष्य यही होना चाहिये कि अब हमें पुनः जन्म न लेना पड़े और पुनः कभी मरने का कष्ट भी न उठाना पड़े। जन्म-मरण से सदा के लिये मुक्ति प्राप्त करना ही मानव-जीवन की सार्थकता है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

पर यह हमारा उद्देश्य तभी सफल हो सकता है, जबकि हम संसार के प्रपंचों को कम से कम करें तथा शरीर पर ममता न रखकर इसे तपस्या, त्याग एवं धर्म क्रियाओं में लगाएँ। पर्युषण पर्व के दिन प्रतिवर्ष आकर हमें यही प्रेरणा देते हैं कि हम अपने आप में अधिक उत्साह और अधिक सजगता लाएँ तथा जीव और जगत के रहस्य को समझते हुए आत्म-विश्वास के साथ सम्यक् ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र की आराधना करें तथा दान, शील, तप एवं भावमय जीवन बनाएँ। समस्त सद्गुणों के संगठन से ही श्रेष्ठ जीवन का निर्माण होता है।

ऐसा किये बिना आत्म-शुद्धि संभव नहीं है और आत्म-शुद्धि के बिना मुक्ति की आशा रखना व्यर्थ है। अतः आत्म-बन्धुओ ! हमें जागना है और जागकर अपनी आत्मा को उसके शुद्ध स्वरूप में लाना है। वही हमारे जीवन का उद्देश्य है और वह उद्देश्य हमें पूरा करके जीवन को सफल बनाने का प्रयत्न करना है।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

३३ | सच्चे महाजन बनो !

धर्मप्रेमी बंधुओ, माताओ एवं बहनो !

पर्यूषण पर्व के इन शुभ दिनों में 'अन्तगड़ सूत्र' पढ़ा जा रहा है। इसका अन्तगड़ नाम 'अन्तकृत' भावना को लेकर रखा गया है। इस शास्त्र में उन महान् आत्माओं का चरित्र कहा गया है, जिन्होंने अपनी अन्तरात्मा के समस्त कर्म-बन्धनों को तोड़ दिया है।

हर वर्ष शास्त्र क्यों पढ़ना चाहिए ?

आप लोगों के दिल में विचार आता होगा हर वर्ष इसी शास्त्र को क्यों पढ़ते हैं ? पर भाइयो ! हमें अनेक वस्तुओं की प्रतिदिन जरूरत पड़ती है। और फिर रोटी तो प्रतिदिन एक बार खाने से भी काम नहीं चलता। दिन में दो-तीन बार भी खाते हैं। वह क्यों ? इसलिए कि वह शरीर की खुराक है। पर आत्मा की भी तो खुराक होती है। वह भी प्रतिदिन आहार माँगती है। किन्तु उसे खुराक देने में आप कितनी लापरवाही और कंजूसी करते हैं ? यह इसलिए ही न, कि इसकी भूख का आपको पता नहीं चलता और प्रतिदिन इसे देने की तो बात ही क्या है, साल में आठ दिन भी सच्चे हृदय से देना नहीं चाहते।

कई बार हमारे भाई कहते हैं—'महाराज ! केवल रिवाज होने के कारण ही 'अन्तगड़ सूत्र' हर वर्ष पढ़ते हैं या इससे कुछ लाभ होता है ?" उन अज्ञानी भाइयों को क्या लाभ होता है यह तो हम प्रत्यक्ष रूप से बता नहीं सकते क्योंकि लाभ हथेली पर रखकर दिखाने वाली वस्तु नहीं है। किन्तु उन्हें यह समझा जरूर सकते हैं कि महापुरुषों के चरित्र पढ़ने से हम उन भव्य-आत्माओं के सद्गुणों के

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बारे में जान सकते हैं, उनके धर्माराधन करने के तरीकों को समझ सकते हैं तथा त्याग एवं तपस्या में रही हुई उनकी दृढ़ता से शिक्षा ले सकते हैं। यह क्या कम बात है ?

आप अपने बच्चों को बोलना सिखाते हैं तो क्या बार-बार एक ही शब्द का उच्चारण नहीं करते ? उसे चलना सिखाते हैं तो क्या उसके पुनः-पुनः गिरने पर भी आप उसे पुनः-पुनः खड़ा नहीं करते ? क्यों करते हैं ऐसा ? इसीलिए तो, कि आप बार-बार एक शब्द को बोलेंगे तो वह बोलना सीख जाएगा। यही हाल महामानवों के जीवनचरित्र को बार-बार पढ़ने से होता है। अर्थात्—अगर हम पुनः-पुनः उनके विषय में पढ़ेंगे और सुनेंगे तो हमारा मन भी उनके जैसे सद्गुणों को अपनाने की इच्छा करेगा, उनकी दृढ़ता के विषय में जानने से हमारा आत्म-विश्वास और आत्म-बल बढ़ेगा तथा उनके महान् त्याग के उदाहरण सुनने से हमारी प्रवृत्ति भी सांसारिक एवं नश्वर पदार्थों के प्रति रहे हुए मोह एवं आसक्ति को कम करने की ओर बढ़ेगी।

तो यह लाभ कम है क्या ? क्या हमें अपनी आत्मा को निर्मल बनाने के लिए महापुरुषों के जीवनचरित्र पढ़ना आवश्यक नहीं है ? मैं तो कहता हूँ कि आवश्यक ही नहीं वरन् अनिवार्य है। ऐसा किये बिना हमारा सोया हुआ आत्म-बल कभी जाग नहीं सकेगा, और जब आत्म-बल या आत्म-विश्वास जागेगा ही नहीं तो हम आत्म-मुक्ति के प्रयत्न किस प्रकार दृढ़ता पूर्वक सम्पन्न कर सकेंगे ? मानव जीवन की तो सार्थकता ही धर्म को अपनाने में, और उसे अपनाकर अपनी आत्मा को कर्मों से मुक्त करने में है। अन्यथा इस संसार में तो अनन्त प्राणी जन्म लेते हैं और जैसे-तैसे जीवन यापन करके मर जाते हैं और फिर किसी योनि में जन्म लेते हुए इस जन्म-मरण के चक्र में सदा घूमते ही रहते हैं।

इसी बात का अनुभव महात्मा कबीर ने किया था जो शब्दों में इस प्रकार कहा जाता है :—

चलती चक्की देख कर, दिया कबीरा रोय।
दो पाटों के बीच में साबित बचा न कोय॥

दोहा नया नहीं है। इसे आप में से अधिकांश व्यक्ति जानते हैं और अनेक बार सुनते या पढ़ते रहते हैं। किन्तु इसका अर्थ बड़ा गूढ़ है और उसकी तह तक पहुंच जाय वह इस संसार-सागर से पार उतरने के लिए छटपटाये और विकल हुए बिना रह नहीं सकता। जन्म और मरण की यह चक्की बड़ी भयंकर है। जिस प्रकार पत्थर के दो पाटों में अनाज के असंख्य दाने नित्य पिसकर चकनाचूर होते रहते हैं, उसी प्रकार

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

जन्म-मरण के दोनों पाटों के बीच में भी अनन्त जीव सदा पिसते रहते हैं, यानी जन्म लेते और मरते रहते हैं।

तो कबीर जैसे सभी महापुरुष इस भयानक चक्की को देखकर रो पड़ते हैं और इससे मुक्त हो जाने के लिए छटपटा उठते हैं। पर केवल छटपटाने या चाहने से ही तो आत्मा की मुक्ति जैसा महान् मनोरथ सिद्ध नहीं हो सकता। उसके लिए वे उपाय करते हैं और वह उपाय होता है धर्म का अवलम्बन ग्रहण करना। वे धर्म को ग्रहण करते हैं तथा दृढ़ता पूर्वक उसका पालन करते हुए भव-सागर को पार कर जाते हैं।

एक कवि ने अपने पूर्व महापुरुषों का स्मरण करते हुए नई पीढ़ी को प्रेरणा दी है तथा कहा है—

ओ वीरों की सन्तान, करो कुछ ध्यान न फूट बढ़ाओ,
अब तो निज धर्म बढ़ाओ।
वे पूर्वज कितने नामी थे, बस एक प्रेम के हामी थे,
जाति में अब तो प्रेम की धार बहाओ।
अब तो निज धर्म बढ़ाओ।

कवि का कथन है—'बन्धुओ ! आप लोग वीरों की सन्तान हो। किन वीरों की ? उन धर्मवीरों की जो धर्म के बल पर आत्मा के प्रबल शत्रु आठों कर्मों से जीवन भर संघर्ष करते रहे और अन्त में उन्हें पछाड़ कर उनसे मुक्त हो गये।'

हम सभी उन भगवान महावीर की संतान हैं, जिनके लिए सेवा करने वाले इन्द्र और त्रास देने वाला चण्डकौशिक समान थे। प्राणिमात्र के लिए जिनके अन्तः-करण में स्नेह की अजस्र सरिता प्रवाहित होती थी। किन्तु क्या आज हम उनके पदचिह्नों पर चल सके हैं ? नहीं, प्राणिमात्र के लिये तो क्या अपनी जैन जाति के प्रति भी हमारा अभिन्न भाव नहीं रहा है। परिणाम यह हुआ है कि भाई-भाई आपस में लड़ते हैं तथा धर्म के नाम पर अनेकों अनर्थ घट जाते हैं।

इसलिए अपने उन पूर्व पुरुषों का स्मरण करते हुए तथा सभी को महावीर का अनुयायी समझ करके आपसी वैमनस्य को मिटा डालो और फूट के अंकुरों को जड़ से उखाड़ दो। ऐसा करने पर ही हम अपने धर्म के प्रति वफादार बन सकेंगे तथा उसे सही स्वरूप में प्रतिष्ठित कर सकेंगे।

हमें सदा चिन्तन करना है कि हमारे पूर्वज कैसे थे और उनके अन्तःकरण में जगत के समस्त जीवों के लिये स्नेह की कैसी जबर्दस्त भावना थी। वे जानते थे कि राग और द्वेष ये दोनों ही आत्मा को अधिकाधिक पतन की ओर ले जाने वाले हैं।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अतः हम इनके वश में रहकर अगर व्यर्थ के प्रपंचों में उलझे रहे, वैमनस्य पैदा करके कषायों के बंधनों को मजबूत करते रहे तो फिर आत्मा को अपने सही स्वरूप में कब ला सकेंगे ? क्योंकि काल तो सदा सिर पर मंडराता ही रहता है, न मालूम कब उठाकर ले जाएगा। उनका यह चिन्तन उन्हें सदा कर्तव्य-रत बनाए रहता था और वे बिना समय गँवाए हुए तथा बिना निरर्थक कर्म-बन्धन करते हुए अपने धर्म में जागरूक रहते थे।

शास्त्रकारों ने कहा भी है —

जं कल्लं कायव्वं, णरेण अज्जेव तं वरं काउं ।
मच्चू अकलुणहिअओ, न हु दीसइ आवंयतो वि ।

—बृहत्कल्पभाष्य ४६७४

—जो कर्तव्य कल करना है वह आज ही कर लेना अच्छा है। मृत्यु अत्यंत निर्दय है, यह कब आकर दबोच ले, मालूम नहीं, क्योंकि वह आती हुई दिखाई नहीं पड़ती।

वस्तुतः जो व्यक्ति चिंतन करता है वह अपने कर्तव्य को समझ लेता है, और उसका पालन करने में तत्पर रहता है। परिणाम यह होता है कि वह अपने जीवन को सार्थक करने के लिए शुभ-कर्म की साधना में संलग्न बना रहता है। किन्तु इसके विपरीत जो आत्म-चिंतन नहीं करता वह दुनियादारी के प्रपंचों में ही सदा पड़ा रहता है। दुनियादारी के लिए तो आप सदा ही चिन्तन करते हैं। अपने व्यापार-धंधे के लिये, लड़के लड़कियों की ब्याह-शादियों के लिये और मकान आदि बनवाने के लिये तो आप रात-दिन एक करते हैं पर यह चिंतन बाह्य और निरर्थक है। मैं आपसे आत्म-चिन्तन की बात कह रहा हूँ। अपना धर्म क्या है ? समाज के प्रति कर्तव्य क्या है और आत्मा की मुक्ति का रहस्य क्या है ? क्या इन सबका चिंतन भी आप कभी करते हैं ?

अपनी भौतिक संपत्ति का आप बारह महीने में हिसाब देखते हैं, आढ़ावा निकालते हैं। किन्तु क्या कभी इसका भी आढ़ावा निकालते हैं कि मैंने अपनी जाति, समाज और देश के लिये क्या किया, अथवा आत्मा के कल्याण के लिए कितना त्याग और तप किया ? नहीं, यह आपके चिंतन में कभी नहीं आता। इसलिए आप अपने भाई से लड़ते हैं, समाज की उपेक्षा करते हैं और धर्म के नाम को कलंकित करते हैं।

ध्यान में रखने की बात है कि भले ही ऊपर से दिखाई देने वाले व्यवहार में आप अलग मालूम पड़ते हों, पर आत्मिक स्नेह में अन्तर नहीं होना चाहिए। ठीक खरबूजे के समान, जो ऊपर से अलग-अलग फाँकों के रूप में दिखाई देता है पर

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अन्दर से पूर्णतया एक होता है। किन्तु आज तो हम देखते हैं कि लोग ऊपर से प्रेम दिखाते हैं पर अन्दर ही अन्दर खींचातानी में पड़े रहते हैं। उस संतरे के समान, जो ऊपर से तो एक और सुन्दर दिखाई देता है मगर अन्दर फांकें होती हैं और फांकों में भी अलग-अलग गण होते हैं।

अरे भाई ! मैं आप लोगों से यह पूछता हूं कि अलग-अलग रहकर आप कौनसा कार्य सिद्ध कर लोगे ? एक होकर रहने से तो एक दूसरे के सुख-दुःख को समझोगे, और एक-दूसरे के सहायक बनोगे। हमारा धर्म तो कहता है — आत्मवत् सर्व भूतेषु।' यानी जगत के समस्त प्राणियों को अपने समान समझो। फिर मानव-मानव में तो अन्तर है भी क्या ? यह महाराष्ट्र का, यह गुजरात का, यह काठियावाड़ का और यह पंजाब का है, ऐसा समझने से काम नहीं चलेगा। सभी को अपना भाई समझो और आवश्यकतानुसार उनका भला करो।

कल मैंने आपको कहा था कि अपने आपको सार्थवाह बनाओ, स्वार्थवाह मत बनाओ। अर्थात् खुदगर्जी मत रखो, अपने समाज के अन्य व्यक्तियों का भी ध्यान रखो। अगर प्रत्येक सम्पन्न व्यक्ति अपने समीपस्थ व्यक्तियों के दुःख-सुख का ध्यान रखे तथा उनके अभावों को दूर करने का प्रयत्न करे तो समाज में कोई भी दुखी या अभावग्रस्त न रह जाय।

हम इतिहास में पढ़ते हैं कि पाली शहर में पहले करीब एक लाख पोरवालों के घर थे। वहाँ पर अगर कोई नया व्यक्ति आकर बसना चाहता तो वहां के सभी व्यक्ति उस आगंतुक को एक-एक ईंट और एक-एक रुपया देते थे। फलस्वरूप ईंटों से उसका मकान बन जाता और साथ ही एक-एक रुपया पाकर वह लखपति भी बन जाता था। जरा विचार कीजिये कि एक घर से एक मिट्टी की ईंट और एक रुपया देना क्या बड़ी बात है ? क्या फर्क पड़ता है इसमें ? महापुरुष तो अपने शरीर को भी औरों के भले के लिए त्याग देते हैं।

अस्थिदान

वैष्णव साहित्य में महर्षि दधीचि के विषय में कथा आती है कि उन्होंने अपने शरीर की हड्डियाँ ही परोपकार के लिये दे दी थीं।

कथा इस प्रकार है कि वृत्रासुर ने अपने असुरों के साथ देवताओं पर आक्रमण किया और अमरावती पर कब्जा कर लिया। स्वर्ग पर अधिकार करके असुर वहाँ मनमानी करने लगे तथा वहाँ के उद्यानों को भी तहस-नहस कर डाला। देवताओं के समस्त शक्तिशाली अस्त्र-शस्त्र व्यर्थ चले गये और वे असुरों को हरा कर भगा न सके।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार देवताओं की स्थिति बड़ी शोचनीय हो गई और उन्हें अपने त्राण का कोई उपाय नहीं सूझा। हारकर वे जगत्पालनकर्ता भगवान विष्णु की शरण में पहुंचे और उनसे सारा हाल बताया तथा अन्त में पूछा—"भगवन्! हमें इस संकट से मुक्ति कैसे मिल सकती है, इसका उपाय कृपा कर आप ही बताइये अन्यथा हम सब बेमौत मारे जाएंगे।"

विष्णु ने उन्हें बताया कि और तो वृत्रासुर को मारने का कोई उपाय नहीं है, पर अगर महर्षि दधीचि की अस्थि से विश्वकर्मा वज्र बनाएँ तो उस वज्र के द्वारा इन्द्र वृत्रासुर को मार सकते हैं।

अब समस्या यह सामने आई कि जीवित महर्षि दधीचि की अस्थियाँ कैसे प्राप्त की जाएँ? उन महातपस्वी के साथ बलप्रयोग करके अस्थियाँ लेने का प्रयत्न करने पर तो वे देवताओं को शायद भस्म ही कर डालेंगे। सब विचार में पड़ गये कि क्या किया जाय? अन्त में उन्हें केवल यही एक उपाय सूझा कि ऋषि से अस्थियों के लिए याचना की जाय।

सब देवता अब महर्षि के आश्रम में पहुंचे और अपनी भयानक विपत्ति का उल्लेख करके उन्होंने उनसे अस्थि की याचना की। माँग भी कितनी अद्भुत थी? जीवित व्यक्ति की हड्डियों की याचना करना क्या साधारण बात थी और क्या ऐसा दान कोई साधारण व्यक्ति कभी दे सकता है।

किन्तु महर्षि असाधारण व्यक्ति थे। और इसीलिए देवताओं की संकोच भरी यह मांग सुनकर उनका हृदय उल्लास से भर गया। वे अपूर्व प्रसन्नता पूर्वक बोले—"इसमें संकुचित होने की क्या बात है? जन्म लिया है तो एक दिन मरना ही है। यह शरीर नश्वर है, अतः इसे निश्चय ही नष्ट होना है। मेरे लिये परम सौभाग्य की बात है कि इस देह के द्वारा कुछ उपकार हो सकेगा।"

महर्षि दधीचि ने देवताओं को संबोधन करके पुनः कहा—"मैं अभी समाधि में स्थित होकर देहत्याग करता हूँ। आप लोग मेरी अस्थियाँ लेकर अपना उद्देश्य सिद्ध करें।"

अपने कथनानुसार दधीचि आसन लगाकर समाधि में बैठ गए और योग के द्वारा शरीर का इस प्रकार त्याग कर दिया, जैसे कोई सड़ा-गला और पुराना वस्त्र उतार कर फेंक देता है। उसके पश्चात् जंगली पशुओं ने उनकी निष्प्राण देह से मांस को खा लिया तथा अवशिष्ट अस्थियों से विश्वकर्मा ने वज्र बनाया और अमरों ने संकट से छुटकारा प्राप्त किया।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

तो बंधुओ, ऐसे-ऐसे महापुरुषों के उदाहरण व्यक्तियों को परोपकार की शिक्षा देते हैं तथा दान के ज्वलंत आदर्श प्रस्तुत करते हैं। मैं तो आपको बहुत साधारण से त्याग और सहृदयता लिए अपील कर रहा हूँ। धन्ना और अरणक सार्थवाह श्रावक थे लेकिन अपने जाति-भाइयों का कितना भला करते थे ? आप भी उन्हीं के वंशज हैं अतः अपने पूर्वजों के पदचिह्नों का यथाशक्य अनुसरण आपको करना ही चाहिए। ऐसा करने पर ही आपके समाज का भला होगा तथा धर्म का गौरव बढ़ेगा।

किसी अन्य कवि ने भी लिखा है—

पर का दुख देख सहाय करो,
बिगड़े नहीं धर्म उपाय करो।
शुभ करणी अवसर पाय करो,
इतनी वय बीत गई सो गई।
जिनराज भजो अहंकार तजो,
पछतावो नहीं जो भई सो भई।

कवि का आशय यही है कि मनुष्य पर-दुःखकातर बने तथा अविलम्ब दूसरों के दुःखों को मिटाने के लिए तत्पर हो जाय।

वह अपने कर्तव्य का पालन इस प्रकार करे कि धर्म की महत्ता घटे नहीं वरन बढ़ती चली जाय।

वह आगे कहता है—जो उम्र बीत गई सो तो गई, उसके लिए पश्चात्ताप करने की जरूरत नहीं है। आवश्यकता यही है कि अब अवसर पाते ही शुभ-करणी की जाय तथा अहंकार का त्याग करके प्रभु के भजन में चित्त लगाया जाय। इस संसार में अहंकार सब अनर्थों की जड़ है। जिसके हृदय में यह घर कर लेता है, उसे कहीं का भी नहीं छोड़ता। रावण, कंस एवं दुर्योधन आदि अपने अहंकार के कारण ही दोनों दीन से गये थे। अहंकार अन्य दुर्गुणों का राजा भी है। जब यह आता है तो अकेला नहीं आता है।

सर्वप्रथम तो उसका वह साथी जिसे छिद्रान्वेषण कहा जा सकता है, वह आता है और उसकी सहायता से अहंकार औरों के दोष देखना प्रारम्भ करता है।

इस विषय में कवि सुन्दरदास जी ने एक पद्य में लिखा है—

अपने न दोष देखे पर के औगुण पेखे,
दुष्ट को स्वभाव, उठि निंदा ही करत है।
जैसे कोई महल सँवारि राख्यो नीके करि,
कोरी तहां जाय छिद्र ढूँढ़त फिरत है॥

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

भोर ही तें सांझ लग, सांझ ही तें भोर लग,
सुंदर कहत बिन ऐसे ही भरत है।
पांव के तरे की नहीं सूझै आग सूरख कूं,
और सूं कहत तेरे सिर पै बरत है॥

छिद्रान्वेषी व्यक्ति के विषय में कवि ने कहा है कि ऐसा व्यक्ति अपने अवगुण नहीं देखता, वह औरों के दोष ही ढूँढ़ता फिरता है। जिस प्रकार किसी ने बड़ा सुन्दर प्रासाद बनाया हो और कहीं भी उसमें किसी प्रकार की कोई कमी न रखी हो, पर अगर एक कीड़ी वहाँ पहुँच जाय तो वह उसमें छोटा सा छिद्र भी ढूँढ़ ही लेती है।

सुबह से शाम और शाम से सुबह तक वह यही करता है। कवि ऐसे व्यक्ति को तिरस्कृत करता हुआ कहता है कि वह मूर्ख अपने पैरों के नीचे जलती हुई आग को तो देखता नहीं पर दूसरों से कहता है कि तेरे सिर पर की पगड़ी जल रही है।

बंधुओ, यही हाल आज हमारे समाज में रहने वाले व्यक्तियों का है। सब एक दूसरे की बुराई करते हैं तथा औरों की पगड़ी उछालने के प्रयत्न में लगे रहते हैं, पर स्वयं में रहे हुए दुर्गुणों की पहचान नहीं कर पाते। अपने आपको वे सर्व-गुणसम्पन्न मानते हैं और अन्य सभी को दुर्गुणी। पर सज्जन पुरुष ऐसा नहीं करते। वे औरों के दोष देखने में अरुचि रखते हैं तथा अपने में रहे हुए दोषों को खोजते हैं। ऐसे व्यक्ति ही अपनी आत्मा को सरल, निर्मल एवं दोषरहित बना सकते हैं। भव्य आत्माएँ तो औरों के दोष देखना दूर, किसी को तनिक से दुख में भी नहीं देख सकतीं। उनका हृदय सदैव पर-दुःखकातर बना रहता है तथा वे हर सम्भव प्रयत्न के द्वारा उनके दुख को मिटाने का प्रयत्न करते हैं, चाहे इसके लिए स्वयं उन्हें कैसे भी कष्ट क्यों न उठाने पड़े।

नारकीय प्राणियों की मुक्ति

पुराण की एक कथा में बताया गया है कि किसी महान् पुण्यात्मा राजा का शरीरान्त हो गया। वैसे वह राजा स्वर्ग का अधिकारी था, किन्तु छद्मस्थ जीवन होने के कारण कुछ छोटी-मोटी भूल उससे हुई थीं और इस वजह से एक बार उसे नरक में से गुजरने का विधान था।

जब उसका देहान्त हुआ तो धर्मराज के दूत उसके जीव को लेने आए और बड़े आदर व सम्मान की भावना से उसे ले चले। पर धर्मराज ने अपने दूतों को आदेश दे रखा था कि—'राजा ने असंख्य पुण्यों का संचय किया है अतः उन्हें स्वर्ग तो लाना ही है किन्तु उन्होंने जीवन में प्रमाद के कारण जो भूलें की हैं, उसके कारण नरक का

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

दर्शन कराना भी अनिवार्य है। अतः उन्हें स्वर्ग में लाने से पूर्व नरक में से एक बार गुजार कर लाना। यह ध्यान रखना कि वहाँ उन्हें किसी प्रकार का कष्ट न हो तथा किसी प्रकार का अपमान और तिरस्कार का अनुभव भी न हो। क्योंकि उनके सामान्य दोषों का फल एक बार उनके लिये नरक का दर्शन कर लेना ही काफी है।"

धर्मराज की इस आज्ञा के अनुसार सेवक राजा के जीव को नरक के मध्य से ले चले। राजा के लिए तो वहाँ का मार्ग सुखद और कष्ट-रहित था किन्तु नारकीय जीवों की हृदय-विदारक करुण-क्रन्दन की ध्वनियाँ उनके कानों में कुछ क्षण के लिये पड़ीं और फिर बन्द हो गईं।

राजा ने चकित होकर पूछा—"ये कौन अभी-अभी चीत्कार कर रहे थे और करुण-क्रंदन कर रहे थे और करुण-क्रन्दन से कानों को फोड़ रहे थे।"

दूतों ने उत्तर दिया—"देव ! ये सब पापी जीव हैं जो नरक के कष्टों से दुखी होकर चीत्कार कर रहे थे।"

"पर उनकी चीत्कारें अब एक दम ही बंद कैसे हो गई ?" राजा ने और भी आश्चर्य से पुनः प्रश्न किया।

धर्मराज के दूत बोले—"महाराज; आप जैसे असंख्य पुण्यों के अधिकारी यानी पुण्यात्मा पुरुष यहाँ से गुजर रहे हैं अतः आपके शरीर को स्पर्श करके बहने वाली शीतल वायु ने इन पापियों के नारकीय और दारुण ताप को कुछ पल के लिये शांत कर दिया है। यही कारण है कि वे चुप हो गये हैं।"

इसी समय पुण्यात्मा नरेश को चारों ओर से आने वाली आवाजें सुनाई पड़ीं कि—"महाराज ! आप अभी यहाँ से जाएँ नहीं। आपके यहाँ खड़े रहने से हमारे जलते हुए शरीरों को बड़ी शांति मिली है। कृपया और कुछ देर रुकें।"

राजा ने जब नारकीय जीवों के इन शब्दों को सुना तो उनके हृदय में उन लोगों के दुखों के कारण हलचल मच गई और उन्होंने कुछ पल मन में विचार करते हुए धर्मराज के दूतों से कहा—"तुम लोग जाओ ! मेरे अगर यहाँ रहने से इन दुखी जीवों को कुछ शांति मिलती है तो मैं यहीं नरक में रहूँगा।"

दूत राजा की बात सुनकर मुँह बाये खड़े रह गये, पर फिर अपने स्वामी धर्मराज के पास दौड़े और उन्हें पुण्यवान राजा की बात कह सुनाई, साथ ही कहा—"प्रभु, हम उस धर्मात्मा पुरुष को बलपूर्वक भी नहीं ला सकते। वह तो कहता है मैं नरक में ही रहूँगा।"

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

अब धर्मराज और स्वयं इन्द्र भी विचार में पड़ गए। सोचने लगे—"इतना पुण्यात्मा पुरुष नरक में कैसे रह सकता है ? आखिर वे दोनों ही नरक में राजा को समझाने के लिए आये और बोले—"राजन् ! आप महान् धर्मात्मा और भारी पुण्य के अधिकारी हैं ? हम आपको नरक में कैसे रहने दे सकते हैं ? आप तो अपने स्थान स्वर्ग में ही चलिये।" इस प्रकार अमरावती के अधीश्वर को भी नरक में पुण्यात्मा राजा के जीव को बुलाने आना पड़ा। साथ में विमान भी था उन्हें ले जाने के लिये।

किन्तु राजा अपनी बात से टस से मस नहीं हुए। वे दृढ़तापूर्वक बोले—आप देख रहे हैं कि ये लक्ष-लक्ष नारकीय जीव कितनी यन्त्रणा यहाँ पा रहे हैं। इसलिए मैं अपना सम्पूर्ण पुण्य इन दुखी जीवों को दान करता हूँ। आप उसके बल पर इन्हें यहाँ से ले जावें।" यह कहते हुए राजा ने जल हाथ में लेकर संकल्प कर दिया।

थोड़ी ही देर बाद राजा ने देखा कि वे सारे नारकीय जीव विमानों में बैठ-बैठकर स्वर्ग की ओर जा रहे हैं। उन्हें यह देखकर अपार हर्ष हुआ और चैन की साँस आई।

कुछ देर पश्चात् देवराज इन्द्र बोले—"अब आप चलिये। नरक के जीव तो आप देख ही रहे हैं कि स्वर्ग में जा रहे हैं।"

पर राजा ने उत्तर दिया—"देवराज ! आप ही सोचिये कि जब मैं अपना समस्त पुण्य नरक के इन जीवों को दान कर चुका हूँ तो फिर किस बल पर स्वर्ग जाऊँगा ? मैं स्वर्ग नहीं जा सकता, यहाँ अकेला ही रहूँगा। आप संभवतः भूल में पड़ गए हैं, पर कर्मों के निर्णायक धर्मराज भूल नहीं कर सकते।"

अब तक धर्मराज चुप थे पर राजा की बात सुनकर वे मधुर स्मित के साथ बोले—"महाराज, अपने समस्त पुण्य का दान करके तो आपने और भी अधिक पुण्य-संचय कर लिया है। उसका फल भी तो आपको मिलना चाहिये अतः आप स्वर्ग पधारें। दिव्य लोक आपकी प्रतीक्षा कर रहा है।"

इस प्रकार उस पुण्यात्मा जीव ने अपने साथ असंख्य नारकीय जीवों का भी उद्धार कर दिया।

तो बंधुओ ! ऐसे-ऐसे उदाहरण और महापुरुषों के जीवन-चरित्र ही तो हमारे लिये आदर्श का काम करते हैं। उन भव्य पुरुषों और महान् पूर्वजों के गुणानुवाद हमारे मन में भी सद्गुण ग्रहण करने की प्रेरणा देते हैं। इसीलिए 'अंतगड़' जैसे

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

शास्त्र में पढ़े जाते हैं कि अज्ञानी और प्रमादी आत्माएं उनसे शिक्षा प्राप्त करके अपने जीवन को त्याग, तप एवं अन्य गुणों से युक्त बनाते हुए श्रेष्ठता को प्राप्त करें।

कवि भी आपको यही शिक्षा देते हुए कहता है—

कुछ पहलुओं पर तो गौर करो,
मत फूट बढ़ाकर शोर करो।
भूले हैं, उनको धीरे से समझाओ-
अब तो निज धर्म बचाओ।
अब फूट की होली तुम कर दो,
हम एक हैं यह बोली कर दो।
महाजन कहलाकर अब मत लोग हंसाओ
अब तो निज धर्म बचाओ।

कवि का कहना है—भाइयो ! अब आपस में रही हुई फूट को समाप्त करो और एक होकर सामाजिक एवं धार्मिक उत्थान किस प्रकार हो सकता है, इस पर विचार करो। जब तक आपसी वैमनस्य के कारण एक दूसरे पर छींटकसी करने में लगे रहोगे, तब तक तुम्हें अन्य कर्मों को करने के लिए वक्त कहां से मिलेगा ? इसलिए व्यर्थ की निंदा-बुराई और एक-दूसरे पर आक्षेप करना छोड़ दो तथा समाज की भलाई किस प्रकार हो सकती हैं, इस पर विचार करो, उन सब पहलुओं पर सोचो जो कि समाज और धर्म के उत्थान में आवश्यक है।

आज समाज में असंख्य ऐसे दीन व्यक्ति हैं, जो अपने होनहार बालकों को भी पैसे के अभाव में उच्च शिक्षा नहीं दिला सकते। ऐसे बालकों के लिए आपको छात्र-वृत्ति आदि का प्रबन्ध करना चाहिए। दूसरे हमारी अनेक बहनें ऐसी हैं जो अपना गुजारा नहीं कर पातीं तथा नाना कष्टों में घिरी रहकर जीवन यापन करती है। अपनी जाति और कुल की परम्परा व गौरव को रखने के कारण दूसरी जाति की औरतों के समान घर से बाहर निकलकर मेहनत मजदूरी नहीं कर सकती। ऐसी बहनों को उनकी प्रतिष्ठा रखते हुए आप गुजारे के साधन में जुटा दो और उसे सहारा दो। इसी प्रकार अनेक वृद्ध-दंपति भी समाज में होते हैं, जिनके कमानेवाला पुत्र नहीं होता या मर जाता है, उनको भी सहारा देना आवश्यक है तथा उनके लिये आश्रमों के समान किसी संस्था का निर्माण करना जरूरी है।

इसी प्रकार के समाज-कल्याण के कार्य आपको अवश्य करने हैं तथा अपने जैनत्व और जैनधर्म को दीप्त करना है। आपको शायद ध्यान होगा कि पहले जैन

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

समाज करोड़ों की संख्या में था किन्तु समाज ने उनका संरक्षण नहीं किया और इसके फलस्वरूप आज जैनियों की संख्या काफी कम हो गई।

आपके यहाँ नागपुर में भी जैनकलार जाति थी। वे जैन शब्द अब भी अपने लिये लिखते थे किन्तु धर्म को नहीं मानते। उनका खान-पान भी अब काफी दूषित हो गया है। भक्ष्याभक्ष्य का वे खयाल नहीं करते। तो, ऐसे व्यक्तियों को पुनः धर्म में दृढ़ करना भी आपका कर्तव्य है। उन्हें आपको प्रेम से तथा हृदय की सम्पूर्ण सरलता से समझाकर सही मार्ग पर लाना है।

आपमें से कुछ भाई कभी-कभी कहते हैं कि प्रतिदिन व्याख्यान सुनने से क्या लाभ होता है? इस विषय में शास्त्रों में बताया जाता है कि जिसका पुण्योदय होगा, वह उतना लाभ उठाएगा। अरे भाई! अगर सौ सुनने वाले बैठे हैं, और उनमें से एक भी कुछ ग्रहण करता है तो क्या नुकसान है? इसके अलावा हमारे लिए तो प्रवचन देना स्वाध्याय-तप ही है। हमारा क्या बिगड़ता है चाहे कोई भी उसे ग्रहण न करे।

सच्चे महाजन बनो

बंधुओ! आप लोग महाजन कहलाते हैं, वह इसलिए कि आपके पूर्वज सार्थवाह और महान् जन थे। महाजन कहलाना गौरव की बात है किन्तु केवल पूर्वजों के महान् कार्यों से ही आप अपने आपको महाजन समझकर गौरवान्वित अनुभव करें तो यह बात ढोल में पोल के समान होगी। हाँ, आप स्वयं अपने उत्तम कार्यों से महाजन बनें तो वह आपका उपार्जित धन और आपके लिए सही पदवी होगी।

कवि कहता है—भाई, तुम महाजन कहलाकर जग-हंसाई मत कराओ। यह कथन यथार्थ है। आखिर पूर्वजों के यश की खाल कबतक ओढ़ी जायेगी। अब वह जर्जर हो चुकी है अतः अब भी समय है, कि आप स्वयं अपने सद्गुणों से, उत्तम कार्यों से तथा दान, सेवा और परोपकार से नव-निर्माण करें तथा कीर्ति, यश और आगे के लिए पुण्य-संचय के रूप में कुछ स्वयं उपार्जित करें।

अपने पहनने के वस्त्र तो आप नित्य नए सिलवाते हैं, यहाँ तक कि बाप-दादों के समय की वस्तुओं को, वस्त्रों को और मकानों तक को आधुनिक समय के अनुकूल न मानकर बदल देते हैं और सभी कुछ नया बनवाते तथा खरीदते हैं। तो फिर महाजन-रूपी पदवी या वस्त्र नाम-मात्र का रह जाने पर भी क्यों नहीं अपने बाहुबल से, बुद्धि से, विवेक से तथा आत्म-विश्वास आदि से नया नहीं बनवाते? आप लोग कहा तो करते हैं कि पूर्वजों का धन चाहे कुबेर जितना भी क्यों न हो,

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

बैठे-बैठे खाया जाय तो खतम हो जाता है। इसी प्रकार पूर्वजों के कमाये हुए यश के लिए भी आपको विचार करना चाहिए कि आखिर वह कब तक आपका साथ देगा ? आप स्वयं तो कुछ करेंगे नहीं, और अपने पूर्वजों के उपार्जित यश से अपने पीछे महाजन आदि की पदवियाँ लगाते रहेंगे तो कब तक सचाई छिपी रहेगी ? आखिर तो लोग समझ ही जाएँगे कि आप अब नाम के महाजन रह गये हैं, स्वयं तो कुछ भी महान् या शुभ नहीं करते। और जब वे यह अनुभव करेंगे तो क्या वे आपका उपहास नहीं करेंगे ? क्या आपकी हँसी नहीं उड़ाएँगे।

इसलिए अब आवश्यक है कि लोग आपको महाजन कहते हुए हँसे या महाजन कहते हुए व्यंग करें, उससे पहले ही आप अपने उत्तम कार्यों से सच्चे महाजन बन जाएँ।

अन्त में मैं केवल यही कहना चाहता हूँ बंधुओ, कि पर्यूषण पर्व के इन पुनीत दिनों में तो कम से कम आप अपने एक वर्ष के शुभ-अशुभ कार्यों का हिसाब करें तथा आगे के लिए दृढ़तापूर्वक कुछ न कुछ नवीन त्याग, व्रत और नियमादि अपनाएँ।

मैं यह नहीं कहता कि आप सभी हमारे जैसे साधु बन जायँ। आप अपने सांसारिक कर्तव्यों को पूरा करें पर सच्चे श्रावक तो बनें। अगर श्रावक के बारह व्रत भी आप सच्चे मायने में ग्रहण करें तो आपके सांसारिक कार्यों में क्या ऐसी बाधा आती है ? कुछ भी नहीं उलटे यह तो मन को तसल्ली रहती है कि हम आत्म-कल्याण के मार्ग पर शनैः-शनैः कदम तो रख रहे हैं।

श्रावक का महत्व कम नहीं है। आप जानते ही हैं कि आनन्द श्रावक ने अपने श्रेष्ठ जीवन के बल पर ही अवधिज्ञान तक हासिल कर लिया था क्या वे साधु बने थे ? केवल आपके जैसे श्रावक ही तो थे। माता मरुदेवी ने हाथी पर बैठे-बैठे भी केवल ज्ञान पाया था। क्या वे साध्वी बनीं थीं ? नहीं।

मेरे कहने का अभिप्राय यही है कि श्रावक जीवन भी अगर श्रेष्ठता से यापन किया जाय तो आत्मा निर्मलता की ओर बढ़ती है तथा कर्मों से रहित होती जाती है यही तो हमारे जीवन का वास्तविक उद्देश्य है। और इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए व्यक्ति अगर इतना ही सदा स्मरण रखे कि यह संसार हमें एक दिन अवश्य छोड़ना है और मृत्यु अवश्यंभावी है, तो वह इसमें कभी आसक्ति नहीं रख सकता। निश्चय ही उसका मन सदा उदासीन और विरक्त रहेगा तथा उसकी आत्मा सदा के लिए इस संसार को त्याग देने के लिये विह्वल रहेगी। परिणाम यही होगा कि वह आत्मोत्थान के मार्ग पर बढ़ सकेगा और अपने उद्देश्य को पाकर रहेगा।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

इस भव्य प्राणी की आत्मा प्रतिपल अपने आपको बोध देती रहेगी कि अनन्त काल तो इस जगत में जन्म-मरण करते हुए व्यतीत हो गया और अब भी इस सर्वोत्कृष्ट मानव-देह को पाकर मैंने इसके छुटकारे का प्रयत्न न किया तो फिर कौन-सा जन्म लेकर इस संसार-सागर से पार उतरूंगा।

कवि बाजिद की आत्मा अपने आपको यही कह रही है—

झूठा जग जंजाल पड़्या तै फंद में,
छूटन की नहिं करत, फिरत आनंद में।
था में तेरा कौन, समाँ जब अंत का,
उबरन का ऊपाय सरण इक संत का।

पद्य में कहा है—अरे आत्मन्! इस जगत के झूठे जंजाल में तू पड़ा हुआ है और नाना कष्ट सहने पर भी इसके फंद से छूटने की कोशिश नहीं करता। इस थोड़े से जीवन को सब कुछ समझकर आनन्द से इसी में रम गया है, जैसे अब कभी यहाँ से जाना ही नहीं है। पर मैं कहता हूँ कि जब अन्त समय आ जाएगा तो तेरा कौन बनेगा? कभी भविष्य में बंधे हुए पाप कर्मों से छुटकारा दिलायेगा? कोई भी नहीं! इसलिए इस भव-सागर से उबरने का प्रयत्न कर और इससे पार होने के लिये संतों का आश्रय ले। संत ही तुझे सच्चा मार्ग सुझाएँगे और संसार से मुक्त होने का उपाय बताएँगे।

तो बंधुओ, जो भी भव्य प्राणी सीख को आत्मसात् करेगा तथा सत्संगति में रहकर सच्चे धर्म का मर्म समझेगा। वह निश्चय ही इस लोक और परलोक में सुखी बनेगा।

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य प्रवर श्री आनन्द ऋषि जी महाराज के
पावन अमृत महोत्सव प्रसंग पर

दो महत्वपूर्ण प्रकाशन

भावना योग : एक विश्लेषण

व्याख्याता—**आचार्य श्री आनन्द ऋषि**

संपादक—**श्रीचन्द सुराना 'सरस'**

'भावना' के स्वरूप लक्षण और भेद-प्रभेद आदि का शास्त्रीय और जीवन स्पर्शी **विशद विवेचन**।

श्वेताम्बर-दिगम्बर जैन ग्रन्थों के गंभीर अनुशीलन के साथ प्रस्तुत

छह खण्ड एवं परिशिष्ट युक्त

पृष्ठ लगभग ५०० **मूल्य : १०) रुपया**

●

आचार्य प्रवर श्री आनन्द ऋषि अभिनन्दन ग्रन्थ

[जैन विद्या एवं प्राकृत भाषा का ज्ञान कोष]

प्रधान संपादक—**श्रीचन्द सुराना 'सरस'**

धर्म, दर्शन, प्राकृत भाषा, जैन साहित्य, संस्कृति एवं इतिहास से सम्बन्धित लगभग १०० मूर्धन्य विद्वानों के शोधपूर्ण निबन्धों का महान संग्रह।

पृष्ठ संख्या : ८०० **मूल्य : ४०) रुपया**

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

संग्रहणीय साहित्य :

आनन्दप्रवचन भाग १ से ६	मूल्य ६) प्रत्येक भाग का
प्लाष्टिक कवर युक्त	मूल्य ८)
तीर्थंकर महावीर	मूल्य १०)
भावनायोग : एक विश्लेषण	मूल्य १०)
आनन्द वाणी	मूल्य ३)
आनन्द वचनामृत	मूल्य १)
जैन जगत के ज्योतिर्धर आचार्य श्री आनन्द ऋषि	मूल्य १)
चित्रालंकार काव्य : एक विवेचन	१)
संस्कार (उपन्यास)	१)

प्राप्तिस्थान

श्री रत्न जैन पुस्तकालय

पाथर्डी, (अहमद नगर—महाराष्ट्र)

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

प्रस्तुत कृति : विद्वानों की दृष्टि में

'आनन्द प्रवचन' को पढ़ते हुए सचमुच में एक आनन्दानुभूति होती है। इन प्रवचनों के माध्यम से भक्ति, त्याग, वैराग्य सद्भाव तथा सुसंस्कारिता की सुगंध समाज को मिलती है।

—मधुकर मुनि

श्रद्धेय आचार्य प्रवर के प्रवचनों में जीवन का गहरा बोध रहता है। उनमें किसी भी व्यक्ति, संप्रदाय एवं धर्म के प्रति किसी प्रकार का आक्षेप तथा विरोध नहीं रहता, अपितु समत्व, प्रेम एवं एकता का मधुर घोष रहता है। उनके प्रवचन जीवन को पवित्र तथा आत्मा को उन्नत बनाने वाले हैं। सामाजिक विषमताओं को दूर कर सद्संस्कार तथा भ्रातृभाव का विकास करने वाले हैं।

—महासती उमरावकंवर 'अर्चना'

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org

हमारे महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

- अध्यात्म दशहरा
- समाज स्थिति-दिग्दर्शन
- ज्ञान कुंजर-दीपिका
- अमृत काव्य-संग्रह
- तिलोक काव्य-संग्रह
- चन्द्रगुप्त के सोलहस्वप्न
- श्रमणसंस्कृति के प्रतीक
- संस्कार (उपन्यास)
- ऋषिसम्प्रदाय का इतिहास
- त्रिलोक शताब्दि अभिनन्दन ग्रन्थ
- आनन्द प्रवचन, भाग १
- आनन्द प्रवचन, भाग २
- आनन्द प्रवचन, भाग ३
- आनन्द प्रवचन, भाग ४
- जैन जगत के ज्योतिर्धर आचार्य प्रवर श्री आनंद ऋषि
- चित्रालंकार काव्य : एक विवेचन
- भावना योग : एक अनुशीलन
- तीर्थंकर महावीर
- आचार्य प्रवर श्री आनन्द ऋषि अभिनन्दन ग्रन्थ

प्राप्तिकेन्द्र

श्री रत्न जैन [illegible]

पाथ[illegible]ाष्ट्र)

Serving JinShasan
020148
gyanmandir@kobatirth.org

आवरण पृष्ठ के मुद्रक : भारती प्रिंटिंग प्रेस, आगरा-२

Jain Education International For Personal & Private Use Only www.jainelibrary.org